

CN
93

NOT

30

10/12

954.08

भारतीय इतिहास की रूप-रेखा

(आँग्ल-काल)

PROVINCIAL MUSEUM,
LIBRARY, LUCKNOW.

6-1
83

लेखक

श्रीराम त्यागी एम० ए०

आचार्य

कि० वि० इन्टर कालिज, माछरा (मेरठ)

तथा

महावीरसिंह त्यागी एम. ए (इतिहास तथा राजनीति)

कि० वि० इन्टर कालिज, माछरा (मेरठ)

गौतम बुक डिपो, देहली-मेरठ ।

प्रथम बार]

1950

[मूल्य ४)

प्रकाशक
गौतम बुक डिपो,
देहली-मेरठ ।

सर्वाधिकार सुरक्षित

954.08

मुद्रक
पी. बी. आई. प्रेस
देहली ।

विषय-सूचिका

अध्याय	विषय	पृष्ठ
१.	यूरोप का भारत के साथ व्यापारिक सम्बन्ध	१
२.	अंग्रेजी ईस्ट इण्डिया कम्पनी का जन्म	५
३.	पौरव्य में पश्चिमी जातियाँ	१०
४.	स्टुअर्ट तथा संरक्षण काल में कम्पनी तथा नवीन ईस्ट इण्डिया कम्पनी	१४
५.	नवीन ईस्ट इण्डिया कम्पनी	२३
६.	भारत में अंग्रेजी वस्तियों की वृद्धि (१७०८-४६ ई०)	३२
	आस्टेड कम्पनी	४०
७.	अंग्रेज और फ्रांसीसी	६५
८.	अन्तिम मुगल तथा मरहठे	७४
९.	अंग्रेजी राज्य का सूत्रपात	
१०.	बंगाल का पतन	८५
	सिराज उद्दौला तथा अंग्रेज	१००
११.	उत्तरी भारत में प्रवेश	१०३
१२.	हैदरअली का उत्कर्ष तथा प्रथम मैसूर युद्ध	
१३.	आर्थिक तथा राजनैतिक दृढ़ता (वारेनहेस्टिंग्ज़ १७७२-८४ ई०)	१०८
१४.	मैसूर विजय का सूत्रपात (लार्ड कार्नवालिस तथा सरजान शेर)	१३४
१५.	साम्राज्य वृद्धि का प्रथम युग लार्ड वेलेजली (१७६८-१८०५ ई०)	१४३
१६.	शान्ति का युग (१८०५-१३ ई०) लार्ड कार्नवालिस, सर जार्जबालों तथा लार्ड मिण्टो	१६३
१७.	साम्राज्य-वृद्धि का द्वितीय युग लार्ड हेस्टिंग्ज़ (१८४३-१८२३ ई०)	१६८
१८.	ब्रह्मा विजय का सूत्रपात (लार्ड एमहर्स्ट १८२३-२७ ई०)	१८०
१९.	सुधारकाल, लार्ड विलियम बैंकिंग (१८२-८३ ई०)	१८२
२०.	अफगान-समस्या (लार्ड आकलैंड तथा लार्ड वर्गलनबरा १८३८-४४ ई०)	१८८

२

२१. पंजाब विजय का सूत्रपात (लार्ड हार्डिंज: १८४४-४८ ई०)	१६३
२२. साम्राज्यवृद्धि का तीसरा काल (लार्ड डलहौजी : १८४८—५६)	२०१
२३. १८५७ की राज्य-क्रान्ति	२०८
२४. ब्रिटिश सम्राट् के आधिपत्य में भारत (केनिंग के शासन का अन्त)	२२२
२५. लार्ड एलगिन, लार्ड लारेंस तथा अफगानिस्तान के साथ सम्बन्ध	२२६
२६. अफगानिस्तान समस्या तथा आर्थिक सुधार (लार्ड मेयो)	२३६
२७. लार्ड नोर्थ ब्रुक तथा अफगानिस्तान-समस्या	२४३
२८. (अ) लार्ड लिटन तथा अफगानिस्तान (आ) द्वितीय अफगान-युद्ध (इ) लार्ड लिटन का शासन-प्रबन्ध	२५० २५८ २६६
२९. लार्ड रिपन तथा वैधानिक सुधार	२७२
३०. लार्ड डफरिन तथा सीमांत नीति	२७८
३१. लार्ड लेंस डौउन तथा 'आगे बढ़ो' नीति	२८७
३२. सामाजिक तथा शासन-सुधार (१८८५-९२) तथा इण्डियन-नेशनल काँग्रेस	२९६
३३. दुर्भिक्ष, महामारी तथा सीमान्त युद्ध	३०१
३४. (अ) लार्ड कर्जन तथा पश्चिमोत्तर सीमा-नीति (आ) तिब्बत-समस्या (इ) लार्ड कर्जन तथा आंतरिक शासन	३०६ ३१५ ३२३
३५. माले मिण्टो सुधार तथा इंग्लैंड और रूस का समझौता	३३२
३६. राज्याभिषेक दरबार तथा मॉटिंग्यू चेम्सफोर्ड सुधार	३४१
३७. द्वैत शासन तथा असहयोग आन्दोलन	३४८
३८. (क) साइमन कमीशन तथा गोलमेज कान्फ्रेंस (ख) १९३५ का संघ शासन	३५२ ३५७
३९. (क) प्रथम महायुद्ध के पश्चात् वैदेशिक सम्बन्ध (ख) द्वितीय महायुद्ध के पश्चात्	३६० ३६०

प्रथम अध्याय

(१) यूरोप का भारत के साथ व्यापारिक सम्बन्ध

प्राचीन व्यापारिक सम्बन्ध :—अतिप्राचीन काल में भारत का यूरोपियन देशों के साथ व्यापारिक सम्बन्ध था जिसका सुविस्तृत वर्णन प्रस्तुत पुस्तक के प्रथम भाग में किया जा चुका है। भारतवासियों के ऊपर यह लांछन कि 'वे सदा से गृह-प्रिय रहे हैं' सर्वथा निराधार है। आधुनिक अनुसन्धानों ने यह निस्सन्देह सिद्ध कर दिया है, कि मानव सभ्यता के आदिकाल में हिन्दू नाविक संसार में दूरस्थ प्रदेशों तक आते जाते थे; उन्होंने विदेशों में जाकर अपने उपनिवेश बसाये थे तथा भारतवर्ष व्यापार का केन्द्र बना हुआ था। यूरोप-निवासी भी भारत के साथ व्यापार करने की इच्छा से लालायित होकर यहाँ आते रहते थे। परन्तु सिकन्दर महान तथा उसके उत्तराधिकारी सेल्यूकस नाइकेटर के आक्रमणों के पश्चात् पन्द्रहवीं शताब्दी के लगभग अन्त तक कोई मुख्य यूरोपियन भारत में नहीं आया। निस्सन्देह तेरहवीं शताब्दी के अन्त में मार्कोपोलो नामक यात्री यहाँ पर अवश्य आया था, जिसके यात्रा-वर्णनों से उस काल की दशा का पता चलता है। अतिप्राचीन काल में टायर, सिकन्दरिया तथा कुस्तुनतुनिया क्रमशः पौरवत्य व्यापार की मण्डियाँ थीं। मध्यकाल में उनका स्थान इटली के वेनिस तथा जिनोवा आदि नगरों ने ले लिया था। यहाँ से यूरोप के उत्तरी प्रदेशों में व्यापारी भारतीय कला के उत्कृष्ट नमूने ले जाकर दूर २ प्रदेशों में वितरण करते थे।

जल-मार्ग की खोज :—मध्ययुग में तुर्क लोगों ने दक्षिणी पश्चिमी एशिया तथा दक्षिणी-पूर्वी यूरोप पर अपना आधिपत्य स्थापित करके भारत के साथ यूरोप के व्यापारिक स्थल-मार्ग को उनके लिए सर्वथा बन्द कर दिया। हमको याद रखना चाहिए कि उस काल में भारतवर्ष के साथ व्यापार स्थल-मार्ग से होता था। तुर्क लोगों की इस विजय ने भौगोलिक अनुसन्धान को बड़ा प्रोत्साहन दिया। भारत की प्राचीन ध्वज कीर्ति तथा उसकी अतुल धनराशि से लाभ उठाने की लालसा में यूरोप-निवासी भारत के जल-मार्ग की खोज में निकल पड़े। इनमें जिनोवा-निवासी क्रिस्टोफर कोलम्बस

ने १४६२ में भारत के लिये एक पश्चिमी जल-मार्ग की खोज के प्रयत्नों में पश्चिमी द्वीपसमूह तथा दक्षिणी अमरीका का पता लगाया। १४६७ में इंग्लैंड के व्यूडर राजा हैनरी सप्तम ने जॉन कैवट को, जिसका जन्म भी जिनोवा में हुआ था, अंग्रेजी नाविकों के साथ भेजा। उसने सबसे पहले जाकर न्यूफाउंडलैंड में अंग्रेजी झण्डा गाड़ा; परन्तु भारत के लिए नया जल-मार्ग खोज निकालने का श्रेय पुर्तगाल को है। १४९८ ई० से १४६० ई० तक अनेकों पुर्तगाली दक्ष नाविक राजकुमार हैनरी 'मल्लाह' से प्रोत्साहित होकर अफ्रीका के पश्चिमी तट पर धीरे २ दक्षिण की ओर बढ़ते रहे। १४८६ ई० में नार्थोलो डियाज़ के जहाजों को एक तूफान आशा अन्तरीप के नीचे दूर बहा ले गया। इससे अगले वर्ष कोविलहम का पेड्रो स्थल-मार्ग से मालाबार तट पर आ पहुँचा और वहाँ से हिन्द महासागर की खोज की। इन सब प्रयत्नों के फलस्वरूप १४९८ ई० में वास्को-डा-गामा आशा अन्तरीप का चक्कर लगाकर हिन्द महासागर को पार करके भारतीय तट पर कालीकट के निकट लंगर डालने में सफल हुआ।

व्यापारिक वंटवारा :—पौरव्य प्रदेशों के साथ सोलहवीं शताब्दी में व्यापार पर पुर्तगाल का एकाधिकार रहा। इस एकाधिकार को समकालीन पोपों ने मान्यता प्रदान की थी। क्योंकि नवीन प्रदेशों का पता लगाने में पुर्तगाल तथा स्पेन सबसे आगे थे, और उनमें पारस्परिक झगड़े इन प्रदेशों के ऊपर होने लगे थे। इन पारस्परिक झगड़ों का अन्त करने के लिए १४९३ ई० में पोप अलैक्जेंडर षष्ठ ने अपनी एक विशेष आज्ञा प्रकाशित की, इसके द्वारा वर्ड अन्तरीप के निकटवर्ती द्वीपों से १११० मील पश्चिम-दक्षिण की ओर एक काल्पनिक रेखा खींची हुई मानी गई, और यह निर्धारित किया गया कि इस रेखा से पूर्व की ओर समस्त अज्ञात प्रदेशों पर पुर्तगाल का आधिपत्य होगा तथा रेखा के पश्चिमस्थ प्रदेशों पर स्पेन का। कैथोलिक संसार में पोप की विज्ञप्ति अन्तर्राष्ट्रीय नियम की मान्यता रखती थी और प्रोटैस्टैण्ट देश लगभग एक शताब्दी तक इतने शक्तिशाली नहीं थे जो इसका विरोध करते। इंग्लैंड तथा हालैंड अब भी उत्तर-पश्चिम तथा उत्तर-पूर्व की ओर से भारत के लिए नवीन जल-मार्ग खोजने के लिए प्रयत्नशील थे और इस सिलसिले में उनको अनेकों वीर एवं उत्साही नाविकों की बलि देनी पड़ी, परन्तु फिर भी सफलता प्राप्त न हो सकी, और अन्त में उनको भी

• पुर्तगाल-वासियों द्वारा इसी प्रशस्त जल-मार्ग से भारत आने के लिए बाध्य होना पड़ा।

पुर्तगाल का भारतीय व्यापार :—लगभग एक शताब्दी तक पुर्तगाल का पूर्वी प्रदेशों के साथ निर्विरोध व्यापार चलता रहा। अब उनके पोत फारिस की खाड़ी में स्थित उर्मूज नामक बन्दरगाह से चल कर मलक्का तथा मसाले के टापुओं तक पहुँचते थे। १५१० ई० में गोआ पर उनका अधिकार स्थापित हो गया। अफ्रीका के पूर्वी तट पर किलोआ, मोम्बासा तथा मेलिन्दे, फारिस की खाड़ी में उर्मूज में, मालाबार तट पर डामन, ड्यू एवं कोचीन में तथा मलक्का में उन्होंने अपनी फैक्टरी स्थापित की और उनकी किलेबन्दी भी कर ली। पुर्तगाली प्रभुता के इस काल के तीन महा-पुरुषों के नाम विशेषतया उल्लेखनीय हैं। वास्को-डा-गामा, आल्मीडा (१५०५-६) तथा अल्बुकर्क (१५०६-१५)। भारत के साथ इस व्यापार ने पुर्तगाल को मालामाल कर दिया और उसके नरेशों की धाक समस्त यूरोप में बिठा दी थी, परन्तु पुर्तगाल के भाग्य में भारत में चिरस्थायी राज्य स्थापित करना नहीं लिखा था। ब्राजील की खोज के पश्चात् पुर्तगाल की शक्ति का एक बड़ा भाग उसमें लग गया। ह्यूइट ने 'भारत में पुर्तगाली शक्ति का उत्थान' नामक पुस्तक में लिखा है "पुर्तगाल पौरवत्य में सबसे पहला चोर था और पौरवत्य ने चोर को अपने में मिला कर तथा उसकी मान-हानि कर चोरी के प्रति अपनी घृणा का परिचय दिया।"

पुर्तगाली लोग समुद्री डाकू भी थे और उनको जितना लाभ न्याय्य-व्यापार से होता था उतना ही अरब के व्यापारियों को लूट कर होता था। भारतवासियों के साथ विशेषकर मुसलमानों के साथ उनका व्यवहार बड़ा नीच तथा क्रूर होता था। मुसलमानों को ये लोग बलात् ईसाई बनाते थे; पुर्तगाल की इस शक्ति को यूरोप के उत्तरी प्रोटेस्टैण्ट प्रदेशों की शक्ति के सम्मुख घुटने टेकने पड़े। यदि पुर्तगाल को इङ्ग्लैंड, हालैंड तथा फ्रांस की प्रतिस्पर्धा का शिकार न भी होना पड़ता तो भी यह निश्चय रूप से नहीं कहा जा सकता कि मुगल साम्राज्य को दक्षिण विजयों या दक्षिण भारत में हिन्दू पुनरुत्थान के विरोध में वह अपनी सत्ता को सुस्थिर बनाये रखने में सफल हो जाता।

राज का अन्य जातिशों के अन्वेषण :—सोलहवीं शताब्दी के

अन्त तक यह निर्विवाद निश्चय हो गया था कि यूरोप से उत्तर-पश्चिम वा उत्तर-पूर्व से होकर कोई व्यवहारिक जल-मार्ग सुलभ नहीं था। अंग्रेजी नाविक होर, विलोवी, डेविस तथा हालैंड-निवासी वैरेन्टस की सामुद्रिक यात्रायें सर्वथा निष्फल नहीं रहीं। होर १५३६ ई० में न्यूफाउण्डलैंड जा पहुँचा। विलोवी ने नोवा जेम्बला का पता लगाया और रूस के उत्तरी तट की खोज की। इस खोज के परिणामस्वरूप मस्कोवी (रूसी) कम्पनी का जन्म हुआ, जिसके द्वारा इंगलैंड फारिस के साथ स्थल-मार्ग से व्यापार करने लगा। १५१६-२१ में एक स्पेनी नाविकों का जत्था पश्चिमी जल-मार्ग से चल कर पूर्वी द्वीपसमूह पहुँचने में सफल हुआ। इस जत्थे का कमाण्डर फर्डिनेण्ड मैगलन था।

इंगलैंड तथा हालैंड ने भूगोलिक, धार्मिक एवं राजनीतिक कारणों से बाध्य होकर पोप की आज्ञा को सदा के लिए शिरोधार्य करने से इन्कार कर दिया। उत्तर-पश्चिम की ओर से उनको कोई जल-मार्ग प्राप्त नहीं हो सका था। दूसरे यूरोप में धर्म-सुधार की लहर जोर मार रही थी और इंगलैंड तथा हालैंड ने पोप की सत्ता में अविश्वास करना आरम्भ कर दिया था। तीसरे १५८० ई० में स्पेन ने पुर्तगाल को हड़प लिया था। स्पेन की इस प्रकार बढ़ती हुई शक्ति उनके लिये असह्य थी। १३८६ ई० की वेस्ट-मिन्स्टर की सन्धि के पश्चात् इंगलैंड का पुर्तगाल के साथ बड़ा मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध चला आ रहा था तथा संयुक्त निम्न प्रदेश--आधुनिक हालैंड तथा बेल्जियम पुर्तगाल के बन्दरगाह लिस्बन के साथ स्वतन्त्रतापूर्वक व्यापार करते रहे थे। लिस्बन से पौरवर्त्य प्रदेशों का सामान एन्टीवर्प जाता था और वहाँ से उत्तरी यूरोपियन प्रदेशों में उसका वितरण हो जाता था। १५८० ई० के पश्चात् पुर्तगाल का यह बन्दरगाह, जिस पर अब स्पेन के राजा फिलिप द्वितीय का अधिकार था, विद्रोही निम्न प्रदेशों के लिए बन्द कर दिया गया और उधर इंगलैंड की महारानी एलिजाबेथ अंग्रेजी जनता तथा व्यापारी समुद्री डाकुओं के कारण स्पेन से खुल्लमखुल्ला शत्रुता रखने लगी थी। १५७६ ई० में फ्रांसिस ड्रेक संसार का चक्कर लगाता हुआ दक्षिणी-पश्चिमी जल-मार्ग से मोलुकाज या मसाले के टापुओं में जा पहुँचा और टरनेट के सरदार के साथ सन्धि कर ली। इसके पश्चात् इंगलैंड तथा हालैंड ने मिल कर पुर्तगाल का विरोध करना आरम्भ कर दिया। १६०७ ई० में स्पेन ने हालैंड तथा बेल्जियम से इस शर्त पर अपना अधिकार हटाने का वचन भी

दे दिया था कि डच लोग पूर्वी द्वीपसमूह की अपनी जल-यात्राओं को त्याग दें। इंगलैंड तथा हालैंड दोनों ने एक साथ पुर्तगाल के एकाधिकार पर आक्रमण किया; परन्तु इस समय यह निश्चित नहीं था कि दोनों शक्तियों में से कौन-सी शक्ति सर्वोच्चता प्राप्त करने में सफल होगी। दोनों देशों की ईस्ट इण्डिया कम्पनी कुछ समय के आगे-पीछे स्थापित की गई थीं। अंग्रेजी कम्पनी की स्थापना यद्यपि पहले हुई थी, परन्तु अनेकों वर्षों तक यह शक्ति एवं समृद्धि में हालैंड की कम्पनी से पिछड़ी रही। सत्रहवीं शताब्दी के आरम्भिक वर्षों में दोनों देशों ने पुर्तगाल के कट्टर विरोध का सामना किया, परन्तु पुर्तगाली विरोध के समाप्त होने पर दोनों शक्तियाँ एक दूसरे से जुझने लगीं। दोनों ही भारतवर्ष की अपेक्षा सुदूर पूर्व तथा मलाया द्वीप-समूह पर अधिकार स्थापित करने के इच्छुक थे, परन्तु डच लोग अंग्रेजों को इन स्थानों से निकाल भगाने में सफल हुए। इस प्रकार बाध होकर अंग्रेजों का ध्यान भारत की ओर आकृष्ट हुआ, जिसका अधिकार भविष्य में चल कर समस्त पौरव्य के आधिपत्य की कुन्जी सिद्ध हुआ। डच लोगों की भारतीय शक्ति का हार यूरोप के रण-क्षेत्रों में हो गया था। हालैंड में पौरव्य-स्थित अधिकार अब तक बड़े विस्तृत तथा महत्वपूर्ण रहे हैं। भारतवर्ष में अंग्रेजों ने सत्रहवीं शताब्दी में डच-शासन-प्रणाली का अनुसरण किया था।

दूसरा अध्याय

अंग्रेजी ईस्ट इण्डिया कम्पनी का जन्म

व्यक्तिगत भारत-यात्रायें :—सबसे पहला अंग्रेज, जो भारत-भूमि पर आकर कुछ समय तक रहा, टामस स्टीफेन्स था। वह १५७९ ई० में गोआ जेसुइट विश्वविद्यालय का रैक्टर नियुक्त किया गया था। यहाँ से उसने जो पत्र अपने पिता को लिखे थे उनका इंगलैंड की जनता पर बड़ा प्रभाव पड़ा। इंगलैंड की जनता में भारत से सीधा सम्पर्क स्थापित करने की भावना जागृत हो उठी। १५८३ ई० में दो अंग्रेज व्यापारी क्लिच तथा न्यूवेरी स्थल-मार्ग से भारत आये। उनके साथ लीड्स नामक एक जौहरी तथा स्टोरी नामक एक चित्रकार भी आये थे। पुर्तगालियों ने उनको उमूर्ज में बन्दी बना लिया और पकड़ कर गोआ लाये। बन्दीगृह से छुटकारा पाकर स्टोरी तो साधु

बन गया, लीड्स ने मुगल सम्राट् के यहाँ नौकरी कर ली। न्यूवेरी को इंग्लैंड वापिस जाते में देहान्त हो गया परन्तु फिच ब्रह्मा, मलक्का तथा लंका में जोखिम पूर्ण यात्रा करता हुआ १५९१ में निर्विघ्न इंग्लैंड जा पहुँचा। फिच की इस सफल यात्रा ने अंग्रेजों को पौरवत्य प्रदेशों की खोज करने तथा उनके साथ व्यापार करने के लिए प्रोत्साहित किया।

पूर्वी व्यापार की आज्ञा तथा कंपनी का जन्म :—यद्यपि महारानी एलिज़ाबेथ स्वेन सम्राट् फिलिप से शत्रुता मानती थी, तथापि इससे पहले वह खुल्लम-खुल्ला अपनी शत्रुता घोषित करना नहीं चाहती थी। परन्तु १५८८ ई० में स्पेनी आरमेडा को पराजय के पश्चात् महारानी ने भी अपनी नीति में समयोचित परिवर्तन किया। फलस्वरूप कुछ व्यापारियों को आशा अन्तरीप के मार्ग से जलयान करने की आज्ञा प्रदान की गई। १५९१ ई० में जेम्स लंकास्टर कोमोरिन अन्तरीप तथा मलाया प्रायद्वीप आ पहुँचा। यद्यपि बेड़े का कमाण्डर जार्ज रेमोण्ड अपने पोत सहित जलमग्न हो गया। जब लंकास्टर इंग्लैंड वापिस जा रहा था तो एक भयंकर भूभावात के कारण उसका जहाज़ ब्राजील तथा पश्चिमी द्वीपसमूह के तट पर जा पहुँचा। वहाँ उसके मल्लाहों ने झगड़ा कर दिया और उसके जहाज़ को ले गये। वहाँ से बेचारा लंकास्टर एक फ्रांसीसी जहाज़ में मई १५९४ में इंग्लैंड पहुँचा। १५९६ में सर राबर्ट डडले ने तीन जहाज़ों का एक जत्था वेन्जामिन बुड की अध्यक्षता में रवाना किया परन्तु उसका कोई पता नहीं लगा। १५९९ में जॉन मिडनॉल नामक साहसी व्यापारी स्थल-मार्ग से भारत पहुँचा। महारानी एलिज़ाबेथ ने उसको एक पासपोर्ट प्रदान किया था। उसने पूर्वी प्रदेशों में सात वर्ष व्यतीत किए। वह मुगल सम्राट् अकबर के दरबार आगरे में भी गया। उसकी अनुपस्थिति में ईस्ट इण्डिया का जन्म हो चुका था।

प्राचीन टर्की कम्पनी को, जिसकी स्थापना १५८१ में हुई थी, १५९३ में स्थल-मार्ग से पूर्वी द्वीप-समूह तक व्यापार करने की आज्ञा दे दी गई थी और लेवान्ट कम्पनी नाम रख दिया गया था; परन्तु व्यापारिक मार्ग की ऐसी कठिनाइयाँ थीं कि कोई विशेष लाभ नहीं हुआ। इसलिए लेवान्ट कम्पनी के दो प्रमुख सदस्यों ने अन्य कतिपय सदस्यों के साथ आशा अन्तरीप के मार्ग से भारतवर्ष जाने के लिए धन एकत्रित किया। इनसे पहले हुटमैन नामक एक डच १५९६ में इसी मार्ग से सुमात्रा जा चुका था। उसके उदाहरण से इनको बड़ा प्रोत्साहन मिला। २४ सितम्बर १५९९ को यह लोग

एकत्रित हुए और ३०१३३ पौंड ३ शिलिंग तथा ८ पेंस की धन-राशि एकत्रित करके महारानी एलिजाबेथ से व्यापार का आज्ञापत्र प्राप्त करने के लिए प्रार्थना की। परन्तु इस समय अंग्रेजी सरकार तथा स्पेनी सरकार में पारस्परिक समझौते की बात चल रही थी, इसलिए कतिपय व्यापारियों की प्रार्थना को स्वीकार करके शान्ति को सम्भावना को जोखिम में डालना उचित नहीं समझा गया। परन्तु दूसरे वर्ष जब सन्धि की सब आशाएँ विलीन हो गईं तो इन लोगों को अपने उद्देश्य की पूर्ति का अच्छा अवसर प्राप्त हुआ। इसलिए एक वर्ष पश्चात् अर्थात् २३ सितम्बर १६०० को ये साहसी व्यापारी फिर फाउंडर्स हाल में एकत्रित हुए। अब इन्होंने पहले की अपेक्षा धन भी अधिक मात्रा में एकत्रित कर लिया था। उन्होंने अपने पोत मोल ले लिए। उन्होंने पौर्वत्य प्रदेशों के केवल उन भागों में व्यापार करने की आज्ञा प्राप्त करने की प्रार्थना की जहाँ पर स्पेन या पुर्तगाल का किसी प्रकार का भी आधिपत्य का अधिकार नहीं था। इस प्रकार इन अंग्रेजी व्यापारियों ने पोप-आज्ञा का सर्वथा तिरस्कार कर केवल सक्रिय अधिकार नियम को मान्य ठहराया। एलिजाबेथ ने इन्हें आज्ञा दे दी और ३१ सितम्बर १६०० को ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना गवर्नर तथा पूर्वी द्वीप-समूह में व्यापार करने वाली लन्दन व्यापारियों की कम्पनी के नाम से हुई। चन्दा करने वालों की संख्या २१७ थी। आज्ञापत्र में गवर्नर स्माइल तथा २४ समिति-सदस्यों के नाम मनोनीत किए गये, जिनका इनके पश्चात् प्रतिवर्ष निर्वाचन होने का था। कम्पनी को पन्द्रह वर्ष तक भारतवर्ष के साथ अनन्य व्यापार करने का अधिकार दिया गया था। एशियाई देशों में विराट् साम्राज्य स्थापित करने का यह प्रथम पग था। यहाँ पर इन साहसी व्यापारियों की कठिनाइयों का सिंहावलोकन करना न्याय-गत होगा। इस प्रारम्भिक पग के उठाने के लिए अदम्य साहस की आवश्यकता थी। पौर्वत्य प्रदेशों का इन व्यापारियों को समुचित ज्ञान नहीं था। फिच तथा स्टोफेन्स की रिपोर्ट और लिंशोटन नामक एक डच यात्री के उल्लेखों का अनुवाद, जो १५८३ ई० से १५८६ ई० तक गोआ में रहा था, एकमात्र उनका आधार था। स्पेन के साथ १६०४ ई० तक शान्ति स्थापना नहीं हुई थी और वे भली प्रकार समझते थे कि उनको स्पेन तथा पुर्तगाल-निवासियों के साथ भयंकर टक्कर लेनी पड़ेगी। पुर्तगाली गत एक शताब्दी से भारतीय सागरों पर अपना पूर्ण नियंत्रण जमाये हुए थे ही। यद्यपि संयुक्त डच कम्पनी की स्थापना १६०२ ई० से पूर्व न हो पाई

थी, तथापि निम्न प्रदेशों की अनेकों प्रांतीय कम्पनि तथा १६०१ ई० के बीच ६५ जहाजों के लगभग पन्द्रह जत्थे भेज चुकी थीं ।

प्रारम्भिक कठिनाइयां :—उपरोक्त से यह भली प्रकार सिद्ध हो जाता है कि लन्दन ईस्ट इण्डिया कंपनी के सम्मुख एक बड़ा कठिन कार्य था । इसको भारतीय सागरों तथा तटों की खोज करना तथा उसके मानचित्र तैयार करना था, अपनी व्यापार-प्रणाली निर्धारित करनी थी, व्यापारिक सामान का प्रयोग एवं अनुभव प्राप्त करना था और था उनको सुयोग्य कर्म-चारियों का दल तैयार करना । इनके अतिरिक्त उनको इंग्लैंड की प्राचीन कट्टर कैथोलिक शत्रु तथा नवीन प्रोटेस्टैंट प्रतिस्पर्धी से टक्कर लेना भी था । उधर इंग्लैंड में भी अपनी स्थिति को दृढ़ करना था । व्यक्तिगत प्रयास के आधार पर ईस्ट इण्डिया कंपनी प्रथम सुव्यवस्थित प्रयत्न था । पुर्तगाल व्यापारियों की सफलता का प्रधान कारण यह था कि उनको राजकीय सहायता प्राप्त थी । डच कंपनी की पीठ पर उसकी रक्षा करने के लिए निम्न प्रदेशों की रियासतें थीं जिन्होंने इस कंपनी को स्पेन निवासियों से अपनी प्राचीन शत्रुता का प्रतिशोध लेने के लिए एक अस्त्र बना लिया था । परन्तु इंग्लैंड के पौरव्य के साथ व्यापार करने में इन प्रारम्भिक प्रयत्नों को राजसत्ता की ओर से कोई सक्रिय सहायता प्राप्त नहीं थी । एलिज़ाबेथ ने इसको व्यक्तिगत साहस पर ही छोड़ दिया था । ईस्ट इण्डिया कंपनी का पालन-व्यक्तिवाद के उत्साही वातावरण में हुआ, इसमें संदेह नहीं है । सोना-चांदी का किसी भी रूप में देश से बाहर जाना उस समय मनुष्यों की दृष्टि में देश को दरिद्र करना था । इंग्लैंड में निर्यात-सम्बन्धी बड़े भ्रमात्मक सिद्धान्त प्रचलित थे । इसलिए कंपनी को इन कट्टर विरोधियों का भी सामना करना था । इस प्रकार हम देखते हैं कि कंपनी को व्यापारियों साहस का ही आश्रय था और व्यापारी लोग अपनी पूंजी पर अल्प काल ही बृहत् लाभ उठाने के इच्छुक होते हैं । कंपनी की भारतवर्ष के साथ व्यापारिक यात्राएँ बहुधा लाभप्रद ही सिद्ध होती थीं परन्तु भयंकर हानि की भावना भी सदा ही बनी रहती थी । यदि भयानक तूफान तथा शत्रु के आक्रमण से सुरक्षित भी रह जायें तो भी एक जहाज को इंग्लैंड से भारत पहुँच कर वापिस लौटने में कम से कम दो वर्ष अवश्य लग जाते थे । प्रारंभ व्यापारी लोग अलग २ जहाजी जत्थे भेजा करते थे । इसलिए सबको लाभ या हानि का ठीक २ निश्चय नहीं हो सकता था । पचास वर्ष के अनुभव

के पश्चात् आधुनिक ढ़ंग पर कंपनी का ज्वाइंट स्टाफ स्थापित किया गया ।

प्रथम व्यापारी यात्रायें :—कम्पनी की प्रथम यात्रा में भाग्य देव ने साथ दिया । जेम्स लंकास्टर की अध्यक्षता में १३ फरवरी १६०१ को पांच जहाजों ने इंग्लैंड से प्रस्थान किया और सुमात्रा में पहुँच कर वहाँ के राजा को महारानी एलिजाबेथ का एक पत्र दिया । वन्तम में अपनी एक फैक्टरी स्थापित करके तथा पुर्तगाल के एक बड़े जहाज को, जिसमें बहुमूल्य सामान लदा था, पकड़ कर लंकास्टर १६०३ के सितम्बर मास में वापस इंग्लैंड लौट आया । इस प्रकार पूर्वी द्वीपसमूह से व्यापार आरम्भ हुआ । १६०८ ई० में कप्तान हाकिंस के नेतृत्व में अंग्रेज व्यापारी सूरत पहुँचे और वहाँ से आगे जाकर मुगल सम्राट् जहाँगीर से भेंट की । जहाँगीर ने हाकिम का अच्छा स्वागत किया तथा उसको सूरत में बसने की आज्ञा प्रदान की । परन्तु अभी तक पुर्तगालियों का भारतवर्ष में पर्याप्त प्रभाव का और उन्होंने इस राजाज्ञा को रद्द करा दिया । इसलिये १६१२ ई० में एक अंग्रेजी जहाज में वह इंग्लैंड लौट आया ।

१६१२ ई० तक भारत भूमि पर अंग्रेजों को कोई स्थायी स्थान प्राप्त नहीं हुआ था । पूर्वी द्वीपों में उनकी स्थिति डच शक्ति की अपेक्षा कहीं अधिक निर्बल थी और अरब सागर में उन्होंने भारतीय जहाजों को लूट कर अपनी व्यापारिक कीर्ति को बड़ी क्षति पहुँचाई । परन्तु पौरव्य व्यापार से उसे बड़ा लाभ हो रहा था जिसके फलस्वरूप इंगलिश सम्राट् तथा पार्लियामेन्ट ने १६०६ में कम्पनी को दूसरी बार आज्ञा-पत्र प्रदान किया था । इसद्वारा कम्पनी को सदा के लिए व्यापार करने की आज्ञा दे दी गई थी । परन्तु यह शर्त लगा दी गई थी कि यदि उससे देश को हानि होगी तो तीन वर्ष का नोटिस देकर कम्पनी को समाप्त कर दिया जायगा । अब कम्पनी की स्थिति पहले की अपेक्षा अधिक सुदृढ़ हो चली थी । अब अनेकों कुलीन वर्ग के मनुष्य भी इसके सदस्य बन गये थे । परन्तु कम्पनी नवीन कठिनाइयों के क्षेत्र में पदार्पण कर रही थी । भारत-भूमि पर अपने पैर जमाने के लिये उनको अभी पुर्तगालियों से, और पूर्वी द्वीप-समूह तथा मलाया प्रदेश पर अधिकार प्राप्त करने के लिए, जिसको उस समय स्वर्णिम देश कहा जाता था, डच लोगों से भयंकर युद्ध करने थे । इनके अतिरिक्त कम्पनी को अंग्रेजी सम्राटों को अनियमित नीति, चोरी से व्यापार

करने वाले व्यापारियों के संकट, गृह-युद्ध तथा सार्वजनिक घृणा आदि अनेकों आपत्तियों के कारण कम्पनी को एक शताब्दी तक बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा।

तीसरा अध्याय

पौरव्य में पश्चिमी जातियाँ

व्यापारिक संघर्ष :—सत्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में भारतवर्ष में यूरोप की तीन प्रमुख नाविक जातियाँ अपना २ व्यापारिक प्रभुत्व स्थापित करने के लिए प्रयत्न कर रही थीं। ये तीन जातियाँ थीं अंग्रेज, डच तथा पुर्तगाली। पुर्तगाली लोग जैसा कि पहले अध्याय में वर्णन किया जा चुका है, भारतवर्ष में आने वाले सर्वप्रथम यूरोपियन व्यापारी थे। यहाँ पर हम इन तीनों प्रतिस्पर्धी व्यापारिक जातियों के पारस्परिक सम्बन्ध एवं संघर्ष का सिंहावलोकन करेंगे। यह संघर्ष तीन प्रकार का था। पुर्तगालियों तथा डचों का संघर्ष; पुर्तगालियों और अंग्रेजों का संघर्ष और अंग्रेजों तथा डचों का संघर्ष।

डच पुर्तगीज संघर्ष :—पुर्तगालियों तथा डचों के संघर्ष से हमारा यहाँ पर विशेष सम्बन्ध नहीं है। इस सम्बन्ध में यहाँ पर इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि डच लोगों ने १६०५ ई० में पुर्तगालियों से अम्बोयना छीन लिया और धीरे २ मसाले के टापुओं से उनको निकाल बाहर किया। १६३६ ई० में उन्होंने गोआ का घेरा डाला, १६४१ में मलक्का पर अधिकार कर लिया और १६५८ में पुर्तगालियों के लंका में अन्तिम गढ़ पर भी अधिकार कर लिया। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि १६६४ ई० तक डच लोगों ने अपने पुर्तगाली प्रतिद्वन्द्वियों को मालाबार तट से उखाड़ फेंका था।

अंग्रेज पुर्तगीज संघर्ष :—स्पेन तथा इंगलैंड में १४०४ ई० में सन्धि हो गई थी। परन्तु इस सन्धि का प्रभाव इण्डीज में कुछ नहीं हुआ, यद्यपि सन्धि की शर्तों तथा अपने व्यापारिक आज्ञा-पत्र के कारण अंग्रेजों को पुर्तगाली स्थानों पर अधिकार करने की मनाही हो गई थी; क्योंकि स्पेन तथा पुर्तगाल के राज्य १५८० ई० से १६४० ई० तक संयुक्त हो गये थे। १६११ ई० से १६१५ ई० तक कई बार अंग्रेजी बेड़े ने पुर्तगाली जहाजों को परास्त किया। इन पराजयों के परिणामस्वरूप भारतवर्ष के पश्चिमी तट से

पुर्तगालियों की साथ सर्वथा उठ-सी गई थी, तथा भारतीय शक्तियाँ यह समझने लगीं थीं कि अंग्रेज ही पुर्तगालियों के उत्तराधिकारी होंगे। १६२२ ई० में अंग्रेजों ने फारिस के शाह से मिल कर पुर्तगालियों से उमूँज खीन लिया। अब से आगे पुर्तगाल इंग्लैंड का भयानक प्रतिस्पर्धी नहीं रहा। १६३० ई० की मेडिड सन्धि के अनुसार यह निश्चित हुआ कि पौर्वत्य में इंग्लैंड तथा पुर्तगाल कोई युद्ध न करें। परन्तु इससे भी अधिक प्रमुख बात यह हुई कि सूरत के अंग्रेज प्रेजीडेण्ट मैथवालड तथा गोआ के वाइसराय में १६३४ ई० में एक सुलहनामा हुआ जिसने इंग्लैंड तथा पुर्तगाल के पारस्परिक व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित कर दिए। १६४० ई० में पुर्तगाल के स्पेन से स्वतन्त्रता प्राप्त करने पर इंग्लैंड तथा पुर्तगाल की शत्रुता और भी कम हो गई और दोनों देशों में प्राचीन मैत्री पुनर्स्थापित हो गई। १६४२ ई० में इंग्लैंड के राजा चार्ल्स प्रथम तथा पुर्तगाल के राजा जॉन चतुर्थ ने दोनों देशों के बीच स्वतन्त्र व्यापार की प्रथा को स्थापित किया। क्रामवैल ने १६५४ ई० में पुर्तगाल के साथ सन्धि करके इंग्लैंड के लिए पौर्वत्य के साथ निर्विघ्न व्यापार करने का अधिकार प्राप्त किया। इसके पश्चात् १६६१ ई० में इंग्लैंड के सम्राट् चार्ल्स द्वितीय ने ब्रोगेन्जा की कैथेराइन से विवाह किया और दहेज में बम्बई उसको मिला। बम्बई को चार्ल्स ने कम्पनी के हाथ बेच डाला था। उधर उसने भारत में पुर्तगालियों के अधीनस्थ स्थानों की डच लोगों से रक्षा करने का भार अपने ऊपर ले लिया।

इङ्गलिश डच संघर्ष :—यूरोप में इंग्लैंड तथा हालैंड में अधिक शत्रुता प्रतीत नहीं होती थी, परन्तु पूर्वी देशों में इंग्लैंड की शत्रुता डच लोगों के साथ पुर्तगीज की शत्रुता की अपेक्षा कहीं अधिक भयंकर हो रही थी। इसका मुख्य कारण यह था कि अंग्रेजों ने बहुत पहले ही यह सोच लिया था कि पुर्तगालियों की अपेक्षा डच लोग उनके अधिक कट्टर शत्रु हैं। उधर डच लोग भी पूर्व में अंग्रेजों को देखकर बड़े दुःखी थे। पुर्तगीज अधिकारों पर उनके आक्रमण स्पेन के निरंकुश शासन से स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए संघर्ष के एकमात्र अंग थे। सर विलियम हंटर अपनी 'हिस्ट्री आफ ब्रिटिश इण्डिया' में कहता है—“हालैंड ने अपने स्थलीय संघर्ष को सफल सागरीय संघर्ष में परिवर्तित कर दिया।” उसने सुदूर पूर्व को इस युद्ध का रण-क्षेत्र बना लिया था और वह नहीं चाहता था कि कोई तीसरा प्रतिद्वन्द्वी उनके विजय-फलों का रसास्वादन करे। १६०७ ई० में स्पेन हालैंड को

यूरोप में स्वतन्त्रता प्रदान कर उसको भारतवर्ष से बाहर निकाल कर अपनी शक्ति सुदृढ़ करना चाहता था, परन्तु इंगलैंड के साथ बारह वर्ष के लिए संधि करने पर उसको बाध्य होना पड़ा। अब डच लोग अंग्रेजों के प्रति अपनी शत्रुता का प्रदर्शन करने के लिए स्वतन्त्र थे और उन्होंने मोलुक्काज पर अपना एकाधिकार स्थापित करने के प्रयत्न आरम्भ कर दिए। मोलुक्काज पर अपने एकाधिकार का आधार वह यह बतलाते थे कि उसको उन्होंने पुर्तगीज से विजय किया था। दोनों जातियाँ एक दूसरे की शक्ति को नष्ट करके देशीय शक्तियों के साथ अपने २ सम्बन्ध सुदृढ़ करने के प्रयत्न करने लगीं। डच लोगों का दावा था कि उन्होंने संधियाँ करके मोलुक्काज के सब ही छोटे २ राजाओं से सम्बन्ध स्थापित कर लिए थे। इंगलैंड वालों का कहना था कि मोलुक्काज पर उनका अधिकार उनसे पहला है जो सर फ्रांसिस ड्रेक की संसार-यात्रा के काल से आरम्भ होता है। अंग्रेज डचों पर यह आरोप लगाते थे कि वे वहाँ के रहने वालों को भाँति २ की यातनाएँ देते हैं। अंग्रेजी ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने १६११ ई० में प्रथमवार डच लोगों के विरुद्ध अपनी सरकार को चिट्ठी लिखी। उधर इंगलिश तथा डच कम्पनियों को एक जगह मिलाने के भी प्रयत्न जारी थे। १६११ ई० से १६१५ ई० तक लगातार लन्दन तथा हेग में कान्फ्रेंस हो रही थी, जिसमें दोनों कम्पनियों की पूँजी को भी एकत्र करने के प्रस्ताव रखे गये, परन्तु अंग्रेजी कम्पनी ने इसकी अनुमति नहीं दी क्योंकि डच लोगों को सैनिक कार्यवाही पर प्रचुर धनराशि व्यय करनी पड़ती थी; जिसमें भाग लेने के लिए अंग्रेज तैयार नहीं थे, परन्तु पूर्वी सागरों में दोनों देशों की कम्पनियों में निरन्तर संघर्ष जारी था। जौलाई १६१६ ई० में अंग्रेज कम्पनी ने अनिच्छा से डच शतों को मान कर उनके साथ अपनी यूनियन बना ली और अपनी विगत हानियों के लिए अपनी सब माँगों को भी छोड़ दिया। डच किले-बन्दी के व्यय में भाग लेना उन्होंने स्वीकार किया तथा पूर्वी समुद्रों की रक्षार्थ जो बीस जहाजों का एक बेड़ा बनाया गया था उसमें आधे जहाज अपने देने का वचन दिया। इन भारी शतों की स्वीकृति के लिए अंग्रेजों को व्यापार का अंश दिया गया। जेम्स प्रथम ने, जो इस समय इंगलैंड का सम्राट् था, ईस्ट इण्डिया कम्पनी को इन शतों को स्वीकार करने के लिए बाध्य किया था। जेम्स संसार में शान्ति-प्रिय कहलाने की महत्वाकांक्षा रखता था। परन्तु दो प्रतिद्वन्द्वियों के बीच शान्ति के यह सब प्रयत्न सर्वथा

निष्फल सिद्ध हुए और दो वर्ष के अन्दर २ यूनियन का अन्त हो गया, क्योंकि अंग्रेजों को १६११-२२ में लेण्टोर तथा पुलोरून से बलात् निकाल बाहर किया गया तथा १६२३ ई० में एक डच अधिकारी ने अम्बोयना में अंग्रेजों का लोम-हर्षक नर-संहार कराया ।

अम्बोयना के डच गवर्नर वान स्प्यूल्ट ने अंग्रेजों तथा जापानियों पर यह आरोप लगाकर कि वे डच दुर्ग पर अधिकार करना चाहते थे । अंग्रेज एजेण्ट टॉवरसन और अठारह अन्य अंग्रेजों तथा कुछ जापानियों को बन्दी बना लिया । उनके विरुद्ध ऐसा करने के कोई प्रमाण नहीं थे; परन्तु उनको भौति २ की अमानुषिक यातनाएँ देकर उनसे यह स्वीकार करा लिया गया था । दोनों देशों के प्राचीन पत्रों में ऐसी यथार्थ सामग्री प्राप्त होती है जिससे यह निर्विवाद प्रगट होता है कि यह डच लोगों की अंग्रेजों को अम्बोयना से निकाल फेंकने की एक चाल थी । नौ अंग्रेज तथा नौ जापानियों को मौत के घाट उतारा गया । उनके निर्दोषिता-सम्बन्धी तथा अन्य सब पत्रादि नष्ट कर दिए गये; परन्तु प्रार्थना-पुस्तक, बाइबिल का रजिस्टर में यत्र-तत्र दुःखपूर्ण एवं हृदय-विदारक वाक्य वा वाक्यांश डच लोगों की दृष्टि से बच निकले जिनके अवलोकन से इंग्लैंड में डच लोगों के प्रति भयंकर घृणा का सूत्रपात हुआ । वॉन स्प्यूल्ट का यह कार्य एक अपराध ही नहीं वरन् एक भयंकर भूल भी थी और औरिज्ज के राजकुमार ने साफ २ कहा था—‘मैं हृदय से चाहता हूँ कि जिस समय स्प्यूल्ट ने इस हत्या का श्रीगणेश किया था, उसी समय उसको तथा उसकी कौंसिल को फाँसी पर लटका देना चाहिए था ।’ परन्तु सार्वजनिक क्रोध और घृणा के अतिरिक्त लगभग तीस वर्ष तक कोई प्रतिशोध नहीं लिया गया । उधर जेम्स प्रथम अपने बड़े पुत्र चार्ल्स का विवाह स्पेन की राजकुमारी से कराना चाहता था और उसके लिए उसने बड़ा प्रयत्न किया; परन्तु जब सफलता की कोई आशा नहीं रही तो वह नीदरलैंड्स के साथ मैत्री-सम्पादन की बात सोचने लगा । इस प्रकार एक बार फिर राज्य-नीति कम्पनी की आकांक्षाओं के विरुद्ध थी परन्तु इस बार देश की आवाज़ कम्पनी के साथ थी । जेम्स प्रथम और उसके पश्चात् उसका उत्तराधिकारी चार्ल्स बाते तो बड़ी लम्बी चौड़ी करते थे परन्तु इनको कार्यान्वित करने की उनमें क्षमता नहीं थी । इंग्लैंड में राजसत्ता के समाप्त हो जाने पर संरक्षण-काल में ओलिवर क्रोमवेल ने कम्पनी की बड़ी सहायता की । १६५४ ई० को वेस्टमिन्स्टर की

संधि में अम्बोयना हत्याकाण्ड का निर्णय करने के लिए चार सदस्यों के एक कमीशन की नियुक्ति की गई, जिसने पुलोस्टन ग्रंथों को ८५,००० पौंड कम्पनी को तथा ३,६१५ पौंड मृतकों के उत्तराधिकारियों को नीदरलैंड्स से दिलाया।

चौथा अध्याय

स्टुअर्ट तथा संरक्षण काल में कम्पनी तथा नवीन

ईस्ट इण्डिया कम्पनी

कप्तान हार्किंस का प्रयत्न :—मसाले के टापुओं में ग्रंथों को डच लोगों के विरुद्ध सफलता नहीं मिल सकी। परन्तु इस बीच ईस्ट इण्डिया कम्पनी के एजेण्ट और अन्य कर्मचारी अनेकों कठिनाइयों तथा निराशाओं का सामना करते हुए भारतीय बन्दरगाहों के साथ अपना व्यापार स्थापित करने तथा फैक्टरी स्थापित करने की आज्ञा प्राप्त करने के लिए प्रयत्न कर रहे थे। कप्तान हार्किंस की १६०८ ई० में पुर्तगालियों के विरोध के कारण सूरत में कोठी बनाने में असफलता का वर्णन पहले ही किया जा चुका है। परन्तु १६१२ में वेस्ट की विजय ने ग्रंथों की स्थिति में बड़ा परिवर्तन कर दिया था और टामस एल्डवर्थ द्वारा सम्राट् जहाँगीर से फरमान प्राप्त कर अब ग्रंथों ने सूरत में स्थायी कोठी की स्थापना कर ली थी। इस कोठी को वेस्ट इण्डिया के समृद्ध व्यापार की कुञ्जी मानता था। इस प्रकार भारत-भूमि पर एक बार अपने पैर जमाकर ग्रंथों ने देश के भीतरी भाग में व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित करने आरम्भ कर दिये और अल्प काल में ही सूरत की कोठी के अधीन अहमदाबाद, बुरहानपुर, अजमेर और आगरे में अपनी एजेन्सी स्थापित कर ली।

सर टामसरो :—अपनी स्थिति को सुनिश्चित एवं सुदृढ़ करने के लिए अब ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने मुगल सम्राट् के दरबार में एक अत्यन्त योग्य तथा सम्मानित राजपूत रखने का निश्चय किया। इस कार्य के लिए योग्य, सुवक्ता तथा परिश्रमशील सर टामसरो पर उनकी दृष्टि पड़ी और जब कम्पनी उसका वेतन तथा उसका अन्य आवश्यक व्यय उठाने के लिए तैयार हो गई तो जेम्स प्रथम ने रोकी राजदूत पद पर नियुक्ति के लिए सहर्ष

आज्ञा दे दी। फरवरी १६१५ में रो ने भारतवर्ष के लिए प्रस्थान किया। इसी वर्ष डाउनटन ने पुर्तगालियों को एक और समुद्री युद्ध में पराजित किया था। रो ने सूरत पहुँच कर अनुभव किया कि इस विजय ने मुगल सरकार को अंग्रेजों के विरुद्ध कर दिया था। जहाँगीर के दरबार में पुर्तगालियों का पक्षपात करने वाला राजकुमार खुर्रम का जो बाद में शाहजहाँ के नाम से सम्राट् बना, एक शक्तिशाली दल था जो इस समय अंग्रेजों को सूरत से निकाल फेंकने का प्रयत्न कर रहा था। रो ने अपने चातुर्य से जहाँगीर की विशेष कृपा प्राप्त की और इंग्लैंड का विश्वस्त राजदूत बन कर अजमेर, माँडू, या अहमदाबाद में तीन वर्ष तक उसके दरबार में रहा। उसको मुगल सम्राट् के साथ नियमानुसार संधि करने में तो सफलता प्राप्त न हो सकी। परन्तु मुगल-साम्राज्य में अनेकों स्थानों पर अंग्रेजी कोठियाँ स्थापित करने की आज्ञा उसने प्राप्त कर ली और अपनी कूटनीतिज्ञता से अंग्रेज जाति को मुगल मस्तिष्क में विश्वास और सम्मान का स्थान प्राप्त किया। शान्तिपूर्वक व्यापार करने की नीति का प्रतिपादन रो ने कम्पनी की महान् सेवा की। इस कम्पनी ने इस नीति का सत्तर वर्ष तक अनुसरण किया। रो पुर्तगालियों तथा डचों की सैनिक व्यापारिक नीति से घृणा करता था। उसका विचार था कि इस नीति से कभी लाभ नहीं हो सकता। पुर्तगालियों तथा डचों की इस नीति की बुराई करते हुए, उसने कम्पनी को चेतावनी दी, 'इसको एक नियम ही सम्झना चाहिए कि यदि आप लोग लाभ उठाना चाहते हैं, तो इसके लिए समुद्र और शान्त व्यापार का आश्रय लो। यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि भारतवर्ष में किलेबन्दी करना तथा स्थलीय युद्ध करना भयंकर भूल होगी।' फरवरी १६१६ में वह इंग्लैंड वापिस चला गया। अब पूर्वी प्रदेशों में सूरत की व्यापारिक कोठी अंग्रेजों का स्थान बन गया था, यहाँ तक कि १६३० में वन्तम भी कुछ समय के लिए उसके अधीन कर दिया था। सूरत की यह महत्वपूर्ण स्थिति १६३० तक बनी रही, इसके पश्चात् इसका स्थान बम्बई ने लिया।

पूर्वी तट पर अंग्रेज :—उधर पूर्वी समुद्र-तट पर १६११ में कप्तान हिप्पन ने कृष्णा नदी के डेल्टा में लंगर डाला और उत्तर की ओर बढ़ कर मसूलीपट्टम में, जो मुसलमानी राज्य गोलकुण्डा का एक बन्दरगाह था, व्यापारिक कोठी की स्थापना की। कुछ समय तक तो यह कोठी उन्नति

करती रही, परन्तु डच लोगों की कट्टर प्रतिस्पर्धा का यह सामना न कर सकी और १६२४ के पश्चात् इसकी दशा अवनत होती चली गई। अंग्रेजों की दशा इस स्थान पर इतनी नीच होती गई कि लगभग चार वर्ष पश्चात् उनको यह स्थान छोड़ देने के लिए बाध्य होना पड़ा। यद्यपि वे केवल दो वर्ष पश्चात् फिर वापिस लौट आये परन्तु अपने यूरोपियन प्रतिस्पर्धियों के भय के कारण वह इधर उधर अन्य किसी सुरक्षित स्थान की खोज में लगे रहे। १६४० में फ्रांसिस डे ने मसूलीपट्टम से २३० मील दक्षिण की ओर अपनी व्यापारिक कोठी बनाने के लिए एक हिन्दू राजा से कुछ भूमि मोल ली और फोर्ट सेंट जार्ज की स्थापना की। इस कोठी के इर्द-गिर्द थोड़े ही समय में मद्रास नगर आबाद हो गया। उस समय नगर दो भागों में विभक्त था—श्वेत-मद्रास तथा कृष्ण-मद्रास। पहले में गोरी चमड़े वाले व्यापारी और दूसरे में भारतीय व्यापारी रहते थे। आरम्भ में इस कोठी से आशापूर्ण लाभ नहीं हुआ इसलिए इसके संस्थापक का नाम 'काली किताब' में लिख लिया गया था; परन्तु शीघ्र ही इस कोठी ने भी उन्नति करना आरम्भ किया और १६५३ में मद्रास एक स्वतन्त्र एजेन्सी बन गया।

बंगाल और उड़ीसा के व्यापार :—इसी बीच में उन अंग्रेज व्यापारियों ने, जो पूर्वी-तट पर उत्तर को ओर बढ़ रहे थे, बंगाल और उड़ीसा में अपने पैर जमाने आरम्भ कर दिये थे। राल्फ कार्टराइट मसूली-पट्टम से उत्तर की ओर खाना हुआ और उसने १६३३ में महानदी के डेल्टा में हरिहरपुर तथा बंगाल और उड़ीसा की सीमा पर बालासोर में अपने स्टेशन स्थापित किए। मेलरिया और डच तथा पुर्तगालियों के विरोध का यहाँ पर अंग्रेजों को बहुत समय तक बड़ा कठिन सामना करना पड़ा, परन्तु ये लोग यहाँ पर डटे रहे। १६४२ में अंग्रेज लोग इतने परेशान हो गये थे कि बंगाल को सर्वथा छोड़ने वाले थे, परन्तु फ्रांसिस डे की दूरदर्शिता ने उनको ऐसा न करने दिया। इनके सौभाग्य से होयवैल नामक जहाज का डाक्टर गेव्रील वाऊटन १६४५ से बंगाल के सूबेदार की सेवा में रहता था। उसके कारण कम्पनी को बड़ा लाभ हुआ। १६५० में उसने अपने स्वामी से कम्पनी के लिए बंगाल प्रान्त में व्यापार करने के लिए आज्ञापत्र प्राप्त किया और एक वर्ष पश्चात् हुगली में कम्पनी की व्यापारिक कोठी बनाने की भी आज्ञा प्राप्त कर ली। डच और पुर्तगाली लोग पहले ही से यहाँ पर आबाद थे। परन्तु बंगाल की कोठियों की दशा अभी बड़ी शोचनीय थी। ये स्थान

मद्रास से इतने अधिक अन्तर पर थे कि वहाँ से आसानी से इन पर नियंत्रण नहीं रक्खा जा सकता था। बंगाल की कोठियों में काम करने वाले लोग भी ईमानदार नहीं थे और व्यापार का हसाव बढ़ा झूठ और अनियमित भेजा करते थे। मद्रास कौंसिल ने यह सब देखकर १६५६ में बंगाल से अपना सब कारोबार बन्द करने का निश्चय कर लिया परन्तु क्रोमवेल के नये आज्ञापत्र के अन्तर्गत १६५८ में और अधिक सामान तथा नये आदमियों के आ जाने के कारण यह निश्चय स्थगित करना पड़ा। इसी वर्ष कोरोमण्डल तट तथा बङ्गाल की सब छोटी बड़ी कोठियों को फोर्ट सेंट जार्ज के अधीन कर दिया गया।

इङ्ग्लैंड में कम्पनी की प्रथम स्थिति, प्रथम स्टुअर्ट सम्राट् :—परन्तु उधर इंग्लैंड कम्पनी की दशा कुछ अच्छी नहीं थी। क्योंकि कम्पनी को भारतवर्ष के साथ व्यापार करने का एकाधिकार प्राप्त था इसलिए इंग्लैंड का लोकप्रिय दल इसका विरोधी होने लगा था। इसके अतिरिक्त कम्पनी को इंग्लैंड के बाहर सोना, चाँदी भेजने की नीति भी देश के लिए हानिकारक समझी जाती थी। फिर क्योंकि कम्पनी का आधार राजकीय आज्ञा थी और इस स्टुअर्ट राजा की सत्ता बड़ी डाँटाडोल थी या यों कहिये कि मृतप्राय थी। जैसे २ चार्ल्स प्रथम और पार्लियामेंट का झगड़ा उग्र रूप धारण करता गया, वैसे ही वैसे कम्पनी की तृतीय दल के रूप में दशा निरन्तर गिरती ही चली गई। कम्पनी ने अनेकों बार इस बात का प्रयत्न किया कि राजा के विरुद्ध उसके भी आरोपों को लोक-सभा के आरोपों का एक भाग बना लिया जाय। १६२८ ई० में कम्पनी ने हाउस ऑफ कामन्स के सामने अपना एक प्रार्थनापत्र तथा शिकायतपत्र भी उपस्थित किया, परन्तु इस पर कोई ध्यान नहीं दिया गया। पार्लियामेंट से इस प्रकार अपमानित होकर कम्पनी को फिर सम्राट् चार्ल्स की भी एक करारी चोट सहनी पड़ी। १६५३ में उसने इस आधार पर कि कम्पनी ने केवल अपने और तत्कालिक लाभ को ही दृष्टि में रक्खा है और देश तथा भावी सन्तति के लाभ की ओर तनिक भी ध्यान नहीं दिया, अपने एक दरबारी एग्जिमिन पोर्टर को पूर्वी प्रदेशों से व्यापार करने को आज्ञा प्रदान की। सर विलियम कोर्टिन नामक लन्दन के एक धनाढ्य व्यापारी ने उसको आर्थिक सहायता दी।

अब कुछ समय के लिए कम्पनी के एकाधिकार का अन्त हो गया।

१८

कोर्टिन-दल ने अपने व्यक्तिगत लाभ के आगे और किसी भी बात की तनिक परवाह नहीं की और अपने देश या उन भारतीय व्यापारियों के हित की जिनके सम्पर्क में वे आते थे, वे किंचिन्मात्र भी चिन्ता नहीं करते थे। कम्पनी ने कई बार पार्लियामेंट के सम्मुख अपनी प्रार्थना प्रस्तुत की परन्तु कोई सुनवाई न हुई।

प्रजातन्त्र युग :—इण्डिया आफिस के संग्रहीत लेखों से यह प्रमाण मिलता है कि १६२७ में क्रोमवैल ने भारतवर्ष के साथ व्यापार सब के लिए खोलने का पूर्ण विचार कर लिया था और कम्पनी ने निराश होकर भारतवर्ष के साथ अपने सब व्यापार का अन्त करने का निश्चय कर लिया था। अन्त में कम्पनी की यह धमकी काम कर गई और इससे क्रोमवैल का ध्यान कम्पनी की दिक्कतों की ओर आकृष्ट हुआ और फलस्वरूप १६२७ में उसने कम्पनी को नया आज्ञापत्र प्रदान किया। इसके नियमानुसार कम्पनी ने अपना प्रथम सम्मिलित कोष स्थापित किया और सर डबल्यू० डबल्यू. हण्टर के कथनानुसार “कम्पनी ने मध्यकालीन आधार से आधुनिक आधार में प्रवेश किया।” इक्यानवे नवीन कार्यकर्ता तथा व्यापारी पूर्व की ओर भेजे गये जिन्होंने अंग्रेजों के ठिकानों में नव-जीवन का संचार किया।

चार्ल्स द्वितीय का समय :—राजकीय विशेषाधिकारों के वैधानिक प्रयोग पर अवलम्बित होने के कारण कम्पनी को प्रजातन्त्र तथा संरक्षण-काल में नाना प्रकार की आपदाओं का सामना करना पड़ा। उचित या अनुचित प्रत्येक आज्ञा का इसको पालन करना पड़ता था। परन्तु राजसत्ता को पुन-स्थापना के साथ साथ कम्पनी के भाग्य-चक्र ने भी पलटा खाया। १६६० से १६८० तक के बीस वर्षों को कम्पनी के जीवन का, जब तक यह केवल व्यापारिक कम्पनी ही थी, स्वर्ण-युग कहा जा सकता है। कम्पनी के स्टाक का मूल्य निरन्तर बढ़ता गया और १६६९ के पश्चात् चौदह पन्द्रह वर्ष में लगभग तिगुना हो गया। कम्पनी के सदस्यों को अपने हिस्सों पर १६२९ से १६९१ तक २५ प्रतिशत लाभ की औसत रही। इंग्लैंड में कम्पनी को राजकीय संरक्षण तथा सहायता प्राप्त थी क्योंकि चार्ल्स द्वितीय यदि अपने पिता के समान कोर्ट आफ कमेटीज़ से धन उधार लेता था तो वह उसके प्रतिकूल अपने ऋण को चुकाने में बड़ा सतर्क रहता था। १६६१ से १६८३ तक जितने आज्ञापत्र कम्पनी को प्रदान किये गये उनके कारण कम्पनी की

स्थिति अनेकों प्रकार से सुदृढ़ हो गई। अब उसको अपने सिक्के ढालने, किलेबन्दी करने, पौर्वत्य में रहने वाली अंग्रेज-प्रजा का न्याय करने, युद्ध वा शान्ति करने तथा गैर ईसाइयों से मैत्री-सम्पादन करने का अधिकार मिल गया था। १६६१ में सम्राट् चार्ल्स द्वितीय का विवाह ब्रेगेन्जा की कैथाराइन से सम्पन्न हुआ और दहेज में बम्बई का टापू मिला जिसको सम्राट् ने कम्पनी को दस पौंड सालाना किराये पर दे दिया था। बम्बई की महत्ता का उस समय के गोआ के पुर्तगाली वायसराय के नैराशपूर्ण इस वाक्य से अनुमान किया जा सकता है, “जिस दिन अंग्रेज जाति बम्बई में अपने पैर जमाती है, उसी दिन भारतवर्ष पुर्तगालियों के हाथ से निकल जायगा।” बम्बई की समृद्धता तथा यश दिनों दिन बढ़ता गया और १६८७ में उसने सूरत का स्थान ले लिया तथा पश्चिमी तट पर अंग्रेजों का मुख्यतम ठिकाना हो गया। इंग्लैंड में राजसत्ता की पुनर्स्थापना के पश्चात् बीस वर्ष तक अभूतपूर्व सफलता का मुख्य कारण यह था कि इस बीच में उसको अपने यूरोपियन प्रतिस्पर्धियों से कोई विशेष हानि नहीं उठानी पड़ी। निस्सन्देह चार्ल्स द्वितीय ने अपने काल में दो बार हालैंड से युद्ध किया, परन्तु इसके कारण पौर्वत्य में अंग्रेजों और डच लोगों में कोई विशेष युद्ध नहीं हुआ। १६६७ में ब्रेडा की सन्धि हो जाने के कारण पुर्तगाल तथा कुछ अन्य स्थान अन्तिम रूप से डच लोगों को मिल गये, जिनके बदले में अमरीका में डच लोगों ने न्यू एम्स टरडम, जो आजकल न्यू यार्क कहलाता है, अंग्रेजों के हवाले किया। इधर भारतवर्ष में डच लोगों का विरोध फ्रांस के विरुद्ध रहा और इस प्रकार फ्रांस की शक्ति को क्षीण करके उन लोगों ने इंग्लैंड का बड़ा उपकार किया।

भारत में सङ्कट :—परन्तु १६८५ के पश्चात् ईस्ट इण्डिया कंपनी का फिर दुःख और कष्टों का समय आरम्भ होता है। अंग्रेजों ने जिस समय भारतवर्ष में आकर अपने व्यापार को उन्नतिशील करने के लिए प्रयत्न किये थे, उस समय यहाँ पर मुगलों का सुशासित साम्राज्य था जिसके कारण देश में और विशेषकर उत्तरी प्रदेश में शासन और व्यवस्था बड़ी अच्छी थी, परन्तु औरंगजेब के शासन-काल के उत्तरार्ध में साम्राज्य राजनीतिक दृष्टिकोण से छिन्न भिन्न हो चला था। प्रांतीय सूबेदार केन्द्रीय शासन के नियन्त्रण से बाहर हो रहे थे; दक्षिण में राष्ट्रपति शिवाजी ने अपनी मृत्युपर्यन्त (१६८० में) मुगल साम्राज्य की शक्ति की पूर्णतया अवहेलना करके

साम्राज्य को पंगु बना कर अपने सुव्यवस्थित राज्य की स्थापना का थी। १६६४ और १६७० में उसने सूरत पर आक्रमण किया और इच्छापूर्वक लूट-मार की। बड़ी कठिनाई से उसको नगर से चले जाने पर बाध्य किया गया और १६७७ में जिञ्जीवार को जाते हुए वह मद्रास के निकट से निकला। इन सब बातों का परिणाम यह हुआ कि देश की शासन और व्यवस्था, जो सफल व्यापार के लिए अत्यन्त आवश्यक होती है, सर्वथा लोप हो गई। उधर बंगाल में भी अंग्रेजों की दशा अधिक अच्छी नहीं थी।

नीति-परिवर्तन :—इस समय की दशा का वर्णन करते हुए, ओन्जियर ने लिखा था —“भारतवर्ष की दशा पहले की अपेक्षा बहुत परिवर्तित हो गई है, न्याय और समाज को, जिसके साथ विदेशियों का और विशेषकर हमारी जाति का सत्कार किया था, उठा कर एक ओर रख दिया गया है; कम्पनी और अंग्रेज जाति का नाम हमारे दीर्घ-काल तक अपमानों को सहन करने के कारण अपमानित हो गया है; हमारी शिकायतों, विरोधों, प्रार्थनापत्रों तथा धमकियों का उपहास किया जाता है, भयङ्कर रोगों का उपचार भी भयङ्कर ही होता है, अब समय चाहता है कि तुम अपने साधरण व्यापार का प्रबन्ध अपने हाथ में तलवार लेकर करो।” इस मुख्य कारण के अतिरिक्त और भी अन्य कारण थे जिनका कम्पनी पर और भी अधिक प्रभाव पड़ता था। १६८३-८४ में बम्बई के राजपूत के कमाण्डर कीर्गविन् और सेंट हैलेना के विद्रोहों ने कम्पनी को बहुत परेशान किया और इंग्लैंड में ऐसे ही तथाकथित अत्याचारों के कारण उसकी बड़ी बदनामी हुई। इस नई स्थिति का सफलतापूर्वक सामना करने के लिए कम्पनी ने नये साधनों को प्रयोग में लाने का निश्चय किया। जेराल्ड ओन्जियर की सलाह मान ली गई और कोर्ट आफ कैमेटेज ने जो अभी तक अन्धकार में था और जिसको न तो मुगल साम्राज्य की वास्तविक कमजोरी का ज्ञान था और न कम्पनी के मार्ग की अनेकों अड़चनों का पता था, औरङ्गजेब के साथ युद्ध करने की घोषणा करने का निश्चय कर लिया। इस प्रकार सर टामसरो की नीति को, जो अब तक कम्पनी के लिए बड़ी हितकारी सिद्ध हुई थी, सर्वथा बदलने का निश्चय किया गया। अंग्रेजी कम्पनी के आदमी अब डच नीति की प्रशंसा करने लगे, जिसमें व्यापार की अपेक्षा, शासन, सिविल और सैनिक नीति, युद्ध और भूमि-कर वृद्धि की ओर अधिक ध्यान दिया जाता था। जेम्स द्वितीय के काल में कम्पनी को जो आज्ञा-पत्र प्रदान किया गया

तब से “कम्पनी ने भारतवर्ष में स्वतन्त्र राज्य का रूप धारण कर लिया था” और अब वह दीन हीन बन कर रहना नहीं चाहती थी। १६८७ में कम्पनी ने अपने प्रेजीडेण्ट और कौंसिल को एक पत्र में लिखा था, “(कि उनको भारतवर्ष में) एक ऐसे सिविल तथा सैनिक राज की स्थापना करनी चाहिए और इतना अधिक भूमि-कर प्राप्त करना चाहिए... जो वहाँ पर एक विशाल तथा सुरक्षित इंगलिश राज्य की आधारशिला बन सके।”

चाइल्ड वन्धुओं की नीति :— इस नई नीति का सम्बन्ध सर जोशिया और सर जान चाइल्ड से बतलाया जाता है; परन्तु आधुनिक अनुसन्धान ने इसको अमपूर्ण सिद्ध कर दिया है। इसमें सन्देह नहीं कि इंग्लैंड में कम्पनी की नीति प्रतिपादन करने में जोशिया ने दीर्घकाल तक निरंकुश शासन किया था क्योंकि १६८१ से १६८७ तक वह चार बार कंपनी का गवर्नर बनाया गया था। आक्सफोर्ड के वोडलियन् पुस्तकालय में सुरक्षित रखे हुए उसके कतिपय पत्र यह निर्विवाद सिद्ध करते हैं कि कोर्ट आक् कमेटीज में वह सर्वेसर्वा था और उसकी यह स्थिति लगभग १६९४ तक बनी रही। सर जान चाइल्ड सूरत का प्रेजीडेण्ट और बम्बई का गवर्नर था अर्थात् १६८२ से १६९० तक वह भारतवर्ष में कंपनी का चीफ था।

उक्त नीति का परिणाम अर्थात् युद्ध :— जिस नीति का बड़े जोरदार शब्दों में प्रतिपादन किया गया, उसका बड़ा दुःखमय अन्त हुआ। इंग्लैंड से कप्तान निकोलसन को दस लड़ाकू जहाज और ६०० सैनिकों के साथ भेजा गया। उसकी सहायता के लिए ४०० आदमी मद्रास में तैयार थे। उसको चिटगाँव पर अधिकार करने और उसकी किलेबन्दी करने की आज्ञा दी गई थी। चिटगाँव बंगाल की खाड़ी के उत्तरी पूर्वी किनारे पर स्थित है, परन्तु कोर्ट आक् कमेटीज का इसके बारे में ऐसा अनुमान था कि यह नगर कहीं गंगा के ऊपरी भाग में स्थित है। इस नगर को वे कंपनी के इस प्रान्त की राजधानी बनाना चाहते थे। निकोलसन को स्याम के राजा के साथ युद्ध करने और पुर्तगालियों से सालसीर छीन लेने की भी आज्ञा दी गई थी। इन तीनों महत्वाकांक्षाओं में से एक भी पूरी न हो सकी। जब अक्टूबर १६८६ में यह दल हुगली में पहुँचा तो युद्ध समय से पूर्व ही आरम्भ हो गया और नगर पर गोलाबारी होने के पश्चात् अंग्रेजों को २७ मील नीचे की ओर सुतनती तक, जहाँ पर आज कलकत्ता का विशाल नगर खड़ा है, हट जाने के लिए बाध्य होना पड़ा। अब मुगल सम्राट ने, अंग्रेजों

के सब ठिकानों पर आक्रमण करने की आज्ञा दी। पटन, कासिमबाजार, मसूलीपट्टम और विजिगापट्टम की व्यापारिक कोठियों पर अधिकार कर लिया गया और बम्बई का घेरा डाल दिया गया। कंपनी की इस दुर्दशा को देख कर इंगलैंड से और कुमुक भेजी गई उसने १६८८ में बंगाल में कंपनी के जितने आदमी और सामान था, सबको जहाज पर ले लिया और बालासोर नगर पर गोलाबारी करके उसको भस्मीभूत कर दिया और चिटागाँव को विजय करने के लिए आगे बढ़, परन्तु वहाँ जाकर उसने देखा कि नगर की रक्षा का बहुत अच्छा प्रबन्ध था और इस लिए एक मास के निरर्थक प्रयत्नों के पश्चात् उसको वापिस मद्रास लौट आने के लिए बाध्य होना पड़ा। इस प्रकार कंपनी की इस युद्ध-नीति का परिणाम यह हुआ कि बंगाल से सब अंग्रेज निकाल बाहर कर दिये गये और पचास वर्ष के अथक प्रयत्न सब निष्फल हो गये।

संधि :—इस समय अंग्रेजों की इस कठिन परिस्थिति में उनकी जल-शक्ति ने उनका बड़ा साथ दिया। पश्चिमी समुद्र-तट पर सर जाज़ चाइल्ड ने जहाँ तक उसकी पहुँच थी, सब मुगल जहाजों पर अधिकार कर लिया और उसने अपने कप्तानों को अरब सागर तथा फारिस की खाड़ी में हज-यात्रा को बन्द करने के लिए भेजा। चाइल्ड की इस नीति का परिणाम यह हुआ कि औरङ्गजेब कंपनी की सन्धि-चर्चा को सुनने के लिए तैयार हो गया, परन्तु सन्धि की शर्तें कंपनी के लिए बड़े कठोर और अपमानजनक थीं। १६९० में उसने अंग्रेजों को क्षमा प्रदान कर दी और व्यापार करने के लिए एक नई आज्ञा प्रदान की, परन्तु यह शर्त रखी कि कंपनी १७००० पौंड जुमाने के दे और यह प्रण करे कि “भविष्य में फिर कभी ऐसा लजास्पद व्यवहार न करेगी, और चाइल्ड को, जिसने मुगल-सत्ता का ऐसा अपमान किया है, अपनी सेना से बर्खास्त कर देगी।” परन्तु चाइल्ड की मृत्यु ने कंपनी को इस मान-हानि से बचा लिया। यद्यपि उसको अन्तिम बार असफलता प्राप्त हुई थी, तो भी उसके स्वामियों ने उसके सम्बन्ध में कहा था कि “उसने कंपनी की समृद्धि और देश के सम्मान के लिए भारतवर्ष में इतना कार्य किया जितना कभी और किसी अंग्रेज ने नहीं किया।” परन्तु अंग्रेजों की इस दुःखभरी कहानी में एक सुख-कर घटना ने इसकी विषमता को कुछ कम अवश्य किया। यद्यपि इसके महत्व का उस समय अनुमान नहीं लगाया जा सकता था। जान चारनोक ने, जो

हुगली में एजेंट था, दो बार—जहाँ पर अब कलकत्ता नगर स्थित है—अंग्रेजी बस्ती का शिलारोपण करने का प्रयत्न किया था, परन्तु दोनों ही बार उसको असफल होना पड़ा। सन्धि हो जाने पर अंग्रेजों को गंगा के डेल्टा में अपने ठिकानों पर पुनः अधिकार करने की आज्ञा प्रदान की गई। पन्द्रह महीने मद्रास में रहने के पश्चात् चारनोकुफिर चुपके से अपने नष्ट-भ्रष्ट ठिकाने की ओर आया और जिस वर्ष कम्पनी को औरंगजेब के सम्मुख बड़ी मान-हानि सहनी पड़ी, उसी वर्ष ब्रिटिश भारत के भविष्य की राजधानी की आधार-शिला रखी गई।

पाँचवाँ अध्याय

नवीन ईस्ट इण्डिया कम्पनी

कम्पनी का विरोध :—कम्पनी के विरोधियों ने इंग्लैंड में महान् मुगल के साथ अन्याय एवं धूर्तता-पूर्ण युद्ध की घोर निन्दा की और जब उनको अपमानजनक सन्धि का पता लगा तो कोर्ट आफ़ कमेटीज के विरुद्ध उनको एक अच्छा अस्त्र मिल गया। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के एकाधिकार के विरुद्ध विरोध नाना रूप धारण करके निरन्तर बढ़ने लगा। ऐसे भी अनेकों मनुष्य थे जो आर्थिक कारणों से कम्पनी के व्यापार का विरोध करते थे। उनके इस विरोध के दो प्रमुख कारण थे : प्रथम इस व्यापार के कारण देश से बहुत-सा सोना चाँदी बाहर जाता था, दूसरे उनका कहना था कि जो बना हुआ माल देश में आता है वह सर्वथा हानिकारक है। ऐसे विरोधियों ने इस व्यापारिक-नीति का सूत्रपात किया कि ऐसा कोई भी विदेशी व्यापार जो अन्य देशों को इंग्लैंड का बना हुआ माल तथा वहाँ की उपज नहीं भेजता और बाहर से कच्चा माल नहीं मँगाता, देश के लिये सर्वथा हानिकारक है। यदि इंग्लैंड ने इस नई नीति का उस समय अवलम्बन किया होता तो इंग्लैंड को भारतीय व्यापार से जो महान् लाभ हुआ; वह शत-प्रतिशत असम्भव था।

कम्पनी के समर्थक इस कट्टर विरोध के उत्तर में आदमस्मिथ के निर्णयों तथा स्वतन्त्र व्यापार का आश्रय लेते थे। उन्होंने जोरदार शब्दों में यह घोषणा की “कि कोई भी जाति जो सोने चाँदी के निर्यात पर प्रतिबन्ध

लगाती है, अपने व्यापार को समृद्धिशाली न बना सकी और न बना सकती है।” सोना चाँदी को अन्य प्रकार की सम्पत्ति से भिन्न समझना एक भ्रम है। चार्ल्स देवनान्त ने ईस्ट इण्डिया व्यापार पर एक निबन्ध लिखते हुए लिखा था—“सोना, चाँदी और रुपया पैसा, बाट या अन्य प्रकार के पैमानों के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं हैं, जिनके द्वारा व्यापार अधिक सुगमता से हो जाता है और जिसके बिना व्यापार नहीं हो सकता।” व्यापार-सम्बन्धी मामलों में राज्य का हस्तक्षेप इन लोगों को प्रिय नहीं था। इन लोगों ने भारतीय व्यापार के पक्ष में और भी बड़ी २ दलीलें प्रस्तुत कीं उन्होंने कहा—“ईस्ट इण्डिया की खोज के पश्चात् समुद्र पर अधिकार व्यापार के उन्नत वा अवनत होने पर आश्रित है और इसके फलस्वरूप स्वतन्त्रता, सम्पत्ति और प्रोटेक्टेड धर्म की सरक्षा का एकमात्र आधार भी यही है।”

एक दूसरा दल-ज्वाइंट-स्टाक-सिद्धान्त का ही विरोधी था। इसका मत था—यह सिद्धान्त हानिकारक है और वह इसलिए ऐसी कंपनी चाहते थे जिसके सदस्य संघ के सदस्यों की हैसियत से अपनी व्यक्तिगत पूंजी से व्यापार कर सकें।

तीसरे ऐसे मनुष्यों की संख्या भी निरन्तर बढ़ती जा रही थी जो ईस्ट इण्डिया कंपनी का विरोध इसलिए करते थे कि उसका आधार विस्तृत नहीं था तथा उसको एकाधिकार प्राप्त था। जब ऐसे लोग कंपनी को समाप्त करने को चिल्लाते थे तो उनका आशय केवल यह था कि कंपनी के पहले सदस्यों को पृथक् कर दिया जाय जो १६५७ से व्यापार के एक मात्र स्वामी बने हुए थे और इसमें कोई संदेह नहीं था कि कंपनी अपनी पूंजी को बढ़ा सकती थी और अपने बड़े भारी लाभ में भाग लेने के लिए और अधिक मनुष्यों को सम्मिलित कर लेती। इस समुदाय ने सर जोशिया चाइल्ड को कोर्ट ऑफ कमेटीज में अपरिमित शक्ति का बड़ा कट्टर विरोध किया और उसकी बड़ी तीव्र आलोचना की। १६८१ में कंपनी के एक प्रमुख सदस्य टामस पेपीलोन ने यह प्रस्ताव रखा कि कंपनी को स्वयं अपने अधिकारों में भाग लेने के लिए अधिकाधिक बाहर वालों को सम्मिलित करना चाहिए। परन्तु जोशिया चाइल्ड ने एक प्रस्ताव को स्वीकार करने से इन्कार कर दिया और पेपीलोन तथा उसके साथियों को कंपनी से निकाल बाहर किया।

अनेकों वर्षों तक बहुत से अंग्रेज चोर व्यापारी चोरी २ अकेले या

कंपनी के नौकरों से मिलकर व्यापार करते रहे। इन चोर-व्यापारियों में टामस पिट, जो अर्ल आव चेटम का दादा था, सबसे मुख्य था। उसने चोर व्यापार से एक अतुल धन-राशि प्राप्त की थी और इसके द्वारा इंग्लैंड में एक बड़ी जागीर और ओल्ड सैरम की 'पाकेट वरो' भी मोल ले ली थी। इन मनुष्यों ने व्यर्थ ही सेन्डेज की प्रसिद्ध अभियोग में (१६८३) इस बात की घोषणा कराने का प्रयत्न किया कि कंपनी का एकाधिकार गैर-कानूनी था और जिसमें न्यायाधीश जैफ़रेज़ ने कंपनी के पक्ष में निर्णय किया था। इन सब बातों का एकमात्र परिणाम १६८६ का आज्ञा-पत्र था जिसने भारतीय नरेशों और अन्य अंग्रेजों के विरुद्ध कंपनी की शक्ति को और भी अधिक सुदृढ़ कर दिया।

स्टुअर्ट वंश के पतन के साथ चाइल्ड पर बड़ी भारी चोट पड़ी। सर विलियम हण्टर कहता है, "क्रान्ति ने कंपनी को पार्लियामेंट के सम्मुख ला कर खड़ा कर दिया"। लंदन कंपनी के अनेकों शत्रु व्हिग-दल से मिल गये और १६९० में पार्लियामेंट एक कमेटी के द्वारा एक नई कंपनी के बनाने के सम्बन्ध में एक प्रस्ताव पास कराने में सफल हुए। सर जोशिया चाइल्ड इन बातों से तनिक भी भयभीत नहीं हुआ और मंत्रियों को ८०,००० पौंड उत्कोच देकर कंपनी के लिए एक नया आज्ञा-पत्र प्राप्त कर लिया। परिणाम-स्वरूप कामन्स और देश में भयंकर क्रोध की लहर फैल गई। गिलवर्ट हीथ कोट ने, जो चोरी से पूर्वी प्रदेशों के साथ व्यापार किया करता था और जिसका जहाज़ टेम्ज़ में पकड़ा गया था, राष्ट्रीय भावना को प्रकट किया। जब उसने घोषणा की कि—"ईस्ट इण्डिया के साथ व्यापार करना वह कोई पाप नहीं समझता और वह वहाँ से तब तक व्यापार करता रहेगा जब तक कि पार्लियामेंट इसके विरुद्ध कोई कानून न बना दे"। स्वयं पार्लियामेंट ने इस दृष्टिकोण को अपनाया और १६९४ में यह निश्चय किया कि "इंग्लैंड की सब जनता ईस्ट इंडीज़ के साथ व्यापार करने का समान अधिकार रखती है, जब तक कि पार्लियामेंट का कोई कानून इस पर प्रतिबन्ध न लगा दे"। इस निश्चय को अनेकों साहसी व्यापारियों ने कार्यान्वित किया। इससे कंपनी की शक्ति बहुत क्षीण हो गई। १६९५ में कंपनी के अष्टाचार की जाँच की गई। जाँच ने सिद्ध किया कि १६८८ से १६९४ तक १०७,००० पौंड व्यय किया गया था। इस अष्टाचार के प्रकाश में आने के कारण देश में सनसनी फैल गई और परिणाम-स्वरूप एक मंत्री का, जो लीड्स का ड्यूक था, राजनैतिक पतन हुआ।

स्काट कंपनी :--जब कंपनी की इस प्रकार के अष्टाचार होने के कारण देश में अपकीर्ति हो रही थी, उसी समय स्काटलैंड ने भारतीय व्यापार से लाभ उठाने के विचार से उसके अधिकारों पर आक्रमण किया। इस आक्रमण की किसी को आशा भी नहीं थी। स्काटलैंड यद्यपि इंगलैंड के साथ एक ही राजमुकुट के अधीन था, परन्तु नियमानुसार एक पृथक् तथा स्वतन्त्र देश था। लगभग नव्वे वर्ष पहले जेम्स प्रथम ने सर जेम्स कनिंघम को ईस्ट इण्डिया के साथ व्यापार करने के लिए अधिकार-पत्र प्रदान किये थे, परन्तु लंदन कंपनी ने उसको खरीद कर इस भय का उन्मूलन कर दिया था। १६६३ में स्काटलैंड की पार्लियामेंट ने समुद्री व्यापार करने के लिए समुदाय बनाने की कानूनी आज्ञा दे दी और इसके पश्चात् १६६५ में अफ्रीका और इंडीज के साथ व्यापार करने के लिए स्काटलैंड कंपनी को स्थापना की। इस आन्दोलन का एक प्रमुख नेता विलियम पेटर्सन था जिसने बैंक आव इंगलैंड की स्थापना की थी। कतिपय मनुष्य ऐसी आशा करने लगे थे कि यदि दोनों कंपनियां मिल जुल कर कार्य करें तो इंगलैंड और स्काटलैंड में पारस्परिक प्रेम और मैत्री भावना सुदृढ़ हो जायगी और दोनों देश अलग २ न रह कर संयुक्त ब्रिटेन की राष्ट्रीय पताका की छत्र-छाया में फलने फूलने लगेंगे। परन्तु यह सुनहरा स्वप्न शीघ्र ही टूट गया और स्काटलैंड कंपनी की घटना ने दोनों देशों के सम्बन्धों को बहुत काल तक कड़वा बनाये रखा। अंग्रेज भले ही आपस में एक दूसरे के विरोधी रहे हों, परन्तु विदेशी प्रतिस्पर्धी के लिए वे सब एक थे। विलियम तृतीय, जो इस समय दोनों देशों का सम्राट् था, बड़ी कठिन परिस्थिति में था। एक को प्रसन्न करने का अर्थ दूसरे को असंतुष्ट करना था। इंगलैंड की पार्लियामेंट के दोनों भवनों ने स्काटलैंड कंपनी के विरुद्ध एक स्मृति-पत्र रखा, परन्तु उसने अधोलिखित उत्तर देकर टाल मटोल की—“स्काटलैंड में मेरा निरादर किया गया है परन्तु मैं आशा करता हूँ कि इस कार्य से पैदा होने वाली असुविधाओं के उपचारार्थ कुछ औषधियों की खोज कर ली जायगी”। परन्तु अंत में एक मूर्खता-पूर्ण कार्य के कारण स्काटलैंड कंपनी का पतन हुआ और सम्राट् भी कठिन परिस्थिति से निकल गया। उनके एक मित्र-शक्ति की भूमि पर बसने पर प्रतिबन्ध लगाया गया; परन्तु इस प्रतिबन्ध की अवहेलना करके उन लोगों ने डेरियन के भूडम-मध्य पर अपना एक ठिकाना स्थापित किया जिस पर स्पेन का अधिकार था। स्पेन-निवासियों ने इसका विरोध

किया। अंग्रेजी सरकार ने इन बसने वालों को उनके भाग्य पर छोड़ दिया और न्यूयार्क, वारवेडोस तथा जमाइका के अंग्रेज उपनिवेश-निवासियों को चेतावनी दी कि वे उनकी किसी प्रकार की भी सहायता न करें। स्पेनी शत्रुता के साथ रोग और दुर्भिक्ष ने मिलकर उपनिवेश का सत्यानाश कर दिया और कंपनी का पूर्ण पतन हो गया।

नई कम्पनी की स्थापना :—१६६८ में डौगेट समुदाय इंग्लैंड में कोषाध्यक्ष मौएटेग्यू के नाम पर आठ प्रतिशत व्याज से २०००,००० पौंड ऋण लेकर 'जनरल सोसाइटी' के नाम से एक कम्पनी बन गया। इस सोसाइटी को भारत के साथ व्यापार करने के पूर्ण अधिकार प्रदान किए जा चुके थे। जनरल सोसाइटी की रचना इस आधार पर हुई थी कि उसके सदस्य व्यक्तिगत रूप से भी व्यापार कर सकते थे, परन्तु सम्राट् को यह अधिकार प्राप्त था कि वह ऐसे सब सदस्यों की एक ज्वाइंट स्टाक कम्पनी बना सकता था, जो ऐसी इच्छा रखते हों और निस्सन्देह इस प्रकार की आशा आरम्भ से ही की जा रही थी। इस नियम से लाभ उठाकर अनेकों सदस्यों ने ५ सितम्बर १६६८ को "ईस्ट इंडीज से व्यापार करने वाली अंग्रेजी कम्पनी" का नाम धारण किया। इसका नियन्त्रण करने के लिए २४ डाइरेक्टरों का एक कोर्ट बनाया गया। अब यहाँ पर यह भली प्रकार समझ लेना चाहिये कि कुछ वर्ष तक ईस्ट इंडीज के साथ व्यापार करने वाले चार वर्गों के मनुष्य थे; (१) नवीन अंग्रेजी कम्पनी, (२) पुरानी कम्पनी, जो १७०१ तक अपनी पूरी पूँजी से व्यापार कर रही थी। (३) नई कम्पनी के सदस्य जिन्होंने ज्वाइंट स्टाक में सम्मिलित होने से इन्कार कर दिया था और यहाँ पर यह भी याद रखना चाहिए कि १७०१ के पश्चात् पुरानी कम्पनी इसी वर्ग के अन्तर्गत आती थी। इन पृथक् व्यापारियों की पूँजी पुरानी कम्पनी से अलग २२,००० पौंड से अधिक नहीं थी। (४) चौथे प्रकार के व्यापारी वे साहसी सौदागर थे जो १६६४ के कामन्स के निश्चय के पश्चात् व्यापार करने के लिए निकल पड़े थे और १६६८ तक, जब जनरल सोसाइटी का निर्माण हुआ, जाते रहे थे।

दोनों कम्पनियों का संघर्ष :—अन्तिम दो प्रकार के प्राइवेट व्यापारियों का कोई विशेष महत्त्व नहीं था और व्यापारिक प्रधानता प्राप्त करने के लिए पुरानी या लंदन कम्पनी और नवीन या अंग्रेजी कम्पनी में संघर्ष चलता रहा। यहाँ पर यह प्रश्न सहज ही में किया जा सकता है कि

सरकार ने पुरानी कम्पनी को तीन वर्ष का नोटिस देकर उसको समाप्त करके नई कम्पनी को भारतवर्ष के साथ व्यापार करने का पूर्ण अधिकार क्यों नहीं दे दिया ? दोनों कम्पनियों को तीन वर्ष तक पारस्परिक द्वेष रखते तथा संघर्ष करते हुए व्यापार करना अत्यन्त अराजनैतिक प्रतीत होता है, परन्तु तथ्य यह है कि व्यवहारिक दृष्टिकोण से व्यापार का कुछ समय के लिए भी बन्द होना सर्वथा अवांछनीय था। यदि उन पर ही छोड़ दिया जाता तो पुरानी कम्पनी अपना कारोबार इस प्रकार समाप्त कर देती कि भारत के साथ ब्रिटिश सम्बन्ध सर्वथा ही छिन्न-भिन्न हो जाते। निस्सन्देह इस संघर्ष से हानि थी, परन्तु फिर भी भविष्य में लाभ की इस आशा से कि दोनों कम्पनियाँ मिलकर एक हो जाएँगी, इसमें कोई परिवर्तन नहीं किया गया। इस बात का पता इण्डिया आफिस में संग्रहीत लेखों से चलता है, परन्तु दोनों कम्पनियों में इंगलैंड और भारतवर्ष दोनों देशों में भयंकर संघर्ष चलता रहा।

पुरानी कम्पनी प्रथम बार में लड़खड़ा गई परन्तु अनुभवी सैनिकों की भांति उसने युद्ध के लिए तैयारी की। अपनी स्थिति का ठीक अनुमान करने पर उनको ज्ञात हुआ कि उनकी दशा इतनी शोचनीय नहीं थी जितना कि उनका विचार था। अभी तक उनके अधिकार में पौर्वत्य में दुर्ग एवं व्यापारिक कोठियाँ थी जिनसे पार्लियामेंट का कोई कानून उनको वंचित नहीं कर सकता था। कम से कम तीन वर्ष तक अपनी प्राचीन प्रथा के अनुसार व्यापार करने का अधिकार भी उनके पास था। तीन वर्ष के पश्चात् भी जनरल सोसाइटी के सदस्यों की हैसियत से अपनी ३ लाख १५ हजार पौंड की सिमित पूँजी से, जिसको उसने अपने कोषाध्यक्ष के नाम से एकत्रित किया था, व्यापार कर सकते थे। केवल एक सन्देह अवश्य था कि क्या वे इस धन को अपने समुदाय के नाम में नियमानुसार हस्तान्तरित करा सकते थे, जो अभी तक जनरल सोसाइटी की किताबों में जान डुबोई के नाम में लिखा हुआ था। अब अपनी स्थिति को सुदृढ़ करने के लिए उन्होंने एक ऐसा कानून पास करने लिए प्रार्थना करना आरम्भ किया जिसके द्वारा उनका संघ अपनी लन्दन कम्पनी के रूप में अन्त हो जाने पर भी जीवित रह सके।

दूसरी ओर नवीन कम्पनी को सरकार को अपनी पूँजी ऋण रूप में देकर और धन एकत्रित करने में बड़ी कठिनाई हो रही थी और पौर्वत्य में

अपने शत्रुओं के सामने, जहाँ पर उनकी स्थिति पहले से ही अपेक्षाकृत सुदृढ़ थी, अपने ठिकाने स्थापित करने में बड़ी कठिनाई का अनुभव हो रहा था। उन्होंने भारतवर्ष में पुरानी कम्पनी के केंद्रों में या उनके निकट ही अपने डेरे डालने का निश्चय किया। निश्चय ही उनको यह आशा रही होगी कि तीन वर्ष के पश्चात् उनकी कोठियों और अन्य भवनों पर उनका आधिपत्य हो जायगा। उन्होंने अपने प्रतिनिधि बनाकर सर निकोलस वेट को बम्बई, सर एडवर्ड लिटिलटन को बंगाल और जॉन पिट को मद्रास भेजा, परन्तु उनकी यह छुट्टी दुर्भाग्यपूर्ण रही। ये सब आदमी पुरानी कम्पनी के निकाले हुए नौकर थे और वे अपनी नई सेवा में भी अयोग्य तथा कुपात्र सिद्ध हुए। नवीन कम्पनी ने व्यापारिक कोठियों को किलेबन्दी करके व्यापार करने की पुरानी कम्पनी का विरोध किया और भारतीय शक्तियों के साथ कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित करने की नीति को अपनाया। इसलिए उन्होंने सर विलियम नौरिस को ही, जो पार्लियामेंट का सदस्य था, मुगल दरबार में भेजने के लिए, अपना राजदूत मुगल सम्राट् औरंगजेब से वही व्यापारिक अधिकार प्राप्त करने के लिए, जैसे सर टामस-रो सम्राट् जहाँगीर से प्राप्त किए थे, नहीं बनाया था; वरन् उन्होंने अपने सम्राट् से अपने प्रेजीडेण्टों के लिए सम्राट् के मुख्य सलाहकार के कमीशन भी प्राप्त कर लिए थे। इन कमीशनों के द्वारा पुरानी कम्पनी के साथ झगड़ा और भी अधिक बढ़ गया, क्योंकि पुरानी कम्पनी ने इनकी क्षमता स्वीकार करने से, जब तक उनके तीन वर्ष का समय समाप्त न हो जाय, इन्कार कर दिया। नई कम्पनी के कर्मचारियों का कहना था कि उनके विश्वास-पात्रों को आरम्भ से ही स्वीकृत करना चाहिए और धमकी देते थे कि जो उनकी बात को नहीं सुनेगा उनको कारागार में बन्दी बना कर डाल दिया जायगा। नौरिस ने लिखा था, “सब अंग्रेज मेरी ही देख-रेख में हैं,” इस अनधिकार चेष्टा पर उसके प्रतिस्पर्धियों ने बड़ी घृणा प्रदर्शित की। उन्होंने उत्तर में कहा कि “हमको कौंसिल, डिप्टी कौंसिल या वाइस एडमिरल आदि की अपनी रक्षा के लिए तनिक भी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि हमारे पास हमारे सुदृढ़ दुर्ग हैं जिनके ऊपर हमारे सम्राट् का झण्डा लहराता है।”

दोनों कम्पनियों के संघर्ष में पुरानी कम्पनी सुदृढ़ व्यापारिक कम्पनियों, दीर्घकालिक अनुभव और अधिक सुयोग्य कर्मचारियों के कारण सर्वथा विजयी रही। परन्तु इस संघर्ष में सबसे अधिक दुःखदायी बात

नौरिस को असफलता थी, जिससे बड़ी आशाएँ थीं। नई कम्पनी ने जितने आदमी बाहर भारतवर्ष में भेजे थे, उनमें सर विलियम नौरिस सबसे आदरणीय था। वह परिश्रमशील, ईमानदार और बड़ा नेक था परन्तु जिस कार्य के लिए उसको नियुक्त किया गया उसके लिए एक सच्चे राजनीतिज्ञ की क्षमता उसमें नहीं थी। उसका असंख्य धन व्यय करके बहुत समय पश्चात् औरंगजेब के समक्ष जाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। औरंगजेब इस समय मरहटों के विरुद्ध बीजापुर के निकट पनहला में युद्ध कर रहा था। परन्तु नौरिस, निकोलस वेष्ट के शरारत भरे हस्तक्षेप के कारण कोई व्यापारिक सन्धि नहीं कर सका। निकोलस ने बिना किसी अधिकार के मुगल सम्राट् को यह वचन दे दिया कि नई कम्पनी अरब सागर तथा फारिस की खाड़ी में हज यात्रियों की सुरक्षा का भार अपने ऊपर लेती है। इस सुरक्षा का उत्तरदायित्व अब तक अंग्रेजों, फ्रान्सीसियों और डच लोगों पर समान रूप से था और जदूत नौरिस को सम्पूर्ण भार अंग्रेजी नई कम्पनी के ऊपर रख देना सर्वथा असम्भव था। अब सम्राट् ने इस नई कम्पनी को कोई भी व्यापारिक अधिकार देने के लिए समुद्र को रक्षा एक आवश्यक शर्त ठहराई। नौरिक दुःखी होकर वापस तट पर लौट आया। उसको उतना अधिक शारीरिक परिश्रम करना पड़ा, और ऐसी तीव्र मानसिक वेदना सहन करनी पड़ी कि वापस इंग्लैंड जाते हुए मार्ग में ही उसका देहान्त हो गया। राजदूत के इस पतन के कारण निलोकस का मूर्खता-पूर्ण हस्तक्षेप पुरानी कम्पनी के एजेण्टों की चालाकियाँ, नौरिस की पूर्वी देशों की राजनीति से अनभिज्ञता और मुगल साम्राज्य को उस समय की अव्यवस्था थी।

एकीकरण :—जब इस प्रकार भारतवर्ष में दोनों कम्पनियों में संघर्ष चल रहा था ; इंग्लैंड में इन प्रतिस्पर्धी दलों में एकीकरण के लिए प्रयत्न किये जा रहे थे; नई कम्पनी ने शक्ति द्वारा पुरानी कम्पनी को पराजित करने की अपनी सब आशाएँ त्याग दी थीं और अब वे अपने लिए हितकारी आधार पर यूनियन बनाने के पक्ष में थे। कम्पनियों के शत्रुओं ने भी स्वीकार किया था 'भारत में दो विक्रेता यूरोपियन सामान के मूल्य को कम करते हैं और दो खरीदने वाले वहाँ पर भारतीय सामान के मूल्य को बढ़ाते हैं, एकीकरण के कार्य को सरल बनाने वाले और भी अन्य कारण थे। फ्रांस के साथ युद्ध के बादल उमड़ रहे थे और यह पूर्व में घरेलू झगड़े

का अन्त करने का एक शक्तिशाली कारण था। कुछ समय के लिए इंग्लैंड में भारतीय व्यापार का प्रश्न सबसे अधिक महत्वपूर्ण था और विशेषकर १७०१ के चुनाव के समय में दोनों ही दल चालाकी और बदमाशी से काम लेते थे, धन को पानी की तरह बहाते थे और निर्वाचकों में भ्रष्टाचार फैलाकर निरीक्षकों को बदनाम करते थे। सम्राट और पार्लियामेंट दोनों ही समझौता कराने के लिए उत्सुक थे और दोनों कम्पनियों पर दबाव डाल रहे थे।

उपरोक्त सब कारणों के फलस्वरूप दोनों कम्पनियों के प्रतिनिधियों ने यूनियन-पत्र पर अप्रैल १७०२ में हस्ताक्षर कर दिए। भारतवर्ष में पुरानी कम्पनी के मकान, व्यापारिक कोठियों और किलों का मूल्य ३ लाख ३० हजार पौंड आँका गया और नई कम्पनी का ७० हजार पौंड और नई कम्पनी द्वारा पुरानी कम्पनी को १ लाख ३० हजार पौंड भुगतान करने की आज्ञा दे दी गई। अब पुरानी चौबीस कमेटियों के स्थान पर चौबीस मैनेजर बनाये गये, जिनमें से प्रत्येक कम्पनी को बारह २ मैनेजर निर्वाचित करने का अधिकार दिया गया। १७०२ के पश्चात् व्यापार के संचालन का उत्तरदायित्व इन मैनेजरों पर रखा गया। दोनों कम्पनियों के कर्मचारियों को जो पौर्वत्य में थे, मिल-जुल कर कार्य करने की आज्ञा दी गई और कभी २ क्रमशः प्रेजीडेण्ट बनने का भी अधिकार उनको दिया गया। २६ जौलाई १७०२ को पुरानी कम्पनी का अपने भारत-स्थित कर्मचारियों को भेजा हुआ पत्र इस प्रकार था, “आप लोगों की पुरानी प्रति-स्पर्धा और झगड़ों का इस यूनियन ने अन्त कर दिया है और भारतवर्ष के साथ व्यापार पार्लियामेंट के एक कानून और एक बड़े स्टाक के सुनिश्चित आधार पर निश्चित कर दिया गया है। हम आशा करते हैं कि इसके द्वारा हमारा व्यापार सदा से अधिक समृद्ध होगा। इससे हमारी जाति के मान और साहसी व्यापारियों के लाभ में वृद्धि होगी।” इसके होते हुए भी भारत में अंग्रेजों में बहुत काल तक पारस्परिक वैमनस्य चलता रहा और अंग्रेजी सरकार की हार्दिक इच्छा “बीती हुई बातों को शान्ति और भूल के गर्त में दफन करना” बहुत काल पश्चात् सफल हो सकी। इंग्लैंड में भी यूनियन १७०८ तक जब गोडोलफिन ने सब विवादग्रस्त बातों का निबटारा किया, सुनिश्चित एवं पूर्ण न हो सकी। अब से आगे केवल एक कम्पनी थी, जिसका नाम ‘ईस्ट इण्डिया’ से व्यापार करने वाली इंग्लैंड के

व्यापारियों को संयुक्त कम्पनी" था। इस संस्था को समय २ पर नये २-आज्ञा-पत्र मिलते रहे, जिनके कारण उसके एकाधिकार का समय बढ़ता ही गया और यद्यपि समयानुसार उसकी राजनैतिक शक्ति को कम किया जाता रहा था; तो भी इसका संघात्मक जीवन १८५७ के राज-विप्लव तक चलता रहा, जब इसके अवशिष्ट विशेषाधिकारों का अन्त करके इसके अधिकृत प्रदेशों को सम्राट् को दे दिया गया।

छठा अध्याय

भारत में अंग्रेजी बस्तियों की वृद्धि (१७०८-४६)

ऑस्टेड कम्पनी

सामयिक भारत :—१७०८ में दोनों कम्पनियों के संयुक्त हो जाने के पश्चात् इंग्लैंड में ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थिति अनेकों वर्षों के लिए सुरक्षित हो गई थी और भारतवर्ष में व्यापारिक उन्नति का युग आरम्भ हुआ। इस युग की अधिकतर इतिहासकार उपेक्षा करते हैं और सीधे एक दम १७४६ पर पहुँचते हैं। जब कम्पनी एक यूरोपीय महायुद्ध की भंवर में फँसी हुई थी और भारतीय राजवंशों के साथ झगड़ों में उलझी हुई थी, तथा स्वयं भी एक प्रान्तीय शक्ति बन गई थी, परन्तु औपनिवेशिक दृष्टि-कोण से इस समय की ओर अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है। अंग्रेज लोग भारतवर्ष में उस समय अपने पैर जमा चुके थे जब कि मुगल साम्राज्य अपनी शक्ति के उच्चतम शिखर पर था और देश के कोने २ में उसकी तूती बोलती थी। १७०७ में अन्तिम महान् मुगल सम्राट् औरंगजेब की मृत्यु हुई, अर्थात् गोडोलफिन द्वारा दोनों प्रतिद्वन्द्वी अंग्रेजी कम्पनियों के संयुक्त होने के एक वर्ष पूर्व उसने एक दीर्घकाल तक राज्य किया और दक्षिण को पराजित कर अपने अधीन कर लिया था, परन्तु दक्षिण विजय करने में उसने अपने राज्य की जड़ खोलली कर ली थी। जिस समय उसकी मृत्यु हुई इस समय उसके धार्मिक पक्षपात के कारण राजपूत उसके विरुद्ध सशस्त्र तैयार थे, सिक्ख भी विद्रोह के चिन्ह प्रकट करने लगे थे। दक्षिणी भारत में अराजकता फैली हुई थी, क्योंकि औरंगजेब ने बीजापुर और गोलकुण्डा के राज्यों का अन्त करके उनके स्थान पर कोई शक्तिशाली राज्य की स्थापना

नहीं की थी और विजयी मरहटा लॉग पश्चिमी और मध्य भारत में स्वतंत्रता-पूर्वक विचरण करते थे और आगामी पचास वर्षों में उनकी शक्ति का सामना करने वाला कोई नहीं था। सिंध नदी तक समस्त देश उनकी विजय के गीत गाता था। औरंगजेब के देहान्त के पश्चात् दिल्ली के सिंहासन पर जल्दी २ अनेकों सम्राट् आरूढ़ हुए, जिनका राज्य-काल अत्यन्त संकटपूर्ण और अल्पायु रहा। अब से आगे मुगल शासन, जैसा कि दुसी नामक एक फ्रांसीसी ने—जो एक बड़ा तीव्र निरीक्षक था—लिखा है, ‘अनेकों शक्तियों के होते हुए भी दुर्बल था और अतुल सम्पत्ति होते हुए भी निर्धन था, क्योंकि उसका शासन प्रबन्ध अत्यन्त शोचनीय हो गया था।’ प्रान्तों के सूबेदार या वाइसराय राजधानी की तनिक भी चिंता नहीं करते थे, और जब जहाँ भी महरठा-शक्ति का सफलतापूर्वक सामना करने के योग्य होते थे तबभी और वहीं पर अपने स्वतन्त्र राज्यों की स्थापना कर लेते थे।

स्थिति से लाभ :—यद्यपि ये राजनीतिक परिवर्तन ईस्ट इण्डिया कम्पनी के लिये भविष्य में कठिनाइयों तथा भय के सूचक थे तो भी इस समय इनके कारण कम्पनी का कार्य अति सरल हो गया और देश की इस दशा से कम्पनी के चालाक, लम्पट और धूर्त कर्मचारियों ने पूरा २ लाभ उठाया। छल, छद्म और शक्ति द्वारा अंग्रेजी व्यापारी कोठियाँ मुसलमान सूबेदारों और तटीय हिन्दू राजाओं का सामना करने को तैयार रहती थीं। चालाकी और धूर्तता के कुछ ऐसे जाल ये लोग बिछाते थे कि देशीय राजा और नवाबों को उनसे निकलना असम्भव हो जाता था। कभी २ ये देशीय शक्तियाँ अपने प्रतिद्वन्द्वियों पर विजय प्राप्त करने के विचार से इनका स्वागत भी करती थीं।

हैमिलटन का आज्ञा-पत्र :—अंग्रेजों ने दिल्ली की क्रांतियों से, जिनकी इस समय भरमार हो रही थी, लाभ उठाकर अपनी सत्ता को नियमित रूप देने का प्रयत्न किया। १७०७ में सम्राट् औरंगजेब की मृत्यु का समाचार सुनकर उन्होंने बंगाल में फोर्ट विलियम को सुदृढ़ करने की शीघ्रता की “जब तक कोई सम्राट् सुनिश्चित रूप से सिंहासनारूढ़ हो और किसी को इस बात का पता न चले कि हम (अंग्रेज) क्या कर रहे हैं।” (सी. आर. विल्सन द्वारा लिखित बंगाल में अंग्रेजों का प्रारम्भिक इतिहास) १७१५ में जॉन सरमन और एडवर्ड स्टीफेन्सन के अधीन एक राजदूत-दल

कलकत्ता से दिल्ली की ओर रवाना हुआ। वहाँ पर बहुत समय बड़े सन्तोष का प्रदर्शन करने के पश्चात् उन्होंने मुग़ल सम्राट् से फ़रमान प्राप्त किए जो ओमें के शब्दों में कम्पनी का मैगनाकार्टा (महान् अधिकार-पत्र) थे। इस महान् सफलता का कारण मुग़ल सम्राट् की कृतज्ञता थी, जो उसने विलियम हैमिल्टन के प्रति प्रदर्शित की, क्योंकि यह हैमिल्टन राजदूतों के साथ एक डाक्टर था और इसने मुग़ल सम्राट् के एक भयंकर रोग का सफल उपचार किया था। कलकत्ता और मद्रास के समीप के कुछ गाँव कंपनी को दे दिये गये थे और कंपनी के सेवकों को भारतवर्ष में निवास करने के लिए नियम-पूर्वक स्वीकृति दे दी थी। इस विशेष अनुकम्पा का मूल्य इस कारण से कुछ कम हो गया था कि अबसे आगे मुग़ल शक्ति भी उत्तरी भारत के अतिरिक्त अत्यन्त हीन हो रही थी; परन्तु एडमण्ड बर्क के शब्दों में अब ईस्ट इण्डिया कंपनी मुग़ल साम्राज्य का नियमानुसार एक अंग बन गई थी। दिल्ली गये हुए इन राजदूतों ने मुग़ल साम्राज्य की अत्यन्त हीन तथा शोचनीय अवस्था का भण्डा फोड़ दिया था। वह उपहार, जो ये राजदूत सम्राट् फर्रुखसियर को ले गये थे, आरंभ में बहादुरशाह के लिए तैयार किया गया था, और फिर उसके पश्चात् उत्तराधिकारी जहाँदारशाह के निमित्त उसको रक्खा गया, परन्तु देश में अराजकता होने के कारण किसी को भी नहीं दिया गया। इन लोगों ने दिल्ली की सड़कों पर मुग़ल-सेना को विद्रोह करते हुए देखा। उन्होंने यह भी भली प्रकार देखा कि मुग़ल सम्राट् इस समय मंत्रियों के हाथ की एक कठपुतली बना हुआ था।

ओस्टेण्ड कम्पनी से संघर्ष :—अठारहवीं शताब्दी के प्रारम्भिक तीस वर्षों में अंग्रेजी कम्पनी का ओस्टेण्ड कम्पनी के साथ बड़ा संघर्ष रहा। इस संघर्ष से सम्बन्ध रखने वाले लेखों का संग्रह इण्डिया आफिस में प्रचुर मात्रा में अब तक विद्यमान है। नीदरलैण्ड के सात संयुक्त प्रान्तों के विद्रोह के पश्चात् शेष दस प्रान्तों का इतिहास बड़ा विचित्र रहा है। ये प्रान्त आस्ट्रेलिया और स्पेन के बीच खिलौना बने हुए थे। कभी पहले के साथ मिल जाते और फिर दूसरे की ओर चले जाते थे। इस अनिश्चित स्थिति में इन प्रान्तों ने अनेकों बार भारतवर्ष के समृद्धिशाली व्यापार में भाग लेने का प्रयत्न किया था। परन्तु ये सब प्रयत्न निरर्थक सिद्ध हुए। १६६८ में तो एक बार उनको सफलता प्राप्त होती-सी प्रतीत होती थी, परन्तु दुर्भाग्यवश स्पेन के सम्राट् चार्ल्स द्वितीय की मृत्यु और उसके पश्चात् स्पेनी

सिंहासन के लिए उत्तराधिकार युद्ध के कारण उनका उद्देश्य पूरा न हो सका। इसके पश्चात् फिर बारह वर्ष तक ये निम्न प्रदेश एक विशाल समर-भूमि में परिणत हो गये जिसमें यूरोप की सेनाओं का तुमुल घोष प्रति-ध्वनित होता रहता था। १७१३ की यूट्रेक्ट की सन्धि के पश्चात् व्यापार का पुनर्जीवन हुआ और देश फिर आस्ट्रिया घराने के अधिकार में आ गया। अब उनका सम्राट् चार्ल्स षष्ठ भी पूर्वी देशों के व्यापार में भाग प्राप्त करने के उनके प्रयत्नों को अपने कुछ व्यक्तिगत कारणों से पूरी सहायता देने को तैयार था। भारतीय व्यापार के लाभ के आधार पर सम्राट् एक विशाल व्यापारिक जहाजी बेड़ा बनाना चाहता था, जो अंग्रेजों और डच लोगों की सर्वोच्च जल-शक्ति का सामना कर सके।

१७१२ तक ओस्टेण्ड कम्पनी का निर्माण नहीं हुआ, परन्तु १७१४ में ही अकेले जहाजों को व्यापार करने की आज्ञा प्रदान कर दी गई प्रतीत होती है और १७१६ में प्रिंस आफ वेल्स ने, जो उस समय अपने पिता की अनुपस्थिति में रीजेन्ट का कार्य कर रहा था, उन लोगों के विरुद्ध—जो विदेशी क्लण्डे के नीचे पूर्वी देशों से व्यापार कर रहे थे,—एक घोषणा प्रकाशित की। १७१८ से १७२१ तक १५ जहाज ओस्टेण्ड से पूर्व की ओर रवाना हुए। अनेकों डच और अंग्रेजों ने, जिनको जैकोवाइट (गेम्स के पक्षपाती) होने के कारण देश से निकाल दिया गया था, ओस्टेण्ड कम्पनी के यहाँ नौकरी कर ली थी। कुछ समय तक तो व्यापारियों के क्षणिक समुदाय के अन्तर्गत यह व्यापार चलता रहा। लिस्बन, लैघोर्न और ओस्टेण्ड से जहाज जाते रहे और कभी-कभी कुछ लोगों के मतानुसार ब्रिटिश बन्दरगाहों से रवाना होते रहते थे। सम्राट् का यह भी विचार था कि भारतीय बेड़े के लिए एट्रियांटिक के तट पर क्यूम और ट्रीस्टे पर स्टेशन बनाये जायँ, परन्तु उनकी योजना का यह भाग कम से कम उस समय, समुन्नत नहीं हो सका।

कुछ समय पश्चात् ही ओस्टेण्ड व्यापारी अपनी संस्था को नियमित रूप देने के लिए आन्दोलन करने लगे। डी मरवेली ने, जो पहले अंग्रेजों की सेना में कप्तान रह चुका था, सबसे पहले सम्राट् के समक्ष अपनी योजना रखी। परन्तु सम्राट् ने अपने मन्त्रियों और विशेषकर राजकुमार यूजेन की सलाह मानकर जो नीदरलैंड्स में (१७१६-२४) गवर्नर रहा था, ऐसे प्रस्ताव को, इस भय से कि कहीं अन्य जल-शक्तियों से शत्रुता न हो जाय, स्वीकार करने से इन्कार कर दिया। इंगलैंड और हालैंड ने इस नये प्रतिद्वन्द्वी के

प्रति अपने शेष का परिचय पहले ही दे दिया था। यह नियम-विरुद्ध व्यापार बड़ी बड़ी नावों के द्वारा होता था जिनमें दस या बारह डांड चलते थे। इसको रोकने के लिए १७१६ और २१ में पार्लियामेंट ने विशेष नियम पास किये, जिनके अन्तर्गत अंग्रेजों को विदेशी सरकार के कमीशन द्वारा इण्डोन्ज से व्यापार करने पर प्रतिबन्ध लगाया गया और ऐसी प्रत्येक नाव पर भी प्रतिबन्ध लगा दिया गया जिसमें चार से अधिक डांड चलते हों और जो टेम्ज़ नदी में लन्दन पुल के ऊपर या नीचे कहीं पर भी चलती हो। इस नियम के पश्चात् और भी कानून तथा घोषणाएँ प्रकाशित की गईं जिनमें उन अंग्रेजों को कठोर धमकियाँ दी गई थीं जो ओस्टेण्ड व्यापारियों से तनिक भी सम्बन्ध रखते थे।

ओस्टेण्ड कम्पनी की स्थापना :—१७७२ में सम्राट् ने प्रिंस यूजेन और मन्त्रियों की सलाह का विरोध करते हुए इन व्यापारियों को एक चार्टर प्रदान करने का निश्चय किया। कोलब्रुक नामक एक अंग्रेज व्यापारी ने इस महत्वपूर्ण विशेष कृपा के प्राप्त करने में बड़ा मुख्य कार्य किया। २२ दिसम्बर १७२२ को अधिकारपत्र प्रदान किए गये, यद्यपि आगामी वर्ष के ग्रीष्मकाल तक उनको प्रकाशित नहीं किया गया। कम्पनी की पूँजी ६० लाख फ्लोरिन निर्धारित की गई। विदेशी पूँजी को आकृष्ट करने के लिए आज्ञापत्र में एक यह नियम रखा गया कि विदेशियों के हिस्सों पर अधिकार नहीं किया जायगा जब कि आस्ट्रिया और उनके देश में युद्ध होगा। ११ अगस्त को एण्टीवर्ष में हिस्सों की बिक्री का कार्य आरम्भ हुआ और अगले दिन दोपहर तक यथेष्ट पूँजी एकत्रित हो गई।

डच और अंग्रेज विरोध :—अब तक कम्पनी का आरम्भ बड़ा आशापूर्ण था, परन्तु आज्ञापत्र के प्रदान करने ने इंग्लैंड और हालैंड के विरोध को दूना कर दिया। कोई नौ वर्ष तक ओस्टेण्ड कम्पनी का प्रश्न एक अत्यन्त जटिल कूटनीतिक समस्या बना रहा। अगस्त १७२३ तक आज्ञापत्र को जनता में उद्घोषित नहीं किया था परन्तु इसका पता लोगों को चल गया था और अप्रैल में ब्रूसेल्स के डच मन्त्री एम० ब्रीनिक्स ने नीदरलैंड्स के आस्ट्रियन गवर्नर के सामने लिखित विरोध प्रस्तुत किया। डच लोगों के विरोध का आधार १६४८ की मन्स्टर की सन्धि थी जिसमें स्पेन के राजा और नीदरलैंड्स के सम्राट् फिलिप द्वितीय ने आशा अन्तरीप द्वारा भारत के साथ व्यापार पर अपने सब अधिकार त्याग दिये थे। डच लोगों

का कहना था कि आस्ट्रिया के नीदरलैंड्स पर वेरियर सन्धि के अनुसार यह प्रतिबन्ध लागू था। दक्षिणी नीदरलैंड्स पर अधिकार प्राप्त कराने में उन्होंने सम्राट् चार्ल्स षष्ठ की सहायता केवल इस आधार पर की थी कि स्पेन के राजतन्त्र पर भी उसका अधिकार था और इसलिए वह भी इन प्रांतों पर उसी प्रकार अपना आधिपत्य रख सकता है जैसे कि स्पेन के राजा रखते थे। इंगलैंड की ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने डच लोगों का सहर्ष साथ दिया। चारों ओर “प्रोटेस्टेण्ट धर्म संकट में है” की ध्वनि सुनाई देती थी। ऐसा प्रचार किया जाता था कि यदि ओस्टेण्ड कम्पनी की विजय हुई तो “एक प्रमुख प्रोटेस्टेण्ट राज्य के व्यापार और समृद्धि से एक रोमन कैथोलिक राज्य की शक्ति में वृद्धि होगी।” हालैंड में रोप इतना अधिक बढ़ा हुआ था कि स्टेट्स जनरल ने यह धमकी दी कि यदि कोई डच ओस्टेण्ड व्यापार से किसी भी प्रकार का सम्बन्ध रखेगा तो उसको मृत्यु-दण्ड दिया जायगा। यूरोप की अधिकांश जनता का उस समय यह विश्वास था कि बिना युद्ध हुए सम्राट् और डच लोगों की समस्या का निर्णय नहीं हो सकता, परन्तु यद्यपि यह विषय अनेकों वर्षों तक यूरोप की प्रत्येक सन्धि में बार २ आता रहा और कूटनीति का एक जटिल प्रश्न बना रहा, तो भी युद्ध की नौबत नहीं आई। १७२५ में हाउस ऑफ कामन्स ने यह प्रस्ताव पास किया कि वियना की सन्धि द्वारा, जिसमें स्पेन ने आस्ट्रिया की सहायता का वचन दिया था, स्पेन ने अपने अमरीका के सब बन्दरगाह ओस्टेण्ड व्यापारियों के लिए खोल दिये थे, जिसका अर्थ “समस्त ब्रिटिश व्यापार को ठप करना था।” इसके एक वर्ष पश्चात् फ्रांस और हालैंड ने इंगलैंड के साथ मिल कर एक सन्धि द्वारा इस कम्पनी को अनियमित ठहराया। सम्राट् ने देखा यूरोप का विरोध बहुत अधिक बढ़ गया था और साम्राज्य के राज्य नीदरलैंड्स के व्यापार में विशेष रुचि नहीं रखते थे। १७२६ में बवेरिया ने घोषणा की यदि ओस्टेण्ड कम्पनी के कारण कोई युद्ध होता है तो वह उसको साम्राज्य का युद्ध नहीं मानेगा। अन्त में चार्ल्स ने ओस्टेण्ड कम्पनी और अपनी नीति को अपने वंश के उद्देश्यों पर बलिदान कर दिया सम्राट् चार्ल्स षष्ठ के कोई पुत्र नहीं था, इसलिए वह अपनी पुत्री मेरिया थेरेसा को अपनी उत्तराधिकारिणी बनाना चाहता था। इसके लिए उसने ‘प्रागमैटिक सैंक्शन’ पर यूरोप के सभी मुख्य शक्तियों के हस्ताक्षर करायें थे और ऐसा कराने के लिये उसने सात वर्ष के लिये कम्पनी के सब विशेषा-

धिकारों को समाप्त कर दिया और फिर १७३१ में इंगलैंड के साथ एक और सन्धि करके उसने कम्पनी का अन्त कर देने का वचन दिया और यह प्रण किया कि वह कभी किसी भी जहाज को किसी ऐसे देश से, जो इंगलैंड के चार्ल्स द्वितीय के शासन-काल में स्पेन के अधीन रहा हो, भारत के साथ व्यापार करने की आज्ञा नहीं देगा।

ओस्टेण्ड कम्पनी ने एड्रियाटिक समुद्रतट पर फ्यूम और ट्रिस्टे क बन्दरगाहों में अपनी स्थिति की पुनर्स्थापना का प्रयत्न किया परन्तु कोई सफलता नहीं मिली। १७२८ में डेनमार्क के फ्रेडरिक चतुर्थ ने एक विशेष आज्ञापत्र द्वारा ओस्टेण्ड कम्पनी के अनेकों सदस्यों को अपने देशवासियों के साथ मिल कर भारतवर्ष के साथ व्यापार करने का अवसर प्रदान किया और डेनमार्क के एक नगर अल्टोना में, जो साम्राज्य के स्वतन्त्र नगर हेम्बर्ग के निकट था, एक इण्डिया हाउस स्थापित किया। ओस्टेण्ड कम्पनी के और दूसरे सदस्य स्वीडन की कम्पनी के, जो १७३१ में बनी थी, मैम्बर बन गये। स्वीडन की कम्पनी के साथ कोई विशेष झगड़ा नहीं हुआ क्योंकि इसका व्यापार भारतवर्ष के साथ इतना नहीं था जितना कि सुदूर पूर्व चीन और जापान के साथ था। परन्तु डेनमार्क में ब्रिटिश और डच राजदूतों ने डेनमार्क की नई संस्था के विरुद्ध इस आधार पर विरोध किया कि यह ओस्टेण्ड कम्पनी को पुनर्जीवित करना था और यद्यपि डेनमार्क के राजा फ्रेडरिक चतुर्थ ने इस बात को स्वीकार करने से इन्कार किया, परन्तु अल्टोना का इण्डिया हाउस कुछ काज पश्चात् बन्द कर दिया गया। यद्यपि ओस्टेण्ड कम्पनी की चर्चा यूरोप के राजनीतिक क्षेत्रों में ही अधिक थी, तो भी भारतवर्ष में इसने हुगली नदी पर बाँकीपुर और मद्रास के समीप कोवेलोन में अपने ठिकाने स्थापित कर लिये थे और कम्पनी का अन्त होने तक यूरोप से भेजे गये जहाजों की संख्या निरन्तर बढ़ती गई और सदस्यों को बड़ा अच्छा लाभ रहा था। परन्तु भारतवर्ष में इस कम्पनी को बड़े कट्टर शत्रुओं का सामना करना पड़ा। बंगाल के अंग्रेज सौदागरों ने बाँकीपुर के प्रधान ह्यूम को, जो एक अंग्रेज ही था, बन्दी बनाने का प्रयत्न किया। आरम्भ से ही डच लोग ओस्टेण्ड कम्पनी के जहाजों को पकड़ने में तनिक भी नहीं हिचकते थे और जब सम्राट् ने इस कम्पनी का त्याग कर दिया तो उसके सब ठिकानों का सहसा पतन हो गया। १७३० में अंग्रेजों ने गंगा में उसका एक जहाज पकड़ लिया और कप्तान गोसफ्राइड के दस्ते

ने दो और जहाजों को घेर लिया। अन्त में १७३३ में बंगाल की प्रिंसीडेन्सी ने एक मुसलमान अफसर को बाँकीपुर पर आक्रमण करने के लिए उत्तेजित किया; जिसमें अभी तक चौदह सिपाही रक्षार्थ मौजूद थे। उन्होंने वीरता से सामना किया परन्तु हथियार डालने पर बाध्य हुए और उनको वापिस यूरोप ले जाया गया। कोव्लोन की कोठी कुछ और अधिक समय तक जीवित रही। कम्पनी नियमित रूप से १७६३ तक अकर्मण्य नहीं हुई।

ओस्टेण्ड कम्पनी का अन्त :—इस प्रकार भाग्यहीन ओस्टेण्ड कम्पनी का अन्त हुआ। समकालीन लोगों को ऐसा लगा जैसे एक विशाल दैत्य का वध हो गया हो। वोयर लिखता है कि उस काल के सब यूरोपीय झगड़ों का मूल कारण ओस्टेण्ड कंपनी का जन्म था और जब इसका अन्त हुआ तो महाद्वीप में सर्वत्र शान्ति पुनर्स्थापित होगई। कुछ ही वर्षों में प्रबुद्ध राजनीतिज्ञों ने यह भली प्रकार समझना आरम्भ कर दिया था कि इस संबंध में इंगलैंड का कार्य केवल स्वार्थपूर्ण ही नहीं था वरन् इससे लाभ की भी पूर्ण आशा नहीं थी। १७४२ में पिट ने कहा था, “ओस्टेण्ड कंपनी के अन्त कराने की माँग करने का हमको कोई अधिकार नहीं था और उसका अन्त करने में हमारा कोई हित भी नहीं था, क्योंकि यह फ्रांस और हालैंड की ईस्ट इण्डिया कंपनी का हमारी अपेक्षा अधिक विरोध करती।”

स्पेन उत्तराधिकार युद्ध का प्रभाव :—स्पेन के उत्तराधिकार युद्ध का इंडीज पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। युद्ध अधिकतर समुद्र पर हुआ था और बाहर जाने वाले और अन्दर आने वाले जहाजों की चिंता के अतिरिक्त फ्रांस से और किसी प्रकार का भय नहीं था। युद्ध के पूर्णकाल (१७०२-१३) में कंपनी के सात जहाजों से अधिक नष्ट हुए थे। १७१२ में मद्रास और कलकत्ता के बीच डाकिये नियुक्त कर दिये गये थे जो समुद्री तट पर चलने वाले प्रत्येक फ्रांस जहाज की सूचना शीघ्रता से बंगाल पहुँचाते थे। परन्तु इस युद्ध का ठिकानों पर कितना कम प्रभाव पड़ा यह इस बात से प्रकट हो जाता है कि १७१२ में फोर्ट सेंट डेविड के अंग्रेजों ने जो जिन्जी के राजा से युद्ध कर रहे थे, पाँडेचेरी के फ्रेन्च गवर्नर एम. हवर्ट से मध्यस्थ होने की प्रार्थना की थी। एम. हवर्ट ने आरम्भ में तो आनाकानी की क्योंकि इंगलैंड और फ्रांस दोनों देशों में अभी तक युद्ध चल रहा था, परन्तु अन्त में उसने मध्यस्थ होने का निश्चय किया और दोनों पक्षों में फैसला करा दिया।

मुग़ल पतन का प्रभाव (बंगाल) : बंगाल में यूरोप-निवासियों ने मुग़ल शक्ति के पतन से पैदा हुए प्रभावों को बंबई और मद्रास के यूरोपियनों की अपेक्षा कम महसूस किया। मुग़ल सम्राट् का नियन्त्रण बंगाल के सूबेदारों या नवाबों पर अन्य प्रान्तों की अपेक्षा अधिक काल तक चलता रहा, यद्यपि समयोपरान्त वे भी पूर्णतया स्वतन्त्र हो गये थे। अठारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में बंगाल की सामाजिक एवं आर्थिक दशा अच्छी थी। प्रान्त में सुशासन होने के कारण शान्ति और व्यवस्था थी। १७१३ से १७५६ तक मुर्शिद कुलीखॉ, शुजाखॉ और अलीवर्दीखॉ तीन बड़े योग्य शासक थे। कलकत्ता में रहने वाले अंग्रेज लोग यद्यपि जब तब मुग़ल अफसरों की शिकायत करते रहते थे, तो भी बंगाल के नवाबों का उनके साथ बर्ताव बहुत अच्छा था। बंगाल के व्यापार में रेशम, मलमल, चीनी, अफीम, चावल, जूट और तेल आदि सम्मिलित थे जो भारतवर्ष में सबसे अधिक मूल्यवान् समझे जाते थे। अंग्रेजी व्यापारिक कोठी, सामानघर, गोदाम और दुर्ग के चारों ओर एक समृद्ध नगर उठ खड़ा हुआ, जिसकी जनसंख्या १७३५ में १ लाख के लगभग थी।

पश्चिमी तट :—पश्चिमी समुद्रतट पर मुग़ल साम्राज्य के पतन का बंबई पर सबसे अधिक प्रभाव पड़ा। मरहटा शक्ति अब महाराष्ट्र से निरन्तर उत्तर की ओर बढ़ रही थी और अंग्रेजों तथा पुर्तगालियों के ठिकानों के भीतरी भागों पर उसका अधिपत्य होता जा रहा था। राष्ट्रपति शिवाजी के वंशज अभी तक सितारा में नाम-मात्र के शासक थे, परन्तु वास्तविक शक्ति उनके हाथ से निकल कर उनके मन्त्री पेशवाओं के हाथ में चली गई थी, यह पद पैत्रिक बन गया था और उन्होंने पूना में अपना वंश स्थापित कर लिया था। पेशवाओं की बढ़ती हुई शक्ति से भयभीत होकर अंग्रेज और पुर्तगाली अपनी पुरानी शत्रुता को भूल कर अपने हितों की रक्षा करने के लिए एक हो गये थे। १७३१ में बम्बई से ३०० सिपाहियों का जत्था गोआ भेजा गया परन्तु वे पुर्तगालियों की अधिक सहायता न कर सके क्योंकि भारत में पुर्तगालियों की दशा निश्चय रूप से पतन की ओर अग्रसर हो रही थी। १७३८ में मरहटों ने बम्बई से अट्टाइस मील उत्तर की ओर बेसीन पर अधिकार कर लिया। समुद्र पर कान्होजी आंग्रिया बम्बई और गोआ के बीच विदेशी जहाजों को लूट लिया करता था। उसके पास छोटे २ परन्तु शीघ्रगामी जहाज थे जो समुद्र-तट पर छिपे रहते थे और शत्रु के जहाजों पर

सहसा टूट पड़ते थे। कुछ काल के लिए कान्होजी इन लोगों के लिए भयङ्कर भय का कारण हो गया था। वह आरम्भ में मरहटों के जहाजी बेड़े का कमाण्डर था, परन्तु बाद में स्वतन्त्र हो गया था। आरम्भ में तो उसके आक्रमण मुगलों के जहाजों ही पर होते थे, परन्तु धीरे २ उसने मैडागास्कर के टेलर, इंगलैंड और प्लेनटैन नामक समुद्री डाकुओं के साथ ईस्ट इण्डिया कम्पनी के बड़े से बड़े जहाजों पर भी हाथ साफ करना आरम्भ कर दिया था। १७१७ से २० तक और फिर १७३७ में उसके मुख्य स्थानों पर व्यर्थ हो आक्रमण किए गये। उसकी राजधानी घेरिया कंपनी के बेड़े को नहीं वरन् शाही बेड़े को भी पूरी तरह पछाड़ा। बड़ी कठिनाई के पश्चात् १७५६ में क्लाइव और वाटसन ने इस पर विजय प्राप्त की। कान्होजी का १७२८ या १७३० में देहान्त हो गया परन्तु उसकी मृत्यु के पश्चात् भी उसके लड़के विदेशी सत्ता के पैर उखाड़ने का प्रयत्न करते रहे। एक कोलवा में था और दूसरा सेविनड्रूम में। इस प्रकार बम्बई चारों ओर से आक्रान्ताओं से घिरी रहने के कारण अठारहवीं शताब्दी के प्रथम अठारह वर्ष तक वहाँ पर अंग्रेजों की शक्ति क्षीण ही रही और व्यापार से भी उनको कोई विशेष लाभ नहीं हुआ, परन्तु इसके पश्चात् उनकी उन्नति होनी आरम्भ हुई। १७४४ में बम्बई की जनसंख्या ७० हजार आँकी गई थी। यद्यपि इस समय वह पुर्तगालियों की सफल सहायता करने के लिए समर्थ नहीं थी परन्तु १७४६ तक सैनिक दृष्टिकोण से बम्बई का स्थान प्रोसीडेन्सी नगरों में सर्वोपरि था। बोर्ड ऑफ डाइरेक्टर्स यह नहीं चाहते थे कि बम्बई कोई सैनिक केन्द्र बनाया जाय, अभी तक उनका ध्यान केवल व्यापार की ओर ही अधिक आकृष्ट था, परन्तु तो भी बम्बई के अंग्रेजों ने अपने भारतीय बेड़े को समुन्नत किया और १७३७ में उसकी सेना में २६०० आदमी थे जिनमें ७५० यूरोपियन थे। रक्षा के लिये इतनी बड़ी सेना इस समय मद्रास या कलकत्ता में कहीं पर भी नहीं थी। बम्बई में रहने वाले अंग्रेजों ने बड़ी चालाकी से काम लिया। पहले कान्होजी के विरुद्ध मुगल एडमिरल सीदी से मित्रता कर ली, फिर कान्होजी के दोनों पुत्रों को आपस में लड़ाकर एक का पक्ष ले लिया और फिर मरहटों के विरुद्ध अपने सनातन शत्रु पुर्तगालियों से मित्रता कर ली। इस प्रकार जैसे तैसे करके १७३१ में मरहटों के साथ एक सन्धि करने में वे लोग सफल हुए जिसके द्वारा पेशवा ने अपने राज्य में कम्पनी को स्वतन्त्र व्यापार करने की आज्ञा दे दी।

पूर्वी तट :—दक्षिणी भारत पर औरंगजेब के आक्रमणों का प्रभाव मद्रास पर बहुत गहरा पड़ा था। मुग़ल सम्राट् के अन्तिम प्रयत्नों ने बीजापुर और गोलकुंडा की रियासतों का तो अन्त कर दिया था परन्तु उनका स्थान लेने के लिए किसी योग्य शासन की स्थापना वह नहीं कर सका। एलफिन्स्टन 'भारत के इतिहास' में लिखता है "दक्षिण की उन रियासतों का अन्त हो जाने पर, जो वहाँ शक्ति और व्यवस्था बनाये हुए थीं, समाज का ढाँचा जिसका आधार ये रियासतें थीं, बिगड़ गया और सर्वत्र अशान्ति, अव्यवस्था और अराजकता फैल गई।" दोनों राज्यों की सेनाएँ या तो मरहटों की सेनाओं से जा मिलीं या छोटी-२ टुकड़ी बनाकर इधर उधर लूट मार करती हुई घूमने लगीं। निस्सन्देह सम्भाजी का भी पतन हो गया था, और मुग़ल सम्राट् ने एक-एक करके अनेकों मरहटा दुर्गों पर भी आधिपत्य जमा लिया था। (१७००-१७०४) परन्तु इस समय तक उसकी शक्ति का घटत हो गया था। उसकी आर्थिक व्यवस्था सर्वथा अस्त-व्यस्त हो गई थी, और उसके सैनिक अपने वेतन के लिए एलफिन्स्टन के शब्दों में "इस प्रकार चिल्ला रहे थे जैसे कौवे अपने घोंसले पर आक्रमण होने पर काँव-काँव करते हैं।" १७०७ में जब और औरंगजेब का देहान्त हुआ तो दक्षिण में अराजकता छा रही थी। सितम्बर १७०८ में टामस पिट ने अवकाश पाकर कर्नाटक के नवाब से मद्रास के निकट के पाँच गावों को कंपनी के लिए मंजूर करा लिया। परन्तु कुछ काल तक कंपनी उन पर अपना शाश्वत अधिकार स्थापित न कर सकी क्योंकि कुछ कालोपरान्त नवाब ने अपनी आज्ञा वापिस ले ली थी। इन पाँच गाँवों की प्राप्ति का कारण राजदूत सरमैन था; परन्तु जब १७१७ में फरमान मद्रास पहुँचा तो अंग्रेजों को एक ग्राम में प्रवेश करने के लिए संगीतों का आश्रय लेना पड़ा। कंपनी के आचरण का कैसा विचित्र उदाहरण यहाँ पर मिलता है। जब सम्राट् का फरमान मद्रास पहुँचा तो उसका स्वागत करने के लिए दुर्ग से १५१ तोपों की सलामी दी गई, परन्तु इस फरमान को क्रियात्मक रूप देने के लिए निशस्त्र ग्रामवासियों को संगीनों का निशाना बनाया गया।

हैदराबाद :—थोड़े ही समय में लगभग समस्त दक्षिणी भारत मुग़लों के नियन्त्रण से सर्वथा बाहर हो गया। १७१३ में आसफ़जाह, जो बाद में निज़ामुलमुल्क के नाम से प्रसिद्ध हुआ, दक्षिण का सूबेदार नियुक्त किया गया था। बीच में यद्यपि उसको वापिस बुला लिया गया था,

परन्तु फिर दस वर्ष पश्चात् उसने फिर अपनी शक्ति को सुदृढ़ कर लिया, और केवल नाम मात्र को दिल्ली के अधीन रहा। अब दक्षिणी भारत में निजामुलमुल्क और मरहटों में एक लम्बा युद्ध आरंभ हुआ। इस समय अंग्रेजों ने बड़ी चालाकी से काम लिया। उन्होंने निजाम से मित्रता कर ली और अपने ठिकानों की किलेबन्दी की, अनेकों बहुमूल्य भेंट और चापलूसी-भरे पत्र हैदराबाद को भेजे गये। देशीय शक्तियों के दीर्घकालीन संघर्ष से मद्रास के अंग्रेजों ने बड़ा लाभ उठाया। निजाम या मरहटों में से किसी को भी इतना अवकाश नहीं था जो अंग्रेजों की चोरी-चपनी अपने स्थानों की किलेबन्दी करने और इस प्रकार अपनी शक्ति को सुदृढ़ करने को देखते। उधर कोरोमंडल तट पर कृष्णा और तंजौर के बीच पूर्वी घाट और समुद्र तट के बीच के लम्बे चौड़े उपजाऊ मैदान में एक भारतीय वंश ने अपनी सत्ता स्थापित कर ली थी। ये शासक नाम मात्र को हैदराबाद के निजाम के अधीन थे, जिस प्रकार निजाम सिद्धान्त रूप से मुगल सम्राट के आधीन था। इस प्रकार कर्नाटक और हैदराबाद की छत्रछाया में मद्रास के अंग्रेज शान्तिपूर्वक समृद्धिशाली व्यापार में संलग्न थे। १७४० में मरहटों ने हैदराबाद के विरुद्ध कर्नाटक पर धावा बोल दिया। कर्नाटक का नवाब दोस्त अली रणक्षेत्र में युद्ध करता हुआ यमलोक सिंघारा। फोर्ट सेंट जार्ज के अंग्रेज मरहटों के भय से काँपने लगे परन्तु उन्होंने अपनी रक्षा का समुचित प्रबन्ध कर रखा था। इस समय उनके पास दुर्ग की रक्षार्थ १६३० तोपें थीं। १७४१ में जब मरहटा सेना का मुख्य भाग त्रिचनापली का घेरा डाले हुए था, उस समय मरहटा अश्वारोहियों की कुछ टुकड़ियाँ फोर्ट सेंट डेविड तक लूट-मार कर रही थीं। कर्नाटक में मरहटों को विजय प्राप्त तो हो गई परन्तु दो वर्ष पश्चात् ही फिर निजाम ने उस पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। इससे चार वर्ष पूर्व ही बम्बई ने पेशवा के साथ संधि की ही थी : १७४२-४३ में मरहटों ने बंगाल के नवाब अली वर्दीखान को पराजित किया और मुर्शिदाबाद के आस-पास तक लूट-मार की। इस प्रकार हम देखते हैं कि मरहटा शक्ति ईस्ट इण्डिया कम्पनी के साथ ही प्रोजेडेन्सी नगरों की ओर लगभग एक साथ बढ़ रही थी। १७०८ से १७४४ तक के समय में टामसपिट और जेम्स मैकरे के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ये दोनों मद्रास के प्रोजेजेण्ट थे।

भारत में अंग्रेजों का प्रारम्भिक जीवन :—यहाँ पर ईस्ट इण्डिया

कंपनी के राजनैतिक इतिहास की विवेचना करने से पहले अंग्रेजों के भारत में प्रारंभिक जीवन का उल्लेख करना न्याय-संगत होगा। १६७६ के पश्चात् कंपनी के कर्मचारी अनेकों दर्जों में होकर निकलते थे। आरंभ में वे नव-सिखियों के रूप में भर्ती किये जाते थे और फिर उन्नति करते २ लेखक, फैक्टर्स, व्यापारी और बड़े व्यापारी बनते थे। फैक्टरी इमारतों का एक छोटा-सा समूह होता था, जिनमें प्रेजीडेंट का निवास-स्थान, गोदाम, सामान-गृह तथा दफ्तर होते थे। इनके चारों ओर दुर्ग का परकोटा होता था। आरंभ में गृहस्थ जीवन के कोई साधन नहीं थे; यहाँ तक कि प्रेजीडेंट लोग भी अपनी पत्नियों को साथ नहीं रखते थे। और अन्य लोगों से विवाह करने की आशा नहीं की जाती थी, यहाँ पर अंग्रेजी और फ्रेंच ढंग से बड़ा अन्तर प्रतीत होता है। फ्रांस वाले आरंभ से ही उपनिवेश बसाने के पक्ष में थे। फैक्टरी, यूनिवर्सिटी-कालिज का व्यापारिक प्रतिरूप था। १७२० तक सब लोग एक साथ खाना खाते थे; प्रतिदिन प्रार्थना होती थी। और नियत समय पर द्वार बन्द हो जाते थे। प्रेजीडेंट को अन्य लोगों पर अनुशासन संबन्धी अधिकार थे, और मदिरापान, द्यूतक्रीड़ा, भगड़े और अवज्ञा आदि अपराधों पर जुर्माने किये जाते थे। आरंभ से ही शान-बान की ओर ध्यान दिया जाता था। जब इन ठिकानों के गवर्नर कहीं जाते थे तो तोपें सलामी देती थीं, तुरही बनाई जाती थीं, और भगड़े उनके आगे २ चलते थे।

१७४६ से पहले कंपनी के ठिकानों को फैक्टरी नाम से पुकारने की प्रथा सर्वथा अस्वाभाविक है। कंपनी के पास अभी तक प्रान्त तो नहीं थे, परन्तु वे नगरों पर शासन करते थे जिनमें हिंदू, मुसलमान, यूरोपियन आदि अनेकों जातियाँ रहती थीं, और कंपनी की आज्ञा से व्यापार करती थीं। कुछ समय पश्चात् कोर्ट ने कंपनी की नौकरी के अतिरिक्त अन्य अंग्रेजों को भारत के भिन्न २ भागों में व्यापार करने के लिए आज्ञा देना और प्रोत्साहित करना आरंभ कर दिया।

भारतवर्ष में ईस्ट इण्डिया कंपनी निरन्तर उन्नति करती जा रही थी। फैक्टरियों का स्थान अर्ध-उपनिवेशों ने ले लिया था। यहाँ लोग संपरिवार बसने लगे, इस कार्य के लिए जार्ज ओक्सेलडन, जेराल्ड औजियर और जान चाइल्ड आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। औजियर ने एक औषधालय, चर्च, जेल और न्यायालय आदि स्थापित करके बम्बई

का क्षेत्र बड़ा कर दिया था। १६८८ में डाइरेक्टरों ने वहाँ पर एक पोस्ट आफिस भी स्थापित करने की आज्ञा दे दी। इसी वर्ष मद्रास में एक म्यूनिसिपल शासन की स्थापना हुई जिसमें एक मेयर और दस एल्डरमैन होते थे। तीन कंपनी के कर्मचारी, तीन पुर्तगाली और सात भारतीय इसके सदस्य थे। सिविल मामलों का फैसला करने के लिए १७२६ में तीनों प्रेजीडेन्सी नगरों में मेयर न्यायालय की स्थापना की गई।

पूर्वी देशों में मदिरा-पान के कुप्रभाव शीघ्र ही प्रकट होने लगते हैं। कम्पनी के डाइरेक्टरों ने इस सम्बन्ध में अनेकों बार अधिक शराब पीने की बुराईयों की ओर अपने आदमियों का ध्यान आकृष्ट किया। परन्तु डाइरेक्टरों की इस सलाह का यथेष्ट परिणाम नहीं हुआ मदिरापान एक व्यसन बन गया। अगले ही वर्ष फैक्टरी के भोजनालय के प्रबन्धक के हिसाब की जाँच करते हुए डाइरेक्टरों ने बड़ी कठोर भाषा में लिखा, “हमको यह देखकर आश्चर्य होता है कि तुम लोग छः महीने तक जीवित रह जाते हो या तुम लोगों में आपस में अधिक झगड़े और लड़ाई नहीं होती, यदि तुम जितनी मदिरा का मूल्य हमसे लिया जाता है, उसकी अभी भी पीते हो।” कम्पनी के अधिकारियों की दूसरी बड़ी शिकायत सलामी देने में बारूद के अत्यधिक व्यय के संबंध में थी। कहा जाता है कि एक बार एक पुर्तगाली जहाज ने अपना सब गोला-बारूद इसी प्रकार सलामी आदि में व्यय कर डाला और जब शत्रु के साथ खुले समुद्र पर युद्ध आरम्भ हुआ तो उसकी तोपें बारूद के अभाव में सर्वथा शांत रहीं। फ्रेंच कंपनी के कर्मचारियों में यह प्रथा सीमा को भी पार कर गई बतलाई जाती है। गवर्नर को प्रत्येक गोत पर तोपें दागने को उनमें प्रथा थी। अति मद्यपान और अपव्यय के साथ २ भारत में रहने वाले अंग्रेजों में जुआ खेलने की भी प्रथा थी। १७२१ में मद्रास के लिए एक पत्र में लिखा गया था, “यह सुनकर बड़ा दुख होता है कि धूतक्रीड़ा (जुआ) की खुजली मद्रास में फैल गई है और अच्छी स्त्रियाँ भी बड़े-२ दाव लगाती हैं।” परन्तु इसका कोई प्रभाव नहीं हुआ क्योंकि तीस वर्ष पश्चात् कोर्ट ने फिर लिखा, “जुए का निकृष्ट रोग छूत की बीमारी की तरह हमारे सब कर्मचारियों में फैल गया है।” इस अवसर पर दो प्रमुख पदाधिकारियों को जिनमें एक फोर्ट सेंट डेविड का गवर्नर भी था, पदच्युत कर दिया गया था।

कम्पनी के इतिहास के आरम्भ से ही डाइरेक्टर लोग इस संबंध में

बड़े सतर्क रहते थे कि कहीं कंपनी के कर्मचारी अपना व्यक्तिगत व्यापार तो नहीं करते हैं। बंगाल प्रेजीडेन्सी के बारे में वे लोग विशेष रूप और कठोरता के साथ सतर्क रहते थे क्योंकि यह प्रान्त सबसे अधिक धनाढ्य था और इस लिए इस पर सबसे अधिक सन्देह भी किया जा सकता था। बंगाल के कर्मचारियों को लिखे गये पत्रों से पता चलता है कि उन लोगों में “पहले हलक और पीछे कम्पनी” की प्रथा प्रचलित थी। बड़े २ कर्मचारियों ने कानून का अक्षरशः पालन करते हुए कंपनी को धोखा देने के बड़े चतुर साधन निकाल लिए थे। सेंट हैलेना के गवर्नर ने अपने लिए सुन्दर मार्ग और भवन कंपनी के गुलामों से बनवाकर १००० पाँड कंपनी के नाम खर्च में डाल दिये और अपनी पत्नी की १० फीट ऊँची और ७ फीट चौड़ी समाधि बनवाई और उसका व्यय कंपनी की क्लिबन्दी में लिखवाया। इन बातों से कंपनी के कर्मचारियों के नैतिक जीवन पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। अठारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में ईस्ट इण्डिया कंपनी गुलामों से अधिकतर काम लेती थी। १७३५ में बंबई के लिए २५० गुलामों का आर्डर दिया गया और १७५१ में डाइरेक्टर लोग फोर्ट सेंट जार्ज के लिए ६०० गुलाम खरीदना चाहते थे। ये गुलाम अधिकतर मैडागास्कर से आते थे। इन बेचारों जैसी दयनीय दशा कदाचित् संसार में अन्यत्र कहीं नहीं थी। इण्डिया आफिस में ऐसे भी पत्र संग्रहीत हैं जिनमें कंपनी के डाइरेक्टरों ने अपने कर्मचारियों को गुलामों के साथ मानुषिक वृत्ति करने और उनको जानवर न समझकर मनुष्य समझने की बार २ सलाह दी है। इससे यह प्रकट होता है कि बेचारे गुलामों के साथ कहीं २ और कभी २ बड़े अत्याचार किये जाते थे, कभी २ उनकी हत्या तक कर दी जाती थी।

इंगलैंड से कम्पनी की फैक्टरियों को पुस्तकें भी भेजी जाया करती थीं जिनके द्वारा सार्वजनिक पुस्तकालयों का जन्म हुआ। आरंभ के दिनों में विलियम पकिन्स की पुस्तकें भेजी गई थीं; १६८६ में परचास की ‘यात्री’ नामक पुस्तक भेजी गई जिसके संबंध में कम्पनी के एक पत्र में लिखा था कि यह एक पुस्तक थी जो “तुम सब लोगों को अवकाश के समय पढ़ने के लिए आवश्यक थी।”

सातवाँ अध्याय

अंग्रेज और फ्रांसीसी

फ्रांसीसी कम्पनी स्थापना :—अठारहवीं शताब्दी के मध्य में भारत में यूरोपियन वस्तियों के भाग्य में एक बहुत बड़ा परिवर्तन हुआ। अब इंग्लैंड और फ्रान्स की व्यापारिक कम्पनियाँ अपने-अपने देशों के अन्तर्राष्ट्रीय युद्धों में फँसने लगीं। स्पेन के उत्तराधिकार के युद्ध का तो भारत में इन यूरोप-निवासियों के संबंधों पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा था, परन्तु आस्ट्रिया के उत्तराधिकार के युद्ध का बड़ा भारी प्रभाव पड़ा। अब से आगे यूरोपीय युद्धों का प्रभाव उन सब स्थानों पर, जहाँ-जहाँ यूरोप-निवासी रहते थे, पड़ना आरंभ हो गया था और वाल्टेयर के शब्दों में “हमारे देशों में छूटा हुआ पहला तोप का गोला अमरीका और भारतवर्ष के तोपखानों में पलीता लगा देता था।”

यहाँ पर फ्रान्च लोगों के प्रारंभिक इतिहास के संबंध में कुछ शब्द कह देना ठीक होगा। पूर्वी देशों की सामुद्रिक खोज के इतिहास में आशा अन्तरीप का चक्र लगा कर भारत पहुँचने के लिए आरंभ में फ्रान्स ने भी कुछ प्रयत्न किए थे। १५२६ में जीन पारमेन्टीयर ने अपने भाई रौअल के साथ मैडागास्कर की यात्रा की और मोलुक्का तक पहुँच कर सुमात्रा में प्राण त्याग किया। फ्राँस के सम्राट् हैनरी चतुर्थ ने भारतवर्ष के साथ व्यापार करने के लिए दो कम्पनियों को आज्ञा-पत्र प्रदान किए परन्तु आर्थिक संकट और सर्वप्रिय सहायता के अभाव में उनको सफलता प्राप्त न हो सकी। १६४२ में रिशलू ने “पौर्वत्य की सोसाइटी” की स्थापना की जिसने मैडागास्कर में उपनिवेश बसाने में अपनी शक्ति को नष्ट कर डाला।

फ्रांसीसी कम्पनी का उत्थान :—भारतवर्ष के साथ शाश्वत व्यापारिक संबंध स्थापित करने वाली कम्पनी का जन्म १६६४ में हुआ जिसके जन्म और प्रारंभिक सफलता का श्रेय फ्रान्स के महान् मन्त्री कोलवर्ट और महान् सम्राट् लुई चतुर्दश को है। आरंभ में तो इस कम्पनी ने भी अपनी शक्ति का बहुत कुछ भाग मैडागास्कर के उपनिवेशों को पुनर्जीवित करने में लगाया। १६६८ में सूरत में कैस नामक एक डच ने, जो फ्रान्स की सेना में था, एक फैक्टरी की स्थापना की और एक वर्ष पश्चात् मसूलीपट्टम

में दूसरी फैक्टरी की स्थापना की गई। १६७४ में मार्टिन ने पान्डेचेरी की, जो भविष्य में फ्रांस की भारतीय राजधानी बना, स्थापना की। यह स्थान मद्रास से ८५ मील दक्षिण में है और इसको एकदेशीय राजा से मोल लिया गया था। बंगाल में १६९०-९२ में कलकत्ता से १६ मील ऊपर हुगली नदी पर चन्द्रनगर की स्थापना की गई। सत्रहवीं शताब्दी में लुई चतुर्दश के यूरोपीय युद्धों का ईस्ट इण्डिया कम्पनी पर बड़ा कुप्रभाव पड़ा। १६७२ से १७१३ तक कुछ समय के अतिरिक्त फ्रांस का हालैंड के साथ युद्ध होता रहा और यद्यपि इस काल के पहले दो वर्षों में उसकी इंगलैंड के साथ मित्रता थी, तो भी पूर्वी देशों में युद्ध का सब भार उसी को उठाना पड़ा। १६७२ में फ्रांस ने कोरोमण्डल तट पर सेंट टामे पर अधिकार कर लिया; परन्तु अगले ही वर्ष उसका एडमिलर लंका में त्रिकोनोमाली से निकाल बाहर किया गया और १६७४ में डच लोगों ने सेंट टामे पर अधिकार कर लिया। १६९३ में, कुछ दिन घरे के पश्चात् डच लोगों ने पान्डेचेरी पर भी अपना अधिकार स्थापित कर लिया। इसके पश्चात् छः वर्ष तक इस नगर पर इन लोगों का अधिकार रहा और इस समय में उन्होंने नगर की ऐसी किलेबन्दी की कि बहुत समय तक वह भारतवर्ष में सर्वोत्तम मानी जाती थी। १६९७ की रिजर्विक की संधि से इसको फ्रांस दे दिया गया था परन्तु दो वर्ष तक इस पर फ्रांस का वास्तविक आधिपत्य स्थापित न हो सका। मार्टिन की छत्रछाया में, यद्यपि उसको फ्रांस की सरकार ने कोई विशेष सहायता नहीं दी, पान्डेचेरी ४० हजार निवासियों का एक समृद्ध नगर बन गया था। इसके अतिरिक्त अन्यत्र फ्रेंच प्रभाव कम होता गया। सूरत और मसूलीपट्टम की फैक्टरियाँ त्याग दी गईं। फ्रांस में कम्पनी की दशा बहुत ही विकृत हो गई थी और इसने अपने व्यापारिक अधिकार सेंट मालो के व्यापारियों को किराये पर दे दिये थे।

जब फ्रांस के आर्थिक विभाग का नियन्त्रण जॉन ला ने, जो एक स्काटलैंड-निवासी था, अपने हाथ में लिया तो भारत से व्यापार करने वाली कम्पनी को कनाडा कम्पनी, मिसिसीपी कम्पनी, सेनिगाल, चीन और डोमिनगो तथा गाइना की कम्पनियों के साथ मिला दिया गया और इस बृहत् समुदाय को, जिसको 'इंडीज की कम्पनी' कहते थे, सिका चलाने, तम्बाकू का एकाधिकार और जातीय ऋण के नियन्त्रण का अधिकार दे दिया गया। १७२० की आपत्ति के पश्चात् ईस्ट इण्डिया कम्पनी का पुनर्निर्माण

‘इंडीज की स्थायी कम्पनी’ के नाम से किया गया और इसके प्राचीन सब विशेषाधिकारों में केवल तम्बाकू का एकाधिकार इसके पास शेष रहा। इसके पश्चात् ईस्ट इण्डिया कम्पनी की दशा बहुत अधिक समुन्नत हुई। १७२१ में इसके सेवकों ने मारीशस टापू पर आधिपत्य स्थापित कर लिया जहाँ पर वे सर्वप्रथम १७१५ में गये थे। बर्बन टापू में ये लोग कोलवर्ट द्वारा कम्पनी के जन्म से सात वर्ष पूर्व ही बस गये थे। १७२५ में इन लोगों ने मालावार तट पर माही और १७३६ में कोरो-मण्डल तट पर कारीकल पर भी आधिपत्य स्थापित कर लिया था।

१७४४ में अंग्रेजी कम्पनी फ्रान्स की अपेक्षा कहीं अधिक धनाढ्य थी और उसका व्यापार भी बहुत बढ़ा चढ़ा था। इसका व्यापारिक जहाजी बेड़ा भी बहुत बढ़ा था और उसकी गति भी बड़ी नियमित थी। परन्तु पश्चिमी समुद्र-तट पर बम्बई की तुलना करने वाला फ्रान्स के पास कोई ठिकाना नहीं था, गंगा के बेसिन में कलकत्ता चन्द्रनगर से कहीं अधिक वैभव-सम्पन्न था और मद्रास, पाण्डेचेरी के लगभग समान अवश्य था। सबसे अधिक विशेष बात यह थी कि अंग्रेजी कम्पनी कतिपय व्यक्तियों की एक संस्था थी जिसको इंग्लैंड की सरकार से कोई सहायता न मिलती थी, वरन् सरकार कम्पनी की ऋणी और कम्पनी का आधार उसका भारतीय व्यापार से प्राप्त लाभ था, परन्तु इसके डाइरेक्टर पार्लियामेंट के सदस्य होने के कारण राष्ट्रीय नीति पर पर्याप्त प्रभाव रखते थे। फ्रान्स की कम्पनी के पास पश्चिमी तट तथा बंगाल में अंग्रेजों जैसी बस्तियाँ नहीं थीं। निस्सन्देह उनके पास पाण्डेचेरी एक सुन्दर और सुदृढ़ नगर था। फ्रांस और बर्बन टापुओं का महत्व फ्रांस की कम्पनी के लिए संदेहयुक्त था। फिर फ्रांस की कम्पनी का जन्म सरकार द्वारा हुआ था और सरकार की सहायता उसको प्राप्त थी, और १७४४ तक यह कम्पनी सरकार के अधीन एक विभाग बन गयी थी। आरम्भ से ही कंपनी सरकार की सहायता पर आश्रित थी और इसलिए राजकीय हस्तक्षेप से स्वतंत्र नहीं थी। कभी २ फ्रांस का सम्राट् उसके प्रबन्ध में सर्वथा अवाञ्छनीय हस्तक्षेप करता था। कंपनी के हिस्सेदारों को भारतीय व्यापार में कोई विशेष व्यक्तिगत रुचि नहीं थी। इसकी आय का मुख्य साधन तम्बाकू पर एकाधिकार था। कंपनी के डाइरेक्टरों और निरीक्षकों की नियुक्ति सम्राट् द्वारा होती थी और वास्तविक नियन्त्रण सम्राट् के सेक्रेट्रियों के हाथ में रहता था। बार २ सम्राट् को कंपनी की सहायता

करनी पड़ती थी। १७२५ से १७६५ तक हिस्सेदारों को कोई भी बैठक नहीं हुई और १७३३ के पश्चात् राज्य ने हिस्सेदारों के लाभ की भी एक नियत दर निश्चित कर दी थी। फ्रांस की कंपनी का सबसे अधिक समृद्ध काल १७३१ से १७३८ तक था और आस्ट्रिया के उत्तराधिकार के युद्ध के समय में उसका पतन आरंभ हो गया था। राज्य के अधिक दफ्तरशाही नियंत्रण का एक परिणाम यह हुआ कि कंपनी के कर्मचारियों में अकर्मण्यता पैदा होगई थी। व्यापार की प्रगति भी बन्द होगई। पांडेचेरी के उत्थान का श्रेय सबसे अधिक उसके जन्मदाता मार्टिन को है और उसके पश्चात् लीनोयर तथा ड्यूमा ने भी इसकी उन्नति में बड़ा योग दिया। परंतु चंद्रनगर ने, जब तक कि डूप्ले का अधिकार स्थापित हुआ, कोई प्रगति नहीं की। बंगाल में फ्रांस के निवासियों की दशा कुछ अच्छी नहीं थी। १७१८ तक इंडीज में डच लोग यूरोप-निवासियों में सबसे अधिक बलवान् समझे जाते थे। जिस प्रकार अंग्रेज लोग यह न समझ सके कि हालैंड का प्रभाव कितनी शीघ्रता से अंत होने वाला था उसी प्रकार उन्होंने यह समझने में भी भूल की कि फ्रांस की कंपनी का पुनर्जन्म होने वाला था। जब कंपनी के डाइरेक्टरों को यह सूचना मिली कि फ्रांस की पश्चिम और इंडीज की दोनों कंपनियाँ मिलकर एक हो गई हैं तो उनको बड़ी चिंता हुई। १७१९ में उन लोगों ने ला की योजना की सूचना कंपनी के कर्मचारियों को पूर्वी देशों में भेजी और उनको सूचित किया कि इंगलैंड में एक भयानक अफवाह फैली हुई थी कि वहाँ पर फ्रांस की कंपनी के लिए दस या बारह जहाज बनाये जा रहे थे। उन्होंने लिखा था कि इसका क्या परिणाम होगा यह तो समय ही बतलायेगा, परंतु वे इस संबंध में बड़े सतर्क थे।

प्रथम कर्नाटक युद्ध :—ड्यूमा और डूप्ले ने केवल बीस वर्ष के समय में ही फ्रांस की कंपनी की शोचनीय दशा को इतना उन्नत किया कि वह अपने से बहुत पुराने स्थापित शत्रुओं की तुलना करने लगी। परंतु इस समय तक इंगलैंड की कंपनी की जड़े भारत-भूमि में बहुत गहरी पैठ चुकी थीं। १७२१ और २२ में फ्रांस से कोई भी जहाज भारत के लिए रवाना नहीं हुआ। कार्डिनल फ्ल्यूरी के फ्रांस का प्रधान मंत्री बनने पर कंपनी ने उन्नति करना आरंभ कर दिया। परंतु फिर भी दोनों कंपनियों में युद्ध आरंभ होते समय इंगलैंड की स्थिति अधिक सुदृढ़ थी; यद्यपि कुछ लोगों का विचार था कि दोनों की शक्ति लगभग समान थी। फ्रेंच लोगों ने अपने गवर्नरों

और कमांडरों की योग्यता तथा अपने शत्रुओं की भयंकर भूलों के कारण अंग्रेजों पर आरंभ में बड़ा भयंकर आक्रमण किया और उनको सफलता भी प्राप्त हुई परंतु उनकी सफलता क्षणिक थी और केवल १७४६ से १७४८ तक रही और इसके सात वर्ष पश्चात् वे पूरी तरह से पराजित हुए। १७४४ से पहले ही दोनों कंपनियों में युद्ध की आशा की जाने लगी थी क्योंकि दोनों देशों ने आस्ट्रिया के उत्तराधिकार युद्ध में भाग लिया था जो कि १७४० में आरंभ हुआ और दोनों देशों की सेनाएँ यूरोपीय रण-क्षेत्र में एक दूसरे के सामने होकर लड़ी थीं। १७४२ में युद्ध को अवश्यंभावी समझ कर फ्रांस की सरकार ने अंग्रेजी ईस्ट इंडिया कंपनी के साथ समझौता करना भी चाहा था, परंतु इसमें सफलता प्राप्त न हो सकी।

बोर्दू ने की विजय :—इसी बीच में बोर्दू ने अपनी योजनाओं को तैयार करने में व्यस्त था। बोर्दू ने १७३४ में फ्रांस और बर्बन नामक टापुओं का गवर्नर नियुक्त किया गया और पांच वर्ष में ही उसने अपने सुशासन से इन द्वीपों की काया-पलट कर दी थी। जब १७४० में वह फ्रांस लौटा, तो इंग्लैंड के साथ युद्ध अवश्यंभावी समझ कर उसने अपना निजी एक बेड़ा तैयार करके अंग्रेजों के जहाजों पर आक्रमण करने का निश्चय किया। जब यह योजना फ्रांस की सरकार के सामने रखी गई तो उसने इसको स्वीकृत कर लिया और अपनी कंपनी को उसके बेड़े में सहायता देने के लिए बाध्य किया। अपने इस बेड़े को लेकर बोर्दू ने भारत के लिए प्रस्थान किया और गर्व के साथ यह घोषणा की कि वह अंग्रेजों को बुरी तरह पराजित करने में अवश्य सफल होगा। परंतु युद्ध शीघ्र आरंभ नहीं हुआ जैसी कि उसको आशा थी, और फ्रांस की कंपनी ने, जो अभी तक पूर्वी समुद्रों में तटस्थता का स्वप्न देख रही थी, उसको अपने जहाजों को वापिस फ्रांस भेजने का आदेश दिया। बोर्दू ने को इस आज्ञा को पाकर दुख तो अवश्य हुआ, परंतु उसने इसका पालन किया और जब कुछ समय पश्चात् युद्ध आरंभ हुआ तो उसकी ग्लानि का कोई ठिकाना नहीं था। उधर जब अंग्रेजों ने बोर्दू ने की इस योजना का समाचार पाया, तो उन्होंने भी पूरी तैयारी की और १७४२ में एक शाही बेड़ा चारनेट के नेतृत्व में कोरोमण्डल तट पर आधमका और पांडिचेरी के लिए भय का कारण बन गया। डूप्ले ने, जो १७४२ में फ्रेंच भारत का गवर्नर होकर आया था, कर्नाटक के नवाब से प्रार्थना की और उसने अंग्रेजों को मुगल साम्राज्य की तटस्थता भङ्ग करने से मनाही कर दी।

इस प्रकार अपने आपको अंग्रेजी आक्रमण से सुरक्षित करके डूप्ले ने शत्रु देश में युद्ध करना आरंभ किया। अब उसने बोदूँने से यह तै किया कि वह अपना बेड़ा भारतीय तट पर लाकर मद्रास का घेरा आरंभ करे। बोदूँने ने फिर अपना एक बेड़ा द्वीपों में तैयार कर लिया था और फ्रांस की सरकार से भी कुछ सहायता प्राप्त कर ली थी। बोदूँने १८४६ की जौलाई के आरंभ में पांडिचेरी जा पहुँचा।

मद्रास पर अधिकार :—परन्तु डूप्ले और बोदूँने के भाग्य में मिल कर काम करना नहीं लिखा था। बोदूँने पहले से ही अंग्रेजी जहाजों को लूटना चाहता था और इसलिए पांडिचेरी पहुँचकर उसने मद्रास पर आक्रमण करने में हिचकिचाहट की। उसकी हिचकिचाहट का एक कारण यह भी था कि वह समझता था कि अंग्रेजी बेड़े का कमाण्डर पीटन मद्रास को छोड़ कर चला नहीं गया होगा। इस लिए उसने छः सप्ताह तक प्रस्थान करने से, जब तक कि डूप्ले और पांडिचेरी की कौंसिल उसे लिखित आदेश न दे और अपने ऊपर आक्रमण का उत्तरदायित्व न लें, इन्कार कर दिया; क्योंकि उसको भय था कि जब वह मद्रास का घेरा डाल रहा होगा तो अंग्रेजी जहाज आकर उस पर पीछे से आक्रमण करेंगे। उत्तर में डूप्ले ने उसको लिखा कि या तो वह मद्रास पर आक्रमण करे या खुले समुद्र पर अंग्रेजों से युद्ध करे। अन्त में सितम्बर में बोदूँने आक्रमण करने के लिए बाध्य हो गया। निकोलस मोर्स की अधीनता में कुछ सामना करने के पश्चात् २१ सितम्बर को मद्रास ने आत्म-समर्पण कर दिया। दोनों ओर से कोई जन-हत्या नहीं हुई। केवल एक गोला फट जाने के कारण एक-दो अंग्रेजों की जान अवश्य गई थी। युद्ध-वन्दियों में क्लाइव भी था जो इस समय केवल २१ वर्ष का था और कंपनी की सेवा में एक लेखक था।

जब डूप्ले ने बोदूँने का यह समाचार सुना कि मद्रास पर उसका अधिकार था और अंग्रेज उसके अधिकार में थे, तो उसकी प्रसन्नता का ठिकाना नहीं था। अब उसने इस परिस्थिति से पूरा लाभ उठाने का प्रयत्न किया। बोदूँने के इस प्रस्ताव को सुनकर कि कुछ रुपया लेकर मद्रास अंग्रेजों को लौटा दिया जाये, डूप्ले को बड़ी घृणा हुई। डूप्ले ने इस प्रस्ताव को अस्वीकृत कर दिया और उसको समझाया कि ऐसी सुलभ सफलता के लाभ को व्यर्थ ही नहीं खो देना चाहिए। परन्तु बोदूँने ने लिखा कि वह बचन दे चुका है और ४ लाख पौंड लेकर मद्रास अंग्रेजों को लौटाने के

अहदनामे पर हस्ताक्षर कर दिये। सम्भवतः इसमें उसको भी विश्वास मिल गई हो। जब डूप्ले ने यह समाचार सुना तो उसकी चिन्ता और क्रोध अवर्णनीय थे। उसका क्रोध प्राकृतिक था क्योंकि १७४१ से वह मद्रास पर आक्रमण की प्रतीक्षा कर रहा था और इस बार आक्रमण का सारा व्यय उसी ने किया था। शीघ्र ही दोनों 'आदमियों' में कलह और द्वेष आरम्भ हो गया, परन्तु परिस्थिति ने डूप्ले का साथ दिया। भयङ्कर मानसून चलने के कारण बोर्दूने को अपने टूटे-फूटे जहाजों को लेकर टापुओं की ओर जाना पड़ा और डूप्ले ने मद्रास पर अधिकार कर लिया और बन्दी अंग्रेजों को पाँडेचेरी लेगया। परन्तु फोर्ट सेंट डेविड पर लारेंस ने उसके आक्रमण को असफल बना दिया। इस लारेंस ने अंग्रेजों और फ्रांस के युद्ध में बड़ा महत्वपूर्ण कार्य किया। अब अंग्रेजों ने एक बड़े विशाल बेड़े के साथ पाँडेचेरी का घेरा डाला। इसमें अंग्रेजों को हज़ारों जानें खपानी पड़ीं।

एक्स-ला-शेपेल की सन्धि:—१७४८ में एक्स-ला-शेपेल की सन्धि हो जाने से भारत में भी युद्ध बन्द हो गया। मद्रास अंग्रेजों को मिल गया और अमरीका में लुईसिना फ्रांस को लौटा दिया गया। इस प्रकार अंग्रेज और फ्राँच लोगों के युद्ध का पहला दौर समाप्त हुआ। कुछ इतिहासकारों का विचार है कि यदि डूप्ले और बोर्दूने में झगड़ा न हुआ होता तो अंग्रेजी सत्ता सदा के लिए भारतवर्ष से उठ जाती। परन्तु यह बात सत्य प्रतीत नहीं होती क्योंकि डूप्ले जो करना चाहता था उसने किया। मद्रास, जो सबसे निःशक्त नगर था, उसके आधिपत्य में आगया था और कलकत्ता तथा बम्बई सर्वथा स्वतन्त्र बने रहे। फिर सन्धि करने में भी उनका हाथ नहीं था और इसके अतिरिक्त इंग्लैंड से बड़ा शक्तिशाली जहाजी बेड़ा भारत के लिए प्रस्थान कर चुका था, जिसको पराजित करना असम्भव था।

डूप्ले की योजना:—एक्स-ला-शेपेल की सन्धि से दोनों 'कम्पनियों' की स्थिति कोरी-मण्डल-तट यथापूर्व होगई थी। परन्तु क्योंकि दोनों 'कम्पनियों' के कर्मचारी युद्ध-क्षेत्र में एक दूसरे के शत्रु होकर लड़ चुके थे, इसलिए अब उनमें मैत्री-भावना की पुनर्स्थापना सर्वथा असम्भव थी। विदेशी 'कम्पनियों' के इस युद्ध के अनेकों महत्वपूर्ण परिणाम निकले। विदेशियों को "अपनी वस्तियों के चारों ओर सैकड़ों मील की भौगोलिक स्थिति" का ज्ञान हो गया था। उनको देशीय राजाओं की शक्ति का भी पता लग गया था। १७४६ में फ्राँच और कर्नाटक के नवाब अनवरुद्दीन में

खुल्लमखुल्ला युद्ध हुआ। डूप्ले ने उसे वचन दिया था कि अंग्रेजों से मद्रास को जीतकर उसको दे दिया जायगा, परन्तु इस वचन को पूरा करने का विचार आरम्भ से ही नहीं था। जब नवाब ने प्रण को पूरा करने के लिए बल का प्रयोग किया तो फ्रांस की एक छोटी-सी टुकड़ी ने उसको बड़ी आसानी से परास्त कर दिया। इस आकस्मिक विजय से डूप्ले ने यह धारणा बना ली कि दक्षिणी भारत में मुसलमान शासकों की बड़ी से बड़ी सेनायें भी यूरोपीय सुनियन्त्रित छोटी-सी सेना का भी सामना नहीं कर सकती थीं। १७४८ के पश्चात् उसने निश्चय कर लिया था कि केवल शान्ति-पूर्वक व्यापार करके फ्रांस की कम्पनी अंग्रेजी कम्पनी का सामना नहीं कर सकती थी। इसके अतिरिक्त वह स्वयं भी एक कूटनीतिज्ञ होने के नाते शान्ति-मय व्यापार में अभिरुचि नहीं रखता था। वह शक्ति का इच्छुक एवं पुजारी था और नीति तथा व्यक्तिगत इच्छा के कारण उसको शान-शौकत और तड़क भड़क का जीवन प्रिय था। उसने दक्षिणी भारत की राजनीतिक परिस्थिति का अच्छा एवं गहन अध्ययन कर लिया था और अपनी विशेष योग्यता को खुलकर खेलने के लिये उसको वहाँ हर आशापूर्ण बृहत् क्षेत्र दिखलाई पड़ा। कतिपय मनुष्यों के विचार में, कि उसने दक्षिणी भारत को विजय करने की एक बृहत् योजना तैयार की थी, कोई तथ्य प्रकट नहीं होता। वास्तव में वह सफल राजनीतिज्ञों की भाँति एक अवसरवादी था और प्रत्येक सफलता के पश्चात् उसके विचार बृहत् होते चले गये। जब तक वह भारतवर्ष में, वह स्वयं भी यह न जान सका कि वह मार्ग जो उसने अपनाया था, उसको कहाँ ले जायगा और न ही उसने अपनी स्थिति से अपनी कम्पनी के स्वामियों या मन्त्रि-मण्डल को अवगत होने दिया। उसके पतन के दो मुख्य कारण थे। उसकी असावधान आर्थिक नीति तथा अपने ऊपर नियन्त्रण का सर्वथा अभाव।

द्वितीय कर्नाटक युद्ध :— भारतीय राजनीति में हस्तक्षेप करने का पाठ डूप्ले को अंग्रेजों ने ही पढ़ाया था। कोलेरून नदी के मुहाने पर एक बन्दरगाह पाने का वचन लेकर उन्होंने तन्जौर की गद्दी के लिए एक आदमी की सहायता की थी। फ्रांस वालों ने इस नीति का प्रयोग बड़े पैमाने पर किया। १७४८ में आसफजाह निजामुलमुल्क का देहान्त हो गया और पुत्र और पौत्र आपस में राजगद्दी के लिए युद्ध करने लगे। डूप्ले ने कर्नाटक की नवाबी के चाँदा साहब का साथ दिया और क्योंकि चाँदा साहब मुज़फ्फर-

जंग का,—जो हैदराबाद की गद्दी का इच्छुक था,—मित्र था, इसलिए उसने सोचा कि दोनों ही उसकी सहायता पाकर उसके ऋणी होंगे और इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं है कि यदि यह योजना पूर्ण हो जाती तो फ्रान्स कम्पनी की स्थिति अत्यन्त सुदृढ़ हो जाती। १७४६ में अम्बर के स्थान पर चाँदा साहब और मुज़फ्फर जंग ने फ्रान्सिसी सेना की सहायता से अनवरुद्दीन को पराजित किया और मार डाला। मुहम्मदअली, जो अनवरुद्दीन का अनौरस पुत्र था, त्रिचनापली भाग गया और कर्नाटक के शेष भाग पर चाँदा साहब का आधिपत्य हो गया। चाँदा साहब ने अपने सहायकों को अतुल धन प्रदान किया और फ्रेंच कम्पनी को पाँडेचेरी के चारों ओर ८० गाँव दिये। डूप्ले ने तुरन्त त्रिचनापली और नासिरजंग के विरुद्ध, जो दक्षिण का सूबेदार बन बैठा था, बढ़ने का प्रयत्न किया, परन्तु उसके भारतीय सहायकों ने उसकी बात न मानी। चाँदा साहब तंजौर के आक्रमण में समय व्यर्थ गंवाता रहा और नासिरजंग ने एक विशाल सेना लेकर, जिसके केम्प का घेरा बीस मील बतलाया जाता है, हैदराबाद की ओर प्रस्थान किया। मेजर लारेन्स ६०० लैनिक लेकर उससे आ मिला। मुहम्मदअली की सहायता के लिए भी एक सेना त्रिचनापली भेजी गई। तेरह फ्रान्सिसी अफसरों के छोड़कर चले जाने के कारण, मुज़फ्फर जंग ने नासिरजंग के सामने हथियार डाल दिये और चाँदा साहब को भाग कर पाँडेचेरी में शरण लेनी पड़ी। परन्तु डूप्ले ने बड़े धैर्य और योग्यता से काम लिया और उसके अफसरों ने मसूलीपट्टम तथा त्रिवेदी पर अधिकार कर लिया और बुसी ने जिब्जी को, जो अब तक अजेय माना जाता था, विजय कर लिया। दिसम्बर १७५० में नासिरजंग को धोके से कत्ल कर दिया गया और उसकी जगह मुज़फ्फरजंग पाँडेचेरी में दक्षिण का सूबेदार बना दिया गया। उसने डीवी और मसूलीपट्टम दे दिये तथा बहुत-सा धन फ्रान्सिसियों को दिया। कम्पनी और सैनिकों को प्रत्येक को ५० हजार पौंड, और डूप्ले को २ लाख पौंड, बाल्दावूर गाँव की जागीर और दस हजार पौंड सालाना दिया गया। नये सूबेदार ने डूप्ले को कृष्णा नदी से कोमोरिन अन्तर्राष्ट्र तक के प्रदेश का सर्वोच्च अधिपति स्वीकार कर लिया। उधर कर्नाटक में चाँदा साहब की मृत्यु के पश्चात् डूप्ले स्वयं वहाँ का नवाब बनना चाहता था, परन्तु बुसी ने उसको ऐसा करने से रोका और चाँदा साहब का लड़का ही वहाँ का नवाब बना दिया गया। डूप्ले अब एक नवाब की भाँति रहने और व्यवहार करने लगा था।

मुज़फ्फरजंग का देहान्त :—जनवरी १७५१ में मुज़फ्फरजंग बुसी के साथ औरंगाबाद के लिए रवाना हुआ। आरम्भ में यह विचार किया गया था कि बुसी नये नवाब को उसकी राजधानी तक पहुँचा कर लौट आयेगा परन्तु मुज़फ्फरजंग प्रस्थान करने के कुछ दिन पश्चात् एक अचानक युद्ध में मार डाला गया। पर यह बड़ी विकट परिस्थिति थी परन्तु वीर बुसी ने बड़े धैर्य और साहस से काम लिया। वह मुज़फ्फरजंग के लड़कों को राज्याधिकार से वंचित करके आसफजाह निज़ामुलमुल्क के तीसरे बेटे सलावत-जंग को, जो उस समय कैम्प में बन्दी था, नवाब बना कर हैदराबाद ले गया। सलावतजंग की सहायता और सुरक्षा के लिए बुसी सात वर्ष तक वहीं रहा। उधर कर्नाटक में १७५१ तक डूप्ले अपने प्रभाव और शक्ति की चरम सीमा तक पहुँच गया और इसके पश्चात् उसका पतन आरम्भ हुआ। अभी तक अंग्रेजी कम्पनी इन देशीय शक्तियों के पारस्परिक युद्धों में भाग लेने से कुछ हिचकती थी और एक बार मुहम्मदअली को निस्सहाय छोड़ दिया गया था; परन्तु अन्त में धन और जन से उसकी सहायता करना निश्चित हुआ। सबसे अधिक चिन्ता त्रिचनापली की थी जिसका महत्व सैनिक-दृष्टिकोण से बहुत अधिक था और जिसको अंग्रेज फ्रांसीसियों के हाथ में पड़ जाना नहीं चाहते थे। इस लिए कर्नाटक-युद्ध आरम्भ हुआ। इस समय यूरोप में इंग्लैंड और फ्रान्स में शान्ति थी इसलिए दोनों जातियों के प्रतिनिधि सीधे एक दूसरे पर आक्रमण नहीं कर सकते थे। और आरम्भ में मित्रता निभाने का झूठा प्रयत्न भी किया गया। यह निश्चय हुआ कि यूरोपीय सैनिक एक दूसरे पर वार न करें। कर्नाटक युद्ध-क्षेत्र में परिणत हो गया और उसको भयंकर क्षति उठानी पड़ी। इस युद्ध में मैसूर और तंजौर ने भी भाग लिया। मरहटा लोग भी अवसर पाकर लूट मार करते रहते थे।

अर्काट का घेरा :—१७५१ में ऐसा प्रतीत होता था कि त्रिचनापली का पतन अवश्य हो जायगा। परन्तु क्लाइव ने एक तरकीब सोच निकाली। अगस्त १७५१ में उसने कर्नाटक की राजधानी अर्काट पर आक्रमण कर दिया। इसलिए चाँदा साहब को अपनी आधी सेना अर्काट की रक्षा के लिए भेजनी पड़ी। क्लाइव बड़ी वीरता से पचास दिन तक अर्काट का घेरा डाले पड़ा रहा और अन्त में शत्रुओं को मार भगाने में सफल हुआ और इसके पश्चात् उसने अरनी और कवरीपाक आदि स्थानों पर भी शत्रु को पराजित

किया। बाध्य होकर चाँदा साहब ने तंजौर-नरेश के जनरल के सामने हथियार डाल दिये। तंजौर-नरेश मुहम्मद अली का मित्र था। चाँदा साहब को बुरी तरह मार डाला गया और अब मुहम्मद अली कर्नाटक का नवाब हो गया। डूप्ले बुरी परिस्थिति से घबराता नहीं था। अब उसने मरहटों से मित्रता की और अंग्रेजों के मित्रों को उनसे फोड़ने का प्रयत्न किया। परन्तु उसके शत्रुओं का भाग्य-नक्षत्र भारतीय आकाश में ऊँचा चढ़ना आरम्भ हो गया था और उसको कोई सफलता प्राप्त न हो सकी। बुसी ने भी डूप्ले को अच्छी से अच्छी सन्धि करने के लिए लिखा। सलावतजंग के दरबार में उसका भी प्रभाव कुछ समय के लिए कम हो गया था परन्तु अपनी योग्यता से फिर उसने इसको स्थापित किया और उत्तरी सरकार का प्रान्त, जो बिहार और कर्नाटक के बीच लगभग ६०० मील में फैला हुआ था, नवाब से फ्रेंच कम्पनी के लिए प्राप्त कर लिया। परन्तु ये प्रान्त उसको अपनी सेना के भरण-पोषण के लिए जब तक वह वहाँ रहे, मिले थे। परन्तु वर्षों तक निरन्तर युद्ध होते रहने के कारण इस प्रान्त से कोई विशेष आय नहीं होती थी। १७५३ के अन्त में डूप्ले अंग्रेजों के साथ सन्धि करने पर बाध्य हुआ। उसके जनरल पराजित हो चुके थे, उसके सहयोगी असन्तुष्ट थे और उसको धन की बड़ी भारी आवश्यकता थी। इसलिए मद्रास और पाँडेचेरी के बीच शाद्रास स्थान पर उसके प्रतिनिधि अंग्रेज भारतीय शासकों से मिले और वहाँ पर सलावतजंग तथा मुगल सम्राट् के वे फर्मान उपस्थित किये गये जिनमें उसको कर्नाटक की नवाबी दी गई थी। अंग्रेजों ने इसको जाली ठहराया। परिणाम यह हुआ कि सन्धि न हो सकी क्योंकि डूप्ले अपनी मांगों को कम करने के लिए तैयार नहीं था और अंग्रेज 'शान्ति की याचना' नहीं करना चाहते थे।

डूप्ले का पतन :—उधर लन्दन में दोनों कम्पनियों के प्रतिनिधियों में झगड़े का अन्त करने के लिए लम्बी बातचीत चली परन्तु सब व्यर्थ रहा। कुछ लोगों का यह विचार कि अंग्रेजों ने फोर्ट सेंट जार्ज के प्रेजीडेंट सोन्डर्स के बदले डूप्ले के वापिस बुलाये जाने का प्रस्ताव रखा था सर्वथा निराधार है। फ्रान्स की सरकार डूप्ले की नीति से पहले ही असन्तुष्ट थी और बोर्दू ने के लेखों ने उस असन्तोष की और भी अधिक वृद्धि कर दी थी। १७५४ में कम्पनी का एक डाइरेक्टर गोडहू पूरे अधिकारों के साथ डूप्ले के ऊपर नियुक्त करके भारत में फ्रान्स की स्थिति की जाँच करने के लिए भेजा

गया। डूप्ले को बन्दी बनाने की भी आज्ञा उसको प्रदान की गई थी यदि डूप्ले किसी प्रकार का विरोध करता। डूप्ले की श्रद्धा और देशभक्ति में तो कोई सन्देह था ही नहीं, उसकी तो एकमात्र भूल यह थी कि उसने अपने देशका यश और मान बढ़ाने के लिए त्रुटिपूर्ण साधनों को प्रयोग किया था। अगस्त १७५४ में गोडह्यू पांडेचरी पहुँचा और अक्टूबर में तीन मास के लिए उसने युद्ध बन्द करा दिया और जनवरी १७५५ में उसने एक सन्धि तैयार की जो इंग्लैंड और फ्रान्स में दोनों कम्पनियों द्वारा स्वीकृत हुए बिना मान्य नहीं हो सकती थी। इसमें दोनों ने निश्चित किया था कि देशीय शक्तियों के झगड़ों में हस्तक्षेप नहीं करेंगे और सब मुस्लिम उपाधियों आदि को त्याग कर देंगे। अंग्रेजों को डीवी या मसूलीपट्टम और या वह स्थान जिस पर उनका उत्तरी सरकार में पहले ही से आधिपत्य था, दिये जाने की शर्त भी इसमें रखी गई थी। डूप्ले ने बाद में कहा था कि गोडह्यू ने “देश के पतन और जाति के अपमान पर हस्ताक्षर कर दिये थे।” उसका कथन था कि जब गोडह्यू भारत में आया, उस समय तक फ्रान्सिसियों की दशा सुधर चली थी और वह अपने साथ लाई हुई सहायता से त्रिचनापली पर अधिकार करके अंग्रेजों को परास्त कर सकता था। डूप्ले के इतिहास लिखने वाले कुलटू ने भी ऐसे ही विचार प्रगट किये हैं। परन्तु सत्य कुछ और ही था। गोडह्यू के भारत आने के समय खजाना खाली था, सैनिक अपने वेतन के लिए चिल्ला रहे थे और सर्वत्र शराजकता फैल रही थी। वह सेना जो वह अपने साथ लाया था, निरर्थक थी। अंग्रेजों के पास उनसे कहीं बड़ी और अच्छी सेना थी। उनके १०० बन्दी अंग्रेजों के हाथ में थे जब कि उनके पास अंग्रेज बन्दिनों की संख्या केवल २०० ही थी। अंग्रेज अधिकारियों ने इस सन्धि को देश और कम्पनी के लिए हानिकारक और फ्रेंच कूटनीति की सफलता का उदाहरण समझा और फ्रेंच अधिकारियों की दृष्टि में गोडह्यू इससे अधिक और उस समय कम्पनी की सेवानहीं कर सकता था। डूप्ले की यह कमी थी कि वह शत्रु की शक्ति को सदा अपने से कम समझा करता था और उसने बुसी आदि की सलाह मानने से भी इन्कार कर दिया था। “मेरी सलाह का मूल्य तुम तब पहचानोगे, जब उसका समय निकल जायेगा” बुसी ने खेद के साथ उसको लिखा था।

सन्धि :—गोडह्यू ने सन्धि की शर्तें आरम्भ में बड़ी ऊँची रखी थीं परन्तु वाटसन का जहाज़ी बेड़ा आ जाने से वह घबरा गया कि कहीं क्लाइव

बम्बई से मरहटों के साथ मिलकर बुसी पर आक्रमण न कर दे और इसलिए उसने शत्रुओं को बहुत डीला कर दिया था। इसके अतिरिक्त वह सन्धि फ्रान्स वालों के लिए अपमानजनक नहीं कही जा सकती, क्योंकि उनके अधीनस्थ प्रदेशों की वार्षिक आय ८ लाख पौंड थी, जबकि अंग्रेजों की १ लाख ही थी, फिर सन्धि की अन्तिम स्वीकृति दोनों कम्पनियों के स्वामियों पर आश्रित थी, यद्यपि यह स्वीकृति कभी भारतवर्ष न पहुँच सकी, क्योंकि इसी बीच में यूरोप में सप्त-वर्षीय युद्ध आरम्भ हो गया था। इसलिये इस सन्धि का फ्रान्स की भारतीय स्थिति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। जैसा कि फ्रान्स के दो आधुनिक इतिहासकार कुलदू और बेवर ने भी स्वीकृत किया है कि भारतवर्ष में फ्रान्स-शक्ति के पतन का वास्तविक कारण गोडह्यू की सन्धि नहीं वरन् सप्तवर्षीय युद्ध था।

जब गोडह्यू भारत में आया तो कम्पनी की आर्थिक अवस्था बड़ी शोचनीय थी। उस पर डूप्ले का भी ऋण था, परन्तु इसको गोडह्यू ने अस्वीकार कर दिया था, क्योंकि उसकी व्यक्तिगत सम्पत्ति कम्पनी के डाय-रेक्टरों की आज्ञा के विरुद्ध अनियमित रूप से जागीर आदि के द्वारा प्राप्त की गई थी। परन्तु फिर भी ऐसे योग्य सेवक के लिए पेन्शन आदि का प्रबन्ध करना कम्पनी का कर्तव्य था जो उसने पूरा नहीं किया। परन्तु इसमें गोडह्यू का कोई दोष नहीं था। डूप्ले को वापस फ्रान्स जाने के लिए गोडह्यू ने समुचित आर्थिक प्रबन्ध कर दिया था और उसकी वाल्दावूड की जागीर से लगभग १० सहस्र पौंड सालाना की उसको आय भी थी। वह १७६३ तक जीवित रहा और उसके अन्तिम दिन बड़ी दरिद्रता से कटे। फ्रेंच प्रदेशों का अन्त होने के साथ २ उसकी जागीर का भी अन्त हो गया।

डूप्ले का चरित्र--डूप्ले, कम्पनी और फ्रान्स की सरकार को केवल अपनी विजयों की सूचना देता था और अपनी पराजयों को उनसे छिपाकर रखता था। क्लाइव द्वारा अर्काट-विजय की उसने कभी कोई सूचना नहीं दी। इन घटनाओं की सूचना उनको डच या अंग्रेजी समाचारपत्रों या पत्रों द्वारा प्राप्त हुई और इससे उनके हृदय में उसके प्रति बड़ा अविश्वास पैदा हो गया था। डूप्ले ने भारतीय नरेशों की समस्याओं में हस्तक्षेप करके फ्रेंच-प्रभाव को स्थापित करने तथा बढ़ाने की नीति अपनाई थी, परन्तु

वह इससे सरकार को कभी अवगत नहीं करता था। उसके वापिस बुलाने के छः महीने पश्चात् उसकी नीति का पूरा पूरा हाल उनको मिला और उन्होंने इस पर उसको वापस बुलाने की आज्ञा भी रद्द कर दी थी, परन्तु तब तक वह प्रस्थान कर चुका था। निस्सन्देह डूप्ले को सफलता न हो सकी, परन्तु वह अवश्य ही एक बड़ा राजनीतिज्ञ था। उसके राजनीतिक विचार बड़े साहसी एवं कल्पनापूर्ण थे। कुछ समय के लिए उसने फ्रान्स की धाक बैठा दी थी और उसका नाम बहुत ऊँचा कर दिया था। उसने जो मान और यश भारतीय नरेशों में प्राप्त किया, उसकी समानता कोई नहीं कर सका। कुछ काल के लिए वह अंग्रेजों के लिए हव्वा बन गया था।

सप्तवर्षीय युद्ध—डूप्ले के फ्रान्स चले जाने के पश्चात् अंग्रेजों और फ्रांसीसियों में कर्नाटक में चार वर्ष तक कोई झगड़ा नहीं हुआ, क्योंकि दोनों अब तक के युद्धों से बहुत अधिक थक गये थे। इस बीच में नवाब सिराजुद्दौला ने कलकत्ता पर अधिकार कर लिया और क्लाइव कोरोमण्डल-तट की सर्वश्रेष्ठ सेना को लेकर बंगाल की ओर रवाना हो चुका था। सप्तवर्षीय युद्ध के आरम्भ होने पर फ्रान्स वालों ने अंग्रेजी वस्तियों पर आक्रमण करने का शुभ अवसर देखा। इस कार्य को सम्पन्न करने के लिए काउण्ट डी लैली को भेजा गया। अप्रैल १७५८ में वह भारत पहुँचा। अब तक अंग्रेजों ने कलकत्ता फिर विजय कर लिया था। लैली ने फोर्ट सेंट डेविड पर बम-वर्षा की और उसको विजय कर लिया। परन्तु लैली की सफलता का यहीं पर अन्त हो गया। लैली बड़ा वीर, साहसी और पवित्रात्मा जनरल था, परन्तु साथ ही साथ वह बड़ा क्रोधी था और किसी की सलाह मानने में अपना अपमान समझता था। पांडिचेरी का गवर्नर लैली की सेना के लिए धन देने में असमर्थ था; इसलिए लैली ने तंजौर के राजा से ५६ लाख रुपया का सिक्का, जो फ्रांसीसियों के हाथ लग गया था, वसूल करने के लिए तंजौर पर आक्रमण के हेतु प्रस्थान किया। इसमें फ्रांस के गिरते हुए सम्मान को और भी अधिक ठेस लगी। फ्रेंच एडमिरल डी० आशे लैली के बहुत कुछ कहने पर बर्वन टापू को चला गया। अब लैली ने मद्रास पर आक्रमण करने के लिए अपनी सेना को सजाया। उसने बुसी को, जो अब तक जैसे-तैसे अपनी स्थिति बनाये हुए था, हैदराबाद से अपनी सहायता के लिए बुलाया। बुसी जानता था कि हैदराबाद से चले जाने पर फिर वह अपना प्रभाव स्थापित नहीं कर सकता था, फिर भी उसने लैली

की आज्ञा का पालन किया। उधर क्लाइव ने अक्टूबर १७५८ में एक योग्य सेनापति फोर्ड को उत्तरी सरकार में हस्तक्षेप करने के लिए भेजा। यद्यपि कौंसिल ने इसका विरोध किया था। फोर्ड ने अप्रैल १७५८ में कन्दोर में बुसी के उत्तराधिकारी को परास्त किया और अगले वर्ष मसूली-पट्टम पर भी अधिकार कर लिया। अब हैदराबाद दरबार से फ्रेंच प्रभाव सदा के लिए समाप्त हो गया। सलावतजंग ने मसूलीपट्टम के निकट ८० मील लम्बाई और २० मील चौड़ाई का प्रान्त अंग्रेजों को दे दिया और फ्रांसीसियों के साथ किसी प्रकार का भी सम्बन्ध न रखने का प्रण किया।

बुसी की उपस्थिति से लैली को कोई विशेष लाभ नहीं हुआ क्योंकि दोनों की नीति सर्वथा भिन्न थी। बुसी फ्रेंच राज्य को सन्धि तथा मित्रता के आधार पर रखना चाहता था और आप स्वयं हैदराबाद दरबार में रहता हुआ केन्द्रीय शासन प्राप्त करना चाहता था। लैली अपनी सब शक्ति को लगाकर अंग्रेजों की वस्तियों पर एक-एक करके आक्रमण करना चाहता था। उसका कथन था, “सम्राट् और कम्पनी ने मुझको अंग्रेजों को भारत से बाहर निकालने के लिए भेजा है” इस बात से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है कि कौन-कौन राजा किस-किस नवाबी के लिए झगड़ा करते हैं।”

दिसम्बर १७५८ में मद्रास का घेरा आरम्भ हुआ परन्तु फरवरी में उसको उठाना पड़ा क्योंकि अंग्रेजी जल-सेना का सामना करने के लिए फ्रांसीसियों के पास जल-सेना नहीं थी। अब लैली ने बचाव का युद्ध करना आरम्भ किया और अंग्रेज आक्रमणकारी बने। लैली के सैनिक धन के अभाव में निरन्तर विद्रोह करते रहते थे और लैली के पांडेचरी के गवर्नर के साथ सम्बन्ध बहुत बुरे थे। सितम्बर १७५९ में डी० आशे भी कोरोमण्डल तट पर लौट आया और तीसरी बार पोकोक के साथ फिर एक अनिर्णायक युद्ध किया। फिर एक बार पांडेचरी को इसके भाग्य पर छोड़ कर वह टापुओं की ओर चला गया। लैली दो वर्ष तक सामना करता रहा, परन्तु जनवरी १७६० में सर आयरकूट ने उसको वान्डीवास के स्थान पर परास्त किया और बुसी को बन्दी बना लिया गया। लैली ने भागकर पांडेचरी में शरण ली और एक वर्ष पश्चात् हथियार डालने पर बाध्य हो गया। कहते हैं कि वह ऐसा घृणापात्र बन गया था कि यदि अंग्रेजी सैनिक जब वह नगर छोड़ रहा था, उसकी सहायता न करते तो लोग उसकी बोटी-बोटी काट

डालते। उसको युद्धबन्दी के रूप में इंग्लैंड ले जाया गया, परन्तु वहाँ से अपने ऊपर लगाये हुए दोषों का सामना करने के लिए छुटकारा पाकर वह फ्रांस पहुँचा। दो वर्ष तक अभियोग चलने के पश्चात् उसको मृत्यु-दण्ड दिया गया।

पेरिस की संधि—पाँडेचेरी के पतन के साथ-साथ भारतवर्ष में फ्रेंच आधिपत्य का भी अन्त हो गया। १७६३ में पेरिस की सन्धि के द्वारा पाँडेचेरी तो फ्रांसीसियों को मिल गया, परन्तु उसकी किलेबन्दी करने का अधिकार उससे छीन लिया गया। अथ वे कोरोमण्डल तट पर निश्चित संख्या में ही सैनिक रख सकते थे और बंगाल में भी अब वे केवल व्यापार मात्र के लिए ही जा सकते थे। मुहम्मद अली कर्नाटक का नवाब बना दिया गया। हैदराबाद का सूबेदार सलावतजंग ही रहा, परन्तु वहाँ पर फ्रांसीसियों का प्रभाव अब एक कहानी रह गई थी। सलावतजंग को हैदराबाद का नवाब स्वीकार करना कोई सहत्वपूर्ण बात नहीं हुई; क्योंकि १७६१ में ही उसके भाई निज़ामअली ने उसको पदच्युत कर दिया था और पेरिस-सन्धि के छः महीने पश्चात् उसका वध कर दिया था। उत्तरी सरकार का प्रबल अंग्रेजों के हाथ लगा; जिसके लिए १७६५ में क्लाइव ने मुगल सम्राट से फर्मान प्राप्त कर लिया। इसके पश्चात् फ्रान्स के साथ युद्ध छिड़ने पर अंग्रेजी सैनिक पाँडेचेरी पर कब्ज़ा कर लेते थे। फ्रान्स ने एक बार फिर १७८१-८३ में अपनी शक्ति को स्थापित करने का प्रयत्न किया, परन्तु इसे बार स्थल पर कोई आधार न होने के कारण उनको फिर निराश होना पड़ा। मोरलेट ने कम्पनी के आर्थिक इतिहास की कड़ी आलोचना की, जिसके फलस्वरूप कम्पनी के सब अधिकार १७६९ में राजकीय आज्ञा के द्वारा समाप्त कर दिये गये। १७८५ में फ्रेंच कम्पनी की पुनर्स्थापना की गई; परन्तु इस बार उसको केवल व्यापारिक एकाधिकार के अतिरिक्त और कोई अधिकार नहीं दिया गया।

अंग्रेजों की सफलता के कारण :—अंग्रेजों की विजय के अनेकों कारण थे, जिनमें उनका बड़ा-चढ़ा व्यापार और सुदृढ़ आर्थिक दशा भी मुख्य कारण थे। मोरलेट के अनुसार फ्रान्स में भारतीय सामान की बिक्री १७३६ से १७५६ तक ११४५०००० पौंड थी जब कि इसी समय में इंग्लैंड में ४१२००००० पौंड की थी। व्यापारिक कम्पनी के लिए समृद्ध व्यापार अत्यन्त आवश्यक है, फिर शासन और सेना-सम्बन्धी उसकी नीति कुछ भी

क्यों न हो। समृद्ध व्यापार के कारण ही अंग्रेज कम्पनी फ्रेंच कम्पनी की सफल शत्रु सिद्ध हो सकी। अंग्रेजों को सदा अपनी विजयों से लाभ होता था। युद्ध काल में अंग्रेजों ने अपने व्यापार का बड़ा ध्यान रखा और अपने निर्यात की बहुत कुछ वृद्धि की जैसा कि आंकड़ों से सिद्ध होता है। जब १७४६ के पश्चात् फ्रान्स का व्यापार निरन्तर अवनत होता चला गया। इसके पश्चात् बंगाल की विजय ने अंग्रेजी कोष को लबालब किये रखा। अंग्रेज कभी भी यह नहीं भूले कि वे एक व्यापारिक संस्था के थे। उधर डूप्ले ने अपने मस्तिष्क में यह निश्चित कर लिया था कि भारतीय व्यापार से उनको कोई लाभ नहीं हो सकता और सैनिक विजय के द्वारा वे अपने भविष्य को उज्ज्वल बना सकते थे। परन्तु उस काल की परिस्थिति-विशेष में यह एक भयानक भूल थी। भारतवर्ष यूरोप से बहुत दूर पड़ता था और फ्रान्स यूरोप की राजनीतिक दलदल में ऐसा फँसा हुआ था कि केवल तलवार के बल से पूर्वी साम्राज्य को विजय नहीं कर सकता था। १७५३ में मद्रास से अंग्रेजों ने लिखा था “डूप्ले की नीति को कम्पनी की नहीं वरन् एक राष्ट्र की सहायता की आवश्यकता है।”

अंग्रेज कम्पनी एक शक्तिशाली और स्वावलम्बी संस्था थी जिसका प्रबन्ध एक प्राइवेट संस्था के हाथ में था और जिसकी आर्थिक स्थिति ऐसी सुदृढ़ थी कि इंग्लैंड की सरकार उससे बड़ी-बड़ी धनराशि ऋण लिया करती थी। इसका विधान ऐसा था कि इससे जनता में भी इसका अधिक प्रभाव था और सरकार इसके कार्य में विशेष हस्तक्षेप नहीं कर पाती थी। परन्तु फ्रान्स की कम्पनी सरकार का एक विभाग मात्र थी। सब शक्ति सरकार के हाथ में थी। १७३३ में अपनी पूंजी पर व्यापार सरकार द्वारा सुनिश्चित हो जाने के कारण, डाइरेक्टर लोग इसके शासन में कोई रुचि नहीं रखते थे। निस्सन्देह लुई पन्द्रहवें के मन्त्री सुस्त थे, परन्तु उन दिनों की यूरोपियन स्थिति भी उनको भारती समस्या पर समुचित ध्यान देने का अवकाश नहीं देती थी और विदेशी व्यापार में प्रारम्भ से ही फ्रांसीसियों में जोखिम उठाने की भावना का अभाव था। सम्राट् लुई पन्द्रहवें और उसके योग्य मन्त्री कोलवर्ट ने कम्पनी में नवजीवन का संचार किया था, परन्तु उनकी छत्रछाया के उठते ही कम्पनी की शक्ति जैसे भाप बनकर उड़ गई हो। सरदार अनिश्चित काल तक कम्पनी को सहायता नहीं दे सकती थी।

व्यक्तिगत रूप से जोखिम उठाने की भावना तथा साहस जिसने अंग्रेजी कम्पनी को शक्तिशाली और समृद्ध बनाया, उसका फ्रेंच कम्पनी में सर्वथा अभाव था।

१७४६ से १७६३ तक जो पारस्परिक युद्ध होता रहा उसमें अंग्रेज लगभग सदा ही विजयी रहे और इस विजय का एक मुख्य कारण क्लाइव और लारेंस के अजेय प्रयत्न तथा उनकी योग्यता थी। उनकी सफलता का मुख्य कारण उनकी निरन्तर उन्नतिशील जलशक्ति थी। सप्तवर्षीय युद्ध के प्रारम्भ होने पर जब फ्रान्स की शक्ति यूरोप के युद्धक्षेत्रों में ही लग गई थी, तो अंग्रेजी जलशक्ति और अधिक शक्तिशाली हो गई। सम्भवतः अंग्रेजों की उच्चतर जलशक्ति कभी-कभी फ्रान्स को विजयी न होने देती। क्लाइव ने बंगाल में चन्द्र नगर पर अधिकार कर लिया था जिसके कारण फ्रान्स का भारत के सबसे अधिक धनाढ्य प्रान्त से अधिकार सदा के लिए जाता रहा। १७५७ के पश्चात् बंगाल की आमदनी उनको इतनी अधिक हो जाती थी कि वे अपने युद्ध का व्यय भली प्रकार चला सकते थे। उधर फ्रान्स की सेना के व्यय के लिए बड़ी कठिनता पड़ती थी। उनका व्यापार भी अधिक समृद्ध नहीं था और उत्तरी सरकार का प्रान्त, जो उनको मिल गया था, उसकी आमदनी से वहाँ पर रहने वाली सेना का ही व्यय चलता था। उसकी आय का एक पैसा भी फ्रान्स के कोष में जमा नहीं हुआ। केवल एक बार बुसी ने लगभग १ लाख रुपया लैली को दिया था।

डूप्ले और बुसी की विभिन्नता भी फ्रेंच-पराजय का एक कारण बतलाई जाती है और इसमें तथ्य भी है। उधर अंग्रेज सेनापति मिलकर काम करना जानते थे, परन्तु किसी साम्राज्य की विजय और पराजय में बड़े-बड़े गम्भीर कारण छिपे होते हैं। आधुनिक खोज के आधार पर यह धारणा अधिक सत्य प्रतीत होती है कि समुद्र पर अधिकार सबसे अधिक महत्वपूर्ण कारण था। कप्तान माटन इस सिद्धान्त का सब से प्रमुख प्रतिपादक है।

आठवाँ अध्याय

अन्तिम मुगल तथा मरहटे

बाबर द्वारा स्थापित तथा अकबर द्वारा सुप्रतिष्ठित एवं शाहजहाँ द्वारा अलंकृत भव्य मुगल साम्राज्य, आलमगीर औरंगजेब की कुटिल एवं धर्मान्ध नीति के कारण पतनोन्मुख हो चला। जहाँ तक सीमा-वृद्धि का सम्बन्ध है मुगल साम्राज्य औरंगजेब के शासन-काल में सर्वोच्च शिखर पर था; किन्तु सुप्रबन्ध एवं सुसंगठन तथा शक्ति के दृष्टिकोण से इसकी जड़ें खोखली हो गई थी। औरंगजेब की मृत्यु होते ही साम्राज्य इतनी शीघ्रता से क्षीण होता गया कि कुछ ही कालोपरान्त उचित शब्दों में उसका अन्त हो गया।

औरंगजेब के उत्तराधिकारी:—औरंगजेब के पाँच पुत्रों में मुहम्मद ज्येष्ठ था। वह औरंगजेब की आँखों के सामने ही अपनी आँखें बन्द कर चुका था। अकबर राजपूताने से भाग कर दक्षिण में सम्भाजी से जा मिला और तदुपरांत वहाँ से फारस भाग गया। साम्राज्य-शतरंज के अब केवल तीन खिलाड़ी अवशेष थे—आज़म, मुअज़्ज़म और कामबरख़श। औरंगजेब के मरते ही मरते ही तीनों खिलाड़ी अपनी २ शांति-चालों में मस्त हो गये। आज़म को आगरे में बंध कर दिया गया। कामबरख़श का सितारा हैदराबाद में मिलीन हो गया। अतः बुढ़ा मुअज़्ज़म बहादुरशाह के नाम से दिल्ली के सिंहासन पर आरूढ़ हुआ।

बहादुरशाह (१७०७-१२ ई०) :—बहादुरशाह दुर्भाग्यवश न तो वीर सेनानी ही था और न कुशल राजनीतिज्ञ, निरन्तर भोग-विलास का शिकार बनने के कारण उसका शरीर एवं मस्तिष्क दोनों ही निर्बल तथा कुटित हो गये थे। ऐसे पुतले को मरहटे, सिक्ख, राजपूत और जाट भला कब सुख की नींद सोने देंगे। वे पहले से दसगुनी प्रबलता से उठ खड़े हुए और मुगल-साम्राज्य पर कुपित होकर आक्रमण कर अशान्ति की आँधियाँ चलाने लगे। विवश होकर बहादुर को साहू को छोड़ना पड़ा। राजपूतों से संधि करनी पड़ी और सिक्खों के मुँह की ओर देखना पड़ा। परन्तु सिक्खों के सामने उसकी दाज न गली, वे पंजाब में दिल्ली तक नित्य-प्रति उपद्रव की काली घटायें उठाते रहे। बूढ़ा बहादुरशाह उनसे युद्ध करते करते सन् १७१२ ई० में मर गया।

जहाँदारशाह (१७१२-१३) :—दिल्ली में फिर रुधिर की नदियाँ बहने लगीं। अपने [तीन भाइयों के खून में हाथ रंगकर जहाँदारशाह सिंहासनारूढ़ हुआ, परन्तु विलास-प्रियता में वह अपने बाप से भी बाज़ी ले गया। फल यह हुआ कि उसके भतीजे फरुखसियर ने जिसके पिता को उससे मरवा डाला था, उसका वध कर दिया और गद्दी का अधिकारी बन बैठा।

फरुखसियर (१७१३-१६) :—राजपद इतना नशीला होता है कि उसमें प्रत्येक व्यक्ति अन्धा हो जाता है। अपने चचा को मारकर फरुखसियर गद्दी पर बैठा। वह विलास-प्रियता में अपने चचा से भी बाज़ी ले गया। अतः राजभार सैयद-भाइयों के हाथ में आ गया, जिनकी सहायता से वह गद्दी पर बैठा था।

सैयद-भाई :—इनके नाम अब्दुल्लाखाँ और हुसेनअलीखाँ थे, दोनों बाढ़ नामक कस्बे के निवासी थे। यह कोई नवीन वंश न था। इनके पूर्वज अकबर महान् के समय से मुगलों की सेवा करते आये थे। किन्तु इन दोनों भाइयों के समान लब्ध-प्रतिष्ठ कोई भी इनके वंश में न हुआ। अब्दुल्लाखाँ प्रधान मन्त्री बन बैठा और शासन-भार अपने भाई के परामर्श से वहन करने लगा। कठपुतली की भाँति नाचता हुआ फरुखसियर उनसे घृणा करता हुआ भी उनका कुछ न बिगाड़ सका। अन्त में दक्षिण की सूबेदारी देकर उसने हुसेन को दिल्ली से बाहर निकाला, किन्तु वह पेशवा बालाजी विश्वनाथ से मिलकर दिल्ली पर आक्रमणकारी हुआ और अपने भाई अब्दुल्ला की सहायता से फरुखसियर का वध करने में सफल हुआ।

फरुखसियर का शासन-काल :—अपने राजत्व-काल में इसने भी औरंगजेब की भाँति हिन्दुओं पर जज़िया लगाया, किन्तु वसूल करने में नितान्त असफल रहा। उसने सिक्खों के नेता 'बन्दा' को एक हजार साथियों के साथ निर्दयता एवं क्रूरता के साथ मौत के घाट उतार दिया। एक रोग से ग्रस्त फरुखसियर का अंग्रेज डाक्टर हेमिल्टन ने उपचार किया। अच्छा होने पर इसके उपलब्ध-स्वरूप अंग्रेजों को कलकत्ते के समीपस्थ गाँव क्रय करने की आज्ञा मिल गई। इसी आज्ञा ने आगे चलकर अंग्रेजों को उग्र रूप धारण करने की क्षमता प्रदान की।

मुहम्मदशाह (१७१६-४८) :—फरुखसियर के वध के पश्चात्

सैयद-बन्धुओं ने उसके दो चचेरे भाइयों को एक दूसरे के अनन्तर गद्दी पर बिठाया और कुछ महीनों तक शासन करवाने के पश्चात् उन्हें भी मौत के घाट उतार दिया। तदुपरान्त जहाँदारशाह के एक और चचेरे भाई मुहम्मदशाह को बादशाह बनाया। यद्यपि मुहम्मदशाह सैयद भाइयों की सहायता से ही गद्दी पर बैठा था, परन्तु वह अन्दर ही अन्दर जलता था, और उनसे छुटकारा पाना चाहता था। सन् १७२२ ई० में सम्राट् के साथ दक्षिण-विद्रोह दबाने के लिये जाते हुए हुसेन अली के प्राण हर लिये गये। उधर अब्दुल्ला ने दिल्ली के सिंहासन पर एक दूसरे राजकुमार को बैठा दिया, परन्तु दक्षिण से लौटने पर उसे युद्ध में परास्त कर तथा कारागृह में डाल मुहम्मदशाह ने अब्दुल्ला के भी प्राण हर लिये। कई शाहज्जदों को सिंहासन से उतारने चढ़ाने के कारण वे इतिहास में 'सम्राट-निर्माता' के नाम से प्रसिद्ध हैं।

मुगल सल्तनत का अस्त-व्यस्त होना :—सैयद भाइयों के स्थान पर मुहम्मदशाह ने एक वृद्ध तथा अनुभवशील मुगल सरदार निज़ामुलमुल्क को प्रधान मन्त्री नियुक्त किया। किन्तु मन्त्री के वृद्ध कर तथा पुराने अनुभव उस भीषण क्रांति का दमन न कर सके, जो अन्दर ही अन्दर साम्राज्य को निस्सार बना रही थी। बुढ़ा मन्त्री कायरों की भाँति हैदराबाद लौट गया और वहाँ सन् १७२४ ई० में अपने आपको स्वतन्त्र घोषित कर बैठा। उधर रुहेलों ने अवध के पश्चिमोत्तर में स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिया। बंगाल के सूबेदार ने भी दिल्ली-पति को कर देना बन्द कर दिया। राजपूताने की वीरभूमि में राजपूतों ने भी अपनी स्वतन्त्र-ध्वजा को समुन्नत कर दिया। मुहम्मदशाह अकर्मण्य की भाँति सबकी स्वतन्त्रता को मान बैठा। इस भाँति औरंगजेब के निधन के २१-२२ वर्ष पश्चात् ही मुगल राज्य क्षीण-काय होगया।

नादिरशाह का आक्रमण (१७३६) :—मुगल साम्राज्य के पतन एवं हास का आभास ऊपर दिया जा चुका है। मुहम्मदशाह शासन कर ही रहा था कि फारस, काबुल और गजनी का स्वामी बनने के पश्चात् १७३६ ई० में लाहौर होता हुआ दिल्ली से १०० मील पर करनाल युद्ध क्षेत्र में नादिरशाह आ धमका। दिल्लीपति हतोत्साह होकर युद्ध-क्षेत्र में विनय-पूर्वक अधीनता स्वीकार करने के लिए उपस्थित हुआ। नादिर मुहम्मदशाह के साथ बाबर, अकबर और शाहजहाँ को दिल्ली में महमान बनकर प्रविष्ट

हुआ। एक दिन ऐसी किंवदन्ती उड़ी कि नादिरशाह मर गया है। अतः दिल्ली-निवासियों ने उसके कई सैनिक मार डाले। जब यह खबर नादिरशाह के पास पहुँची तो वह आग-बबूला हो गया, और उसने नगर को लूटने तथा नगरवासियों को वध करने का आदेश दे दिया। अन्त में १ या १० घंटे के पश्चात् बहुत अनुनय विनय करने पर नादिरशाह शान्त हुआ, और रक्त-शोषण की आज्ञा को बन्द किया। इसके बाद वह दो मास और दिल्ली में शाही महमान बन कर अपने साथ असंख्य द्रव्य, कोहेनूर, एवं तख्ते-ताऊस को लेकर फ़ारिस वापस लौटा। सिंधु नदी के पश्चिम का देश भी सुल्तान को आक्रमणकारियों के हवाले करना पड़ा। इस भाँति अफ़ग़ानिस्तान भी मुग़ल राज्य की सीमा से बाहर हो गया।

अफ़ग़ानिस्तान के हाथ से निकल जाने एवं दिल्ली के उजड़ जाने के अतिरिक्त नादिर के आक्रमण के दो और भी महत्वपूर्ण परिणाम निकले। शक्तिहीन साम्राज्य को भारी धक्का लगा और दूसरे-पश्चिम के अन्य आक्रमणकारियों को भी भारत पर हमला करने का साहस होने लगा। सन् १७४८ ई० में एक अन्य आक्रमणकारी अहमदशाह नादिर की हत्या कर भारत पर अग्रसर हुआ, किन्तु शाहजादा अहमद ने उसे सतलज नदी के तट पर सरहिन्द के मैदान में ऐसी बुरी तरह परास्त किया कि वह रणस्थली से भागने को हो मजबूर हुआ।

अहमदशाह (१७४८-५४) :—अहमदशाह के आक्रमण से एक मास पश्चात् मुहम्मदशाह दिवंगत हुआ, और उसका पुत्र अहमदशाह गद्दी पर बैठ गया। उसके शासन-काल में अहमदशाह दुर्रानी ने भारत पर दूसरा आक्रमण किया। आन्तरिक षडयन्त्रों के कारण सुल्तान को मुल्तान, पंजाब और सिन्ध के सूबे अफ़ग़ानों को दे देने पड़े। सन् १७५४ ई० में निजामुल्मुल्क के प्रपौत्र गाज़ीउद्दीन ने अहमदशाह का वध कर दिया और जहाँदारशाह के पुत्र आलमगीर द्वितीय को गद्दी पर आसीन किया।

आलमगीर द्वितीय (१७५४-५६ ई०) :—गाज़ीउद्दीन तथा रुहेलों का सरदार नजीबुद्दौला दोनों आलमगीर द्वितीय को अपने वश में रखने का प्रयत्न कर रहे थे। गाज़ीउद्दीन ने अहमदशाह दुर्रानी के नियत किये हुए मुल्तान के हाकिम को कारागार में डाल दिया। फलस्वरूप १७५६ ई० में अहमदशाह ने तीसरी बार भारत-भूमि पर आक्रमण किया और दिल्ली को

मनमाना लूटा। उसके लौटते ही गाज़ीउद्दीन ने पेशवा के भाई राघोबा की मदद से आलमगीर द्वितीय का वध करवा दिया और कामबख्श के पुत्र को गद्दी पर बैठा दिया। अब की बार नजीबुद्दौला दिल्ली छोड़ कर भाग गया तथा गाज़ीउद्दीन पुनः मन्त्री बन बैठा। राघोबा ने स्थिति अनुकूल पाकर अफ़ग़ानों को पंजाब से निकाल दिया और स्वयं इस प्रान्त का शासक बन बैठा। इस प्रकार मरहटों का मध्याह्न रवि समस्त महाराष्ट्र, गुजरात, मालवा, मध्य भारत, उड़ीसा तथा पंजाब को आलोकित करने लगा। मरहटों की विजयिनी स्वर्ण ध्वजा अनिल-विलोदित होकर मरहटा उत्कर्ष का परिचय देने लगी। किन्तु नजीबुद्दौला की कुमन्त्रणा से सन् १७५६ ई० में अहमदशाह पुनः भारत पर आक्रमणकारी हुआ और चौथी बार आक्रमण कर मरहटों से पंजाब छीन कर दिल्ली की ओर अग्रसर हुआ।

शाह आलम द्वितीय (१७५६-१८०६) ई०:-पेशवा के पुत्र विश्वासराव तथा सदाशिवराव ने दिल्ली के सिंहासन पर अधिकार कर कामबख्श के पुत्र की गद्दी से च्युत कर शाह आलम को बादशाह बना दिया। सन् १७६१ ई० में पानीपत के ऐतिहासिक क्षेत्र में अहमदशाह अब्दाली और मरहटों के मध्य तुमुल युद्ध हुआ।

पानीपत का तीसरा युद्ध (१७६१ ई०):-अहमदशाह अब्दाली नादिरशाह का मन्त्री तथा सेनापति था। नादिरशाह के मरने के पश्चात् सन् १७४८ ई० में उसने काबुल तथा कन्धार पर अधिकार जमा लिया। अब्दाली अथवा दुर्रानी कबीले का सरदार होने के कारण वह अब्दाली तथा दुर्रानी नामों से प्रसिद्ध है। उसने भारत पर सात आक्रमण किये। इनमें सबसे प्रसिद्ध आक्रमण सन् १७६१ ई० का है। इसका कारण यह था कि राघोबा ने पंजाब से अहमदशाह अब्दाली के पुत्र को निकाल दिया था और उसके नियुक्त वज़ीर को भी देहली से भगा दिया था। पानीपत के युद्ध-क्षेत्र में मरहटों ने उसका सामना किया। मरहटा फौजों का सेनापति सदाशिवभाऊ था। वह बहुत वीर था किन्तु मरहटे जिन्होंने गुरिल्ला युद्ध को छोड़कर खुले मैदान में लड़ना अभी आरम्भ ही किया था, परास्त हुए। पराजय का कारण तोपचियों का विश्वासघात तथा उनकी आपस की ईर्ष्या थी। जब उनका शत्रु उनके सामने देश पर विजय प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहा था तब भी वह सेनापतित्व के लिये झगड़ रहे थे। फल यह हुआ कि

वह परास्त हुए। पेशवा का भाई विश्वासराव और कई योग्य सेनापति मारे गये।

परिणाम :—युद्ध का परिणाम यह हुआ कि मरहठा शक्ति को बहुत घटका लगा और उनकी भारत में हिन्दू साम्राज्य स्थापित करने की स्वर्ण कल्पना हवा हो गई। दूसरे, इससे मुगल साम्राज्य का पूर्ण क्षय हो गया क्योंकि मरहठों से ही अंग्रेजों को सब से अधिक भय था।

शाहआलम द्वितीय के समय की अन्य घटनायें :—शाहआलम बहुत निकम्मा सम्राट् था। इसने बक्सर के युद्ध में अंग्रेजों से हार खाई। इस पराजय के बाद इलाहाबाद की संधि से इसने अंग्रेजों को बिहार, उड़ीसा तथा बंगाल की दीवानी दे दी।

वहादुरशाह द्वितीय :—वह भारत का अन्तिम मुगल सम्राट् था। उसने भारत के प्रथम स्वतन्त्रता-युद्ध में भाग लिया, परन्तु वह सफल न हो सका फलस्वरूप वह कैद कर लिया गया और रंगून भेज दिया, जहाँ १८६२ ई० में उसकी मृत्यु हो गई।

औरंगजेब की धार्मिक कट्टरता, उसका मन्दिरों को नष्ट-भ्रष्ट करना, जज़िया कर लगाना, राजपूतों तथा मरहठों के साथ बुरा व्यवहार उसके साम्राज्य की अवनति का विशेष कारण हुए। क्योंकि इससे हिन्दुओं में जोष उत्पन्न हुआ, जिससे मरहठा व सिक्ख जाति का प्रादुर्भाव हुआ, जिन्होंने मुगल साम्राज्य को घोर पतन का संदेश दिया।

शिवाजी तब आगरे में थे, उस समय औरंगजेब ने उनके बहुत बुरा बर्ताव किया, जिससे वह मुगल साम्राज्य को नष्ट-भ्रष्ट करने का प्रयत्न करके वहाँ से निकला।

दक्षिण में बीजापुर और गोलकुण्डा की मुसलमानी रियासतें थीं। ये रियासतें दक्षिण की हिन्दू रियासतों से युद्ध करती थीं। उनके राज्य को समाप्त कर देना औरंगजेब की बहुत बड़ी भूल थी क्योंकि उनकी समाप्ति के बाद मरहठों को मुगल साम्राज्य के भिन्न २ भागों पर आक्रमण करने और लूट-मार करने की स्वतन्त्रता प्राप्त हो गई, क्योंकि अब उनको रोकने वाली कोई स्थानीय शक्ति नहीं रही।

औरंगजेब प्रकृति से ही सन्दिग्ध था, वह अपने अधिक से अधिक योग्य व विश्वस्त सेनापति व पदाधिकारी का भी पूर्णतया विश्वास नहीं

करता था, उसकी दोहरी सेनापतित्व की बुरी और दूषित प्रथा इसका ही परिणाम था। वह सोचता था कि अकेले सेनापति को Command दे देने से कहीं ऐसा न हो कि वह स्वयं शत्रु से मिल जावे और अधिक हानि पहुँचा दे। इसका बुरा प्रभाव यह होता था कि कोई भी अपना उत्तरदायित्व न समझता और इसलिए कोई भी युद्ध सफलता-पूर्वक न चलता। राज्य प्रबन्ध के मामले में भी वह इस प्रकार अपने उच्च से उच्च पदाधिकारी का विश्वास न करता था जिसके परिणाम (Over Centralization) अत्यधिक केन्द्रीयकरण फलस्वरूप पदाधिकारियों की स्वयं की निर्णय-शक्ति नष्ट हो गई। इस प्रकार अत्यधिक केन्द्रीयकरण ने राज्य की नींव खोखली कर दी।

सीमा-प्रदेश के युद्धों ने औरङ्गजेब को आर्थिक संकट में डाल दिया। इनमें जान व माल की अत्यन्त क्षति हुई। बार बार दक्षिण से अच्छे २ सेनापति बुलवाये जाते, जिसके कारण दक्षिण में मरहटों को अपनी शक्ति बढ़ाने का अवसर प्राप्त हो गया।

राजा जसवंतसिंह की मृत्यु के पश्चात् औरङ्गजेब ने उसके लड़कों को बन्दी बना कर मुस्लिम वातावरण में उनका पालन-पोषण करना चाहा। ऐसा करना बहुत बड़ी भूल थी। अपनी आन व मान पर मर जाने वाली राजपूत जाति औरङ्गजेब की हिन्दू-विरोधी नीति से अतिवृद्ध थी अतः क्रोधित हो उठी। वीर दुर्गादास अपने सैनिकों की सहायता से राजपूतों को, बलात् मुगल शिविर से निकाल लेने में सफल हुआ। राजपूत रियासतें विद्रोही हो गईं विशेषतया मेवाड़ व मारवाड़। इस प्रकार औरङ्गजेब ने राजपूत जैसी वीर व विश्वासपात्र जाति का सहयोग अपनी मूर्खता से खो दिया।

मनसबदार प्रथा, जो मुगल शासन का आधार थी, सैद्धान्तिक रूप से ही गलती थी। माल और सेना-विभाग दोनों का कार्य एक ही पदाधिकारी को सौंपना सर्वथा भूल थी। एक मन्त्री माल-विभाग का Incharge हो यदि दो वर्ष तक किसी युद्ध के लिए बाहर चला जाय तो इस प्रकार की शासन-प्रणाली का असफल होना अवश्यम्भावी था। राजकर्मचारियों की विलासप्रियता और निर्दयता भी शासन-व्यवस्था को छिन्न-भिन्न करने में सहायक हुई। इसका ही परिणाम यह हुआ कि औरङ्गजेब के अन्तिम वर्षों में राजकोष रिक्त, युद्ध अविरामित, सेना अस्त-व्यस्त और पदाधिकारी राज-द्रोही हो चले थे।

औरंगजेब के उत्तराधिकारी बहुत कमजोर थे, वे अपने मन्त्रियों के हाथ का खिलौना बन गये। बहादुरशाह, जहाँदरशाह, फरुखसियर और मुहम्मदशाह सब निर्बल और दुस्साहसी थे, वे मुगल-साम्राज्य का पतन न रोक सके।

पतन की ओर अग्रसर मुगल साम्राज्य नादिरशाह व अहमदशाह अब्दाली के आक्रमणों से और भी छिन्न-भिन्न हो गया।

उस समय यातायात के आधुनिक-से साधन न थे। इसलिये इतने बड़े साम्राज्य पर नियन्त्रण रखना असम्भव था, इस कारण भी इसका पतन हुआ।

मरहठा साम्राज्य तथा पेशवा :—मुगल साम्राज्य के अन्त काल में मरहठे भारत की सबसे प्रभावशाली शक्ति रहे। औरंगजेब की मृत्यु के बाद बहादुरशाह प्रथम ने सम्भाजी के पुत्र साहू को दक्षिण भेज मरहठों को दो दलों में विभक्त करना चाहा, परन्तु सफल न हो सका। मरहठों में समझौता हो गया और साम्राज्य का बँटवारा साहू तथा उसकी सौतेली माँ में समझौता हो गया, परन्तु वह अत्यंत विलासप्रिय था। राज्य का सारा कार्य उसने अपने प्रधानमन्त्री बालाजी विश्वनाथ के हाथों में सौंप दिया। प्रधान-मन्त्री को मरहठे पेशवा कहते थे, इसलिए बालाजी विश्वनाथ प्रथम पेशवा के नाम से प्रसिद्ध हैं। वह जाति का चितपावन ब्राह्मण था। उसने बड़ी योग्यता से राज्य-कार्य संभाला। इस प्रकार राज्य की बागडोर पेशवाओं के हाथों में आ गई, उसने अपनी दूरदर्शिता तथा योग्यता से न केवल पेशवा का पद ही पैत्रिक बना दिया वरन् मरहठा साम्राज्य को बहुत सुदृढ़ किया। उन्होंने १७१४ ई० से १८१८ ई० तक लगभग १०४ वर्ष मरहठों के नाम से भारत पर राज्य किया और पूना को अपनी राजधानी बनाया।

बालाजी विश्वनाथ ने फौज रखने के लिए जागीरदारी की प्रथा को फिर से प्रचलित किया। उसके समय में सैयद भाइयों ने फरुखसियर को पद से हटाने में सहायता माँगी। पेशवा दस हजार सेना ले उसकी सहायता के लिए गया और फरुखसियर को गद्दी से उतार कर मुहम्मदशाह को सिंहासन पर बैठाया। इसके बदले उसे दक्षिण से चौथ तथा सरदेशमुखी वसूल करने का अधिकार प्राप्त हुआ और उसके राज्य को एक स्वतन्त्र राज्य

मान लिया गया। सन् १७२० ई० में उसकी मृत्यु हो गई और उसका पुत्र बाजीराव प्रथम पेशवा हुआ।

बाजीराव प्रथम :—बाजीराव प्रथम सबसे अधिक योग्य पेशवा गिना जाता है। इसने गुजरात तथा मालवा पर विजय प्राप्त की और बुन्देलखंड पर अपना अधिकार कर लिया। उसने पुर्तगीजों को हराया और वेसीन के टापू पर अधिकार कर लिया। वह देहली पर आक्रमण कर मुगल साम्राज्य का अन्त कर देना चाहता था। इसलिए १७३५ ई० में वह देहली की ओर बढ़ा। भूपाल के निकट निजाम ने उसका सामना किया, परन्तु परास्त हुआ और मुगल सम्राट् मुहम्मदशाह ने पचास लाख रुपये युद्धक्षति स्वरूप देने का वचन दिया।

इसके समय में कुछ मरहटा सरदारों ने कई स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिये। मल्हाराव होल्कर ने इन्दौर में, राघोजी भोंसला ने नागपुर में, रानेजी सिन्धिया ने ग्वालियर में तथा पल्लाजी गायकवाड़ ने गुजरात में शक्ति प्राप्त कर ली। पेशवा ने अपनी अनुपम योग्यता तथा दूरदर्शिता से उनको संगठित कर मरहटा संघ का रूप दिया। इस संघ का प्रधान पेशवा स्वयं हुआ। १७४० ई० में बाजीराव की मृत्यु हो गई। इसने उत्तरी भारत में मरहटों का प्रभाव इतना बढ़ा दिया कि वह भारत की सबसे महान् शक्ति हो गये।

बालाजी बाजीराव (सन् १७४० ई० से १७६१ ई०) :—बाजीराव की मृत्यु के बाद बालाजी बाजीराव पेशवा हुआ, उसके समय में मरहटों की शक्ति उन्नति के शिखर पर पहुँच गई। उसके समय में राघोजी भोंसला ने बंगाल पर कई आक्रमण किये। बंगाल के शासक अलीवर्दीखान ने तंग आकर उड़ीसा का प्रदेश मरहटों को दे दिया और बंगाल तथा बिहार से चौथ लेने की आज्ञा दे दी। मुगल साम्राज्य ने भी मरहटों को चौथ देना स्वीकार कर लिया। इसके समय में पानीपत का तीसरा युद्ध हुआ, जिसका वर्णन पहले दिया जा चुका है। पानीपत की पराजय से पेशवा को इतना दुःख हुआ कि उसकी मृत्यु हो गई।

नौवाँ अध्याय

अंग्रेजी राज्य का सूत्रपात

“सिराजउद्दौला तथा अंग्रेज”

अलीवर्दीखॉ :—औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् मुगल साम्राज्य में अराजकता फैल गई। कुछ कालोपरान्त सुदूरवर्त्ती प्रांतों के सूबेदार नाममात्र में ही साम्राज्य के अधीन रह गये। ऐसी परिस्थिति में अलीवर्दीखॉ नामक एक साहसी अफगान, जिसे बंगाल के सूबेदार ने अपना मंत्री तथा बिहार का हाकिम बना दिया था, १७४२ ई० में बंगाल, बिहार तथा उड़ीसा का सूबेदार बन बैठा। इसी समय मरहटों ने बंगाल पर आक्रमण करने आरम्भ कर दिये। अलीवर्दीखॉ ने मुगल साम्राज्य से सहायता माँगी जो किसी प्रकार प्राप्त न हो सकी। इस पर उसने देहली को मालगुजारी देना बन्द कर दिया और स्वतंत्र शासक की भाँति आचरण करने लगा किन्तु प्रगटतया वह अपने आपको सम्राट् के अधीन ही प्रदर्शित करता रहा।

अलीवर्दीखॉ योग्य तथा वीर शासक था। उसके शासन-काल में प्रजा अत्यन्त सुखी तथा समृद्ध थी। उसके समकालीन अंग्रेज इतिहासकार तथा स्वयं क्लाइव ने बंगाल का प्रशंसनीय वर्णन किया है। वह योरोपियन व्यापारियों के साथ अच्छा बर्ताव करता था। दूरदर्शी राजनीतिज्ञ होने के कारण वह अंग्रेजों तथा फ्रांसीसियों की कूटनीतिक चालों को, जिनके द्वारा वह हैदराबाद तथा कर्नाटक में पैर फैलाते जा रहे थे, भली भाँति समझता था, इसलिए जब अंग्रेजों ने कलकत्ते तथा फ्रांसीसियों ने चन्द्रनगर की किले-बन्दी प्रारम्भ की तो उसने दोनों कम्पनियों के प्रतिनिधियों को दरबार में बुला कर कहा, ‘तुम लोग सौदागर हो, तुम्हें किलों की क्या आवश्यकता है? जब तुम मेरी संरक्षकता में हो तो तुम्हें किसी शत्रु का भय ही क्या हो सकता है? इसलिए तुम अपनी किलेबन्दी तुरन्त बन्द करो।’ परन्तु दोनों कम्पनियों के अधिकारियों ने नवाब के आदेश की ओर अधिक ध्यान न दिया। अलीवर्दीखॉ भी अपनी वृद्धावस्था के कारण उसमें हस्तक्षेप न कर सका, परन्तु विदेशी व्यापारियों की सैनिक तैयारियों की ओर वह सजग था। यही कारण था कि अपनी मृत्यु-शैय्या पर पड़े मरणासन्न अलीवर्दीखॉ ने अपने धेवते तथा उत्तराधिकारी सिराजउद्दौला को पास बुला कर शिक्षा

दी “कि अपने साम्राज्य में यूरोपीय शक्ति पर दृष्टि रखना । यदि भगवान् मुझे कुछ और आयु देता तो मैं तुम्हें इस संकट से भी मुक्त कर देता परन्तु अब यह काम तुम्हें करना होगा । अपने देशों के पारस्परिक युद्धों के बहाने इन लोगों ने कर्नाटक तथा हैदराबाद पर अपना प्रभुत्व जमा लिया है । यही नीति ये यहाँ भी प्रयोग कर सकते हैं । इन्हें किले बनाने अथवा सेना रखने की आज्ञा न देना, अन्यथा देश तुम्हारे हाथों से जाता रहेगा ।” १० अप्रैल सन् १७५६ ई० को अलीवर्दीखों की मृत्यु हो गई और सिराजउद्दौला बंगाल की गद्दी पर बैठा ।

सिराजउद्दौला की अप्रसन्नता के कारण :—गद्दी पर बैठने के थोड़े दिनों पश्चात् सिराजउद्दौला को अंग्रेज व्यापारियों से संघर्ष करना अनिवार्य हो गया, क्योंकि ये व्यापारी बंगाल में अपना राज्य स्थापित करने पर तुले हुए थे । धन तथा पद का प्रलोभन दे वे नवाब के अनेक दरबारियों तथा सम्बन्धियों को उसके विरुद्ध भड़का रहे थे । दूसरे इन्होंने जान बूझ कर तरह २ से नवाब का अपमान करना आरम्भ कर दिया था । वे सिराज-उद्दौला को बंगाल का नवाब स्वीकार करने को भी तैयार न थे । यही कारण था कि उसके गद्दी पर बैठते समय अंग्रेज कम्पनी ने कोई भेंट इत्यादि भी उसकी सेवा में न भेजी जैसा कि उस समय प्रथा थी । इसके अतिरिक्त और भी कई कारण थे जिनसे उसका क्रोध बढ़ता गया । सर्वप्रथम अंग्रेजों ने कलकत्ता तथा अन्य व्यापारिक स्थानों की किलेबन्दी आरम्भ कर दी और जब नवाब ने इस सैनिक तैयारी को रोकने की आज्ञा दी तो उन्होंने उसके आदेश की परवा न कर अपनी तैयारी उसी भाँति जारी रखी । दूसरे, सन् १७१६ ई० में मुगल सम्राट् फर्रुखसियार ने बंगाल में अंग्रेजों के माल पर चुङ्गी माफ कर दी थी । फलस्वरूप कम्पनी का माल बिना कर दिये प्रांत में कहीं जा सकता था । परन्तु अब कम्पनी के अधिकारियों ने इस विशेष अधिकार का दुरुपयोग प्रारम्भ कर दिया । वे अन्य व्यापारियों के माल पर चुङ्गी लेकर उसे भी अपना बतला कर बिना कर दिये निकालने लगे । इससे राज्य की आमदनी को बहुत धक्का लगा । तीसरे, नवाब के जो दरबारी अथवा सेवक किसी अपराध में दरबार से निकाल दिये जाते, इन्हें अंग्रेज कलकत्ते में बुला कर अपनी कोठी में आश्रय देने लगे । इसी बीच नवाब को ज्ञात हुआ कि पूर्निया का नवाब शौकतजंग, जो इसका एक सम्बन्धी था, मुर्शिदाबाद की गद्दी पर बैठने का प्रयत्न कर रहा है । सिराजउद्दौला को

संदेह हुआ कि इसमें भी अंग्रेज का हाथ अवश्य है। अंग्रेजों से निबटने से पूर्व उसने शौकतजंग को ठीक करना चाहा। वह एक विशाल सेना सहित पुर्निया की ओर बढ़ा। जब शौकतजंग को इसकी सूचना मिली तो वह एक अमूल्य भेंट ले उसके स्वागत के लिए आगे बढ़ा और अपनी निर्दोषता प्रकट की। सिराजुद्दौला ने उसे क्षमा कर दिया।

शौकतजंग से निबटने के पश्चात् सिराजुद्दौला ने अंग्रेजों को ठीक करने की सोची। उसने अंग्रेजों तथा फ्रान्सीसियों के नाम एक आज्ञापत्र भेजा; जिसमें उन्हें नये किले बनाने तथा पुराने किलों की मरम्मत न कराने का आदेश दिया गया। फ्रान्सीसियों ने तो नवाब की आज्ञा मान ली, किन्तु अंग्रेजों ने केवल आज्ञा मानने से इन्कार ही न किया वरन् उन्होंने उस दूत का भी, जो यह आज्ञापत्र लेकर गया था, बढ़ा अपमान किया। सिराजुद्दौला के पास युद्ध के सिवा अब कोई और चारा न था।

कलकत्ता पर अधिकार :—२४ मई सन् १७५६ ई० को सिराजुद्दौला ने क़ासिमबाज़ार की अंग्रेज कोठी पर आक्रमण कर दिया और बहुत आसानी से उस पर अधिकार कर लिया। कोठी के अधिष्ठ वाट्स नामक अंग्रेज तथा उसके साथी बन्दी बना लिये गये और उन्हें साथ ले सिराजुद्दौला ने कलकत्ते की ओर प्रस्थान किया। कलकत्ता अंग्रेजों का केन्द्र था। उसकी रक्षा के लिये अंग्रेजों ने जी-जान से प्रयत्न किया। उन्होंने नवाब के योरुपियन तथा ईसाई तोपचियों को धर्म के नाम पर नवाब के साथ विश्वासघात करने का आदेश दिया; परन्तु फिर भी २० जून १७५६ ई० को सिराजुद्दौला कलकत्ते पर विजय प्राप्त करने में सफल हुआ। बहुत-से अंग्रेज जहाजों में बैठकर फाल्टा नामक गाँव में चले गये जो कलकत्ते से २० मील दक्षिण की ओर हुगली नदी पर बसा हुआ था। भागने वालों में कलकत्ते की कोठी का गवर्नर डूक भी था। शेष अंग्रेजों ने हौलवेल को अपना नेता बनाया और आत्म-समर्पण कर दिया। जब वे नवाब के सामने लाये गये तो उन्होंने प्राणदान की प्रार्थना की। फलस्वरूप उन्हें क्षमा कर दिया गया। सिराजुद्दौला ने सहर्ष उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली और उन्हें मद्रास जाने की आज्ञा दी। उसने कलकत्ते का नाम बदल कर अलीनगर रक्खा और अपने एक दीवान राजा मानिकचन्द्र को अलीनगर तथा उसके निकटवर्ती प्रदेश का हाकिम नियुक्त किया।

ब्लैक होल का हत्याकाण्ड :—जैसा कि ऊपर वर्णन किया गया है सिराजउद्दौला ने अंग्रेजों के साथ अत्यन्त सहृदयता का वर्ताव किया। और हौलवेल के नेतृत्व में उन सबको चमा कर मद्रास जाने की आज्ञा दी थी, परन्तु इसी हौलवेल ने सिराजउद्दौला के चरित्र को दूषित करने तथा अंग्रेज जाति के हृदय में भारतीयों के प्रति दुर्भावना उत्पन्न करने के लिये यह प्रसिद्ध किया कि कलकत्ता-विजय के पश्चात् नवाब की आज्ञा से १४६ अंग्रेज कैदियों को जिनमें कुछ स्त्रियाँ तथा बच्चे भी थे, १८ फीट लम्बी और १४ फीट चौड़ी एक कोठरी में, जिसे अंग्रेजों ने ब्लैक होल का नाम दिया, रात भर बन्द रखे गये। जून की असह्य गर्मी, रात्रि का समय तथा स्थान की तंगी के कारण सुबह तक उनमें से केवल २३ जीवित रहे, नवाब ने इन्हें स्वतन्त्र कर दिया और वे मुशिदाबाद के निकट डच टकसाल चले गये। यह घटना ब्लैक होल के हत्याकाण्ड के नाम से प्रसिद्ध है।

वर्तमान ऐतिहासिक खोज ने यह पूर्णतया सिद्ध कर दिया है कि ब्लैक होल की घटना सर्वथा निराधार है। सिराजउद्दौला के चरित्र को कलंकित करने तथा अंग्रेजों के आगामी कुचक्रों तथा दुर्व्यवहार को औचित्य प्रदान करने के लिए इसकी रचना हुई। उस समय के किसी भी अधिकार-पूर्ण इतिहास में अथवा कम्पनी के कागजात में इसका कोई उल्लेख न होना इसका द्योतक है। इसके अतिरिक्त क्लाइव तथा वाट्सन ने आगे चलकर नवाब को, जो पत्र कम्पनी की हानि तथा अपमान के विषय में लिखे, उनमें उक्त घटना का संकेत मात्र भी नहीं किया गया। फोर्ट विलियम की कौंसिल के डाइरेक्टरों ने इसके बारे में कुछ नहीं लिखा। इसके अतिरिक्त जो विदेशी कलकत्ता छोड़कर भाग गये थे, उनके बाद १२३ आदमी किले में कुल भी न थे। इन प्रमाणों के अतिरिक्त १८ फीट लम्बे और १४ फीट चौड़े कमरे में १४६ आदमियों का भरा जाना किसी प्रकार सम्भव नहीं इसलिये समस्त समकालीन प्रमाणों की अवहेलना कर केवल हौलवेल के पत्र मात्र पर यह विश्वास करना कि ब्लैक होल की घटना घटित हुई, सर्वथा अन्याय होगा, जबकि हौलवेल स्वयं एक आदर्श पुरुष न था जिससे उसकी बात मान्य ही समझी जाये। उसके मित्र तथा साथी उसका विश्वास न करते थे। जिन पत्रों द्वारा उसने इस घटना की सूचना अपने मित्रों को दी उनमें इतनी भिन्नता है कि वह स्वयं इस घटना को झूठा सिद्ध करने वाले प्रमाण बन गये हैं। इन प्रमाणों के आधार पर कहा जा सकता है कि ब्लैक होल की

घटना सर्वथा कल्पित है। फिर भी अंग्रेज इतिहासकारों ने इससे लाभ उठा भारतीय नायकों के चरित्र को संसार की दृष्टि में गिराने का पूरा प्रयत्न किया है।

अंग्रेजों की सैनिक तैयारियाँ :—कलकत्ते से भागे हुए अंग्रेज बंगाल की खाड़ी के ऊपर फ़्लता नामक स्थान पर ठहर गये। यहाँ से उन्होंने अपना दुःखद समाचार मद्रास भेजा और सानुरोध प्रार्थना की कि अंग्रेजों को इस अपमान का बदला लेने के लिये एक विशाल सेना बंगाल भेजी जाय। दूसरी ओर उन्होंने अपने सुसचरों के द्वारा अनेक झूठे सच्चे लोभ दिखाकर कलकत्ते के गवर्नर राजा मानिकचन्द्र तथा सिराजउद्दौला के अन्य सेनापतियों को अपनी ओर मिलाने का प्रयत्न जारी रखा। निस्संदेह तोड़-फोड़ की यह नीति ही वह ब्रह्मास्त्र था, जिसके बल पर मुट्ठी भर अंग्रेज बंगाल-विजय का स्वर्ण-स्वप्न देख रहे थे। अनुभव-शून्य तथा अदूरदर्शी सिराजउद्दौला को तनिक भी ध्यान न था कि अंग्रेज सैन्यबल अथवा बुद्धि-बल द्वारा फिर से बंगाल में पैर जमाने का प्रयत्न कर रहे हैं। वह केवल यह अनुमान कर सकता था कि वे दिनभर होकर उसके सामने भेंट प्रस्तुत कर फिर व्यवहारिक सुविधाओं की प्रार्थना करेंगे। अंग्रेज भी समय प्राप्त करने के लिये फ़्लता-स्थित नवाब के पदाधिकारियों को यह कहते रहे कि हम मौसम की खराबी के कारण रुके हुए हैं, ज्योंही मौसम यात्रा के योग्य होगा हम मद्रास चले जायेंगे।

कलकत्ते पर पुनः अधिकार :—कलकत्ता छिन जाने के लगभग एक मास पश्चात् १६ अगस्त १७५६ ई० को इस घटना का समाचार मद्रास पहुँचा। क्लाइव इस समय भारत लौट आया था। मद्रास की कौंसिल ने स्थल-सेना का अधिकार उसे और जलसेना का वाट्सन को सुपुर्द कर २० यूरोपियन और १३०० भारतीय सिपाहियों सहित उन्हें बंगाल रवाना किया और उन्हें आदेश दिया कि साम, दान, दंड, भेद सब प्रयोग कर नवाबी का अन्त करने का प्रयत्न करे। दिसम्बर के महीने में उक्त सेनायें बंगाल पहुँचीं। वहाँ पहिले ही भूमि तैयार थी। कलकत्ते का राजा मानिकचन्द्र तथा अंग्रेजों के बीच पहिले ही से तै हो चुका था कि वह केवल दिखाने के लिये ही अंग्रेजों का सामना करे। फलस्वरूप मुट्ठी भर सैनिकों की सहायता से क्लाइव ने बजबज के किल्ले पर अधिकार कर लिया। मानिकचन्द्र किला छोड़कर हुगली भाग गया और २ जनवरी १७५७ को उसकी अनु

पस्थिति में क्लाइव ने बहुत आसानी से कलकत्ता पर अपना अधिकार कर लिया। कलकत्ते के निकट अब केवल हुगली का किला शेष था। ११ जनवरी १७५७ ई० को अंग्रेजों ने इस पर भी अधिकार कर लिया और पूरे एक सप्ताह तक नगर में लूट-मार होती रही।

अलीनगर की संधि:—सिराजउदौला को जब उक्त घटना की सूचना मिली तो वह क्रोधान्ध हो उठा और वह एक विशाल सेना लेकर मुर्शिदाबाद से चल दिया। परन्तु इस बीच में उसे यह मालूम हो गया कि अंग्रेजों ने उसके दरबारियों में विश्वासघात का बीज बो दिया है। कलकत्ता-हुगली इत्यादि के शीघ्र पतन से उसे पहले ही संदेह था। बहुत सम्भव है उसे इस समय उस पत्र-व्यवहार का भी कुछ आभास मिल गया हो जो क्लाइव तथा मीर जाफर आदि उसके प्रमुख दरबारियों में निरन्तर चल रहा था। अब उसे अपनी आन्तरिक निर्बलता का ज्ञान हुआ। इसलिये उसने हुगली के निकट पहुँच कर अंग्रेजों के सेनापति वाटसन को एक पत्र लिखा जिसमें उसने संधि के लिये उत्सुकता प्रगट की। अंग्रेज सेनापतियों ने नवाब की इस उत्सुकता का लाभ उठाना चाहा। उन्होंने तुरन्त संधि की शर्तें पेश कर दीं कि नवाब अंग्रेजों की हानि-पूर्ति करे; जितनी व्यापारिक सुविधायें कम्पनी को पहले से प्राप्त थीं उन्हें पुनः प्रदान करे; कम्पनी को अपनी बस्तियों की किलेबन्दी करने की आज्ञा दे तथा कम्पनी को कलकत्ते में अपनी टकसाल स्थापित करने की आज्ञा दे। पहली तीन धारयें सिराजउदौला ने स्वीकार कर लीं परन्तु चौथी शर्त पर उसे आपत्ति हुई, परन्तु इस पर पत्र-व्यवहार होता रहा। इसी बीच संधि की समस्या को जटिल बनाने के लिये अंग्रेजों ने नई शर्तें भी पेश कर दीं। अब उन्होंने सिराजउदौला से कलकत्ते चलने की प्रार्थना की और यह आशा दिलाई कि वहाँ चलकर संधि की सब शर्तें तय हो जायेगीं। भोला नवाब अंग्रेजों की चाल में आगया और कलकत्ते पहुँच गया। वास्तव में अंग्रेजों का उद्देश्य धि करने का न था वरन् उनका उद्देश्य नवाब को फुसला कर कलकत्ता ले जाने तथा वहाँ उस पर आक्रमण करने का था। नवाब को और अधिक धोखा देने के लिये सन्धि की चर्चा यहाँ भी चलती रही। अगले दिन प्रातःकाल चार या पाँच बजे गहरे कोहरे के अंधकार में क्लाइव ने अपनी सेना सहित नवाब की सोती हुई सेना पर आक्रमण कर दिया, परन्तु जितने लाभ की उन्हें आशा थी उतना न हो सका। अब नवाब को अपनी विकट परिस्थिति

का पता लग गया। अपने अफसरों विशेषतया मीर जाफर पर उसका सन्देह प्रतिक्षण बढ़ता जा रहा था। ऐसी दशा में सिराजउद्दौला पहले से भी अधिक कठोर संधि करने को विवश हो गया। यह सन्धि कलकत्ता अथवा अलीनगर की सन्धि के नाम से प्रसिद्ध है। इसको शर्तें निम्नलिखित थीं—

(१) जितनी व्यापारिक सुविधायें अंग्रेजों को पहले से प्राप्त थी, वह फिर प्रदान की जावें।

(२) बंगाल, बिहार और उड़ीसा में उनके किसी माल पर कोई चुंगी न लगाई जाये।

(३) कम्पनी तथा उसके नौकरों का वह माल, जो नवाब ने जब्त कर लिया था, वापस दे दिया जावे और उसके सैनिकों ने जो माल लूट लिया था, उसकी पूर्ति की जावे।

(४) अंग्रेजों को अपनी इच्छानुसार कलकत्ते की किलेबन्दी करने का पूरा अधिकार दिया जाये।

(५) नवाब की ओर से वह स्वयं, उसके मुख्य पदाधिकारी तथा मन्त्री सन्धि-पत्र पर हस्ताक्षर करें।

(६) अंग्रेजों को सिक्के ढालने की आज्ञा दी जाये।

(७) अंग्रेज कम्पनी की ओर से वाट्सन तथा क्लाइव लिखित रूप में संधि का वचन दें कि जब तक नवाब की ओर से सन्धि का उल्लंघन न हो तब तक अंग्रेज शान्ति-पूर्वक रहेंगे।

अवसर से लाभ उठा अंग्रेजों ने यह भी आग्रह किया कि सिराजउद्दौला फ्रांसीसियों पर आक्रमण कर उन्हें बंगाल से बाहर निकाल दे, परन्तु नवाब ने इसे अस्वीकार कर दिया। परन्तु नवाब ने एक अंग्रेज एलची अपने दरबार में रखना स्वीकार किया। सिराजउद्दौला न जानता था कि उक्त राजदूत की अनुमति प्रदान करना अपने पैरों में कुल्हाड़ी मारना था, क्योंकि नवाब के दरबारियों तथा पदाधिकारियों को अपनी ओर मिलाने का प्रयत्न ही उसको रखने का एकमात्र ध्येय था।

चन्द्रनगर विजय : —इस प्रकार नवाब की आन्तरिक परिस्थिति दिन प्रतिदिन बिगड़ती जा रही थी। अंग्रेज नवाब तथा फ्रांसीसी दोनों को बंगाल से निकाल बाहर करने पर उत्तारू थे। अलीनगर की संधि की परवाह न करते हुए उन्होंने चन्द्रनगर की फ्रांसीसी कोठी पर आक्रमण करने की

ठानी और अपने युद्ध-पोत इस और भेज दिये। फ्रांसीसियों ने अंग्रेजों के इस व्यवहार की नवाब से शिकायत की, जिस पर नवाब ने वाटसन को पत्र लिख शान्ति भंग न करने की प्रार्थना की। उत्तर में वाटसन ने विश्वास दिलाया कि शान्ति भंग न होगी। फिर भी १४ मार्च १७५७ ई० को क्लाइव तथा वाटसन ने मिलकर चन्द्रनगर पर आक्रमण कर दिया और उसे जीत लिया। चन्द्रनगर की यह विजय अंग्रेजों के लिये अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुई। इससे बंगाल के अन्दर फ्रांसीसियों की शक्ति का हास हो गया और अब अंग्रेजों को यह डर, कि नवाब तथा फ्रांसीसी दोनों मिलकर उनके विरुद्ध संयुक्त मोर्चा न बना लें, जाता रहा। इस प्रकार फ्रांसीसियों की शक्ति क्षीण कर क्लाइव तथा वाटसन ने नवाब से अन्तिम संघर्ष करने की सोची और युद्ध का बहाना ढूँढने लगे।

मीर जाफ़र के साथ संधि :—जैसा कि पहले लिखा जा चुका है कि सिराजउद्दौला के दरबार का अंग्रेजी दूत वाट्स, क्लाइव तथा वाटसन निरंतर सिराजउद्दौला की जड़ें खोखली कर रहे थे। वे उसके दरबारियों में से किसी को पद का तथा किसी को धन का प्रलोभन दे उन्हें नवाब के साथ विश्वासघात करने के लिये भड़का रहे थे। इस कार्य में उन्हें देश-द्रोही सेठ अमीचन्द से बहुत सहायता मिली। वास्तव में उक्त सेठ की आर्थिक सहायता पर ही षड्यन्त्र की योजना अवलम्बित थी। अमीचन्द तथा दो अन्य जैन सेठों का ही धन घूस इत्यादि देने में प्रयोग किया जा रहा था। इन लोगों ने अपने स्वार्थ के लिये यारलुफ़्खाँ नामक सिराजउद्दौला के एक सेनानी को गद्दी पर बैठाना चाहा; परन्तु इसी बीच में अंग्रेज एलची वाट्स ने रूबाजा पिटरस नामक एक आरमीनिया निवासी के द्वारा मीरजाफ़र तथा उसके साथियों से नवाब के विरुद्ध सहायता का वचन ले लिया। मीरजाफ़र पूर्व नवाब अलीवर्दीख़ाँ का बहनोई था। उसका प्रभाव भी अधिक था, उसको सहायता से षड्यन्त्र के सफल होने की आशा भी अधिक थी। इसलिये जब क्लाइव को वाट्स का यह पत्र प्राप्त हुआ कि मीरजाफ़र तथा उसके साथी, नवाब को गद्दी से उतारने में अंग्रेजों की सहायता करने को तैयार हैं तो उसने सेठ अमीचन्द आदि को भी अनेक झूठे सबूत प्रलोभनों से मीरजाफ़र को ही नवाब बनाने के पक्ष में कर लिया। इस प्रकार जब षड्यन्त्र की योजना पूरी हो गई तो ४ जून १७५७ ई० की रात को मीरजाफ़र तथा अंग्रेजों के बीच एक गुप्त-संधि हो गई; जिसके अनुसार

तै पाया कि अंग्रेज तथा मीरजाफ़र किसी तीसरे के साथ युद्ध के समय एक दूसरे की सहायता करें। जितने अधिकार अंग्रेजों को सिराजउद्दौला के समय प्राप्त हैं उन सबको मीरजाफ़र नवाब बनने के पश्चात् कायम रखे। वह समस्त फ़्रांसीसियों को उनकी कोठियों सहित अंग्रेजों को समर्पित कर दे और आगे से फ़्रांसीसियों को बंगाल में रहने की आज्ञा न दे। कलकत्ते की क्षति-पूर्ति तथा युद्ध के व्यय-स्वरूप मीरजाफ़र कम्पनी को एक करोड़ रुपया दे। इसके अतिरिक्त अंग्रेजों, हिन्दुओं तथा अन्य निवासियों को कलकत्ता-त्रिजय से जो क्षति पहुँची है, वह उसकी पूर्ति करे। वह कामिम्बाज़ार तथा ढाका की किलेबन्दी की आज्ञा प्रदान करे, हुगली नदी के नीचे की ओर नवाब किसी प्रकार की किलेबन्दी न करे। जब कभी नवाब को अपनी रक्षा के लिये अंग्रेजी सेना की आवश्यकता हो वह उसका खर्च प्रदान करे।

संधि-पत्र में अमीचन्द का कोई उल्लेख न था। क्लाइव तथा वाट्सन उसके महत्व को समझते थे, इसलिए उसे सन्तुष्ट करने के लिए क्लाइव ने लाल कागज़ पर जाली संधि-पत्र तैयार कराया, जिसमें उक्त शर्तों के साथ-साथ षड्यंत्र के सफल होने पर अमीचन्द को तीस लाख पौंड नकद तथा नवाब के खजाने का ५ प्रतिशत देने का वचन दिया गया। वाट्सन ने इस जाली संधि-पत्र पर हस्ताक्षर करने से इन्कार कर दिया। इस पर क्लाइव ने लुशिंगटन नामक एक व्यक्ति से वाट्सन के जाली हस्ताक्षर उस पर करवा दिये। क्लाइव ने इस संधि-पत्र के द्वारा अमीचन्द को सन्तुष्ट कर दिए।

षड्यंत्र अब पूरा हो गया, परन्तु युद्ध की घोषणा करने से पहले वाट्स तथा अन्य अंग्रेजों को, जो मुर्शिदाबाद में थे, वहाँ से हटा लेना आवश्यक था। हवाखोरी की आज्ञा ले ये लोग एक दिन मुर्शिदाबाद से भाग निकले और १३ जून को अंग्रेजी सेना ने कलकत्ते से कूच कर दिया।

प्लासी का युद्ध :—जब सिराजउद्दौला को अंग्रेज सेना के आगमन की सूचना मिली तो वह भी सेना लेकर मुर्शिदाबाद से चल पड़ा। २३ जून १७५७ ई० को मुर्शिदाबाद से २० मील दूर प्लासी नामक स्थान पर दोनों सेनाओं का सामना हुआ। मीरजाफ़र नवाब का प्रधान सेनापति था। उसके अतिरिक्त नवाब की सेना में यारलुफ़्खॉ, राजा दुर्लभराय तथा मीर-

मदन तीन और मुख्य सेनापति थे। १२७०० सेना मीरमदन के अधीन थी, जब कि ४५००० सेना अन्य सब के, परन्तु केवल मीरमदन ही नवाब का एक साथी था, अन्य तीन तथा उनकी सेनायें केवल नाममात्र को ही नवाब की ओर थीं, अन्यथा उन्होंने अंग्रेजों से साज-बाज कर रखी थी। थोड़ी ही देर बाद युद्ध आरम्भ हो गया। परन्तु जब मीरमदन अकेले की ही वीरता से नवाब की विजय स्पष्टतया प्रकट होने लगी तो मीरजाफ़र, राजा दुर्लभराय और यारलुफ़्खाँ अपनी सेना सहित अंग्रेजों की ओर जा मिले। फल यह हुआ कि सिराजउद्दौला की विजय पराजय में परिवर्तित हो गई। यह देख कर संध्या-काल में असहाय सिराजउद्दौला अपने हाथी पर सवार हो मुर्शिदाबाद की ओर भाग गया। वहाँ उसने धन को पानी की तरह बहा कर फिर एक बार फौज खड़ी करने तथा अपनी भाग्य-परीक्षा करने का प्रयत्न किया किन्तु सफल न हो सका और अगले ही दिन मीरजाफ़र के आने की खबर सुन कर उसे आधी रात को अपने तीन अनुचरों के साथ फकीरी वेप में महुल से भागना पड़ा।

२६ जून १७५७ ई० को मीरजाफ़र तथा क्लाइव मुर्शिदाबाद पहुँचे। मीर जाफ़र नवाब घोषित कर दिया गया और उसने अंग्रेजों को असंख्य धन दे सन्तुष्ट किया।

अमीचन्द के साथ बर्ताव :—जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है, अंग्रेजों ने मीर जाफ़र तथा सिराजउद्दौला के अन्य दरबारियों से अमीचन्द के द्वारा संधि की थी। यही नहीं, वरन् उन्हें अपनी ओर करने के लिए उसीके धन का प्रयोग किया था। अब जब षड्यंत्र सफल हो गया और मीर जाफ़र बंगाल का गवर्नर हो गया तो अमीचन्द को कुछ न दिया गया। उसे केवल जाली संधि-पत्र दिखा कर बहका दिया गया। अब उसे असली संधि-पत्र दिखला कर कह दिया गया कि उसके साथ अंग्रेजों ने कोई वायदा नहीं किया। इससे अमीचन्द को बहुत दुःख हुआ। अमीचन्द के साथ क्लाइव का यह बर्ताव उसे सदैव कलंकित करता रहेगा।

सिराजउद्दौला की हत्या :—कुछ दिनों परचात् राजमहल नामक स्थान पर सिराजउद्दौला गिरफ्तार कर लिया गया। २ जुलाई १७५७ को वह मुर्शिदाबाद लाया गया। यद्यपि मीर जाफ़र उसे नज़रबन्द बना कर रखना चाहता था, उसके लड़के मीरन ने उसे कत्ल करा डाला।

प्लासी के युद्ध का परिणाम :—प्लासी-विजय के परिणामस्वरूप मीरजाफ़र बंगाल का गवर्नर हो गया। उसने कलकत्ते के दक्षिण चौबीस परगनों का प्रदेश, जिसका क्षेत्रफल लगभग ८८२ वर्गमील है, अंग्रेजों को दे दिया। उन्हें नवाब पर पूर्ण प्रभुत्व हो गया जिसके फलस्वरूप कुछ आगे चल कर समस्त बंगाल पर अंग्रेजों का अधिकार हो गया। इस प्रकार इस विजय से भारत में अंग्रेजी राज्य की नींव पड़ गई। प्लासी के युद्ध से फ्रांसीसियों की शक्ति क्षीण हो गई; अब नवाब पूर्णतया अंग्रेजों के अधिकृत था। उसकी फ्रांसीसियों के प्रति कोई सहानुभूति न थी। इस विजय ने मुग़ल प्रभुत्व को विशेष ठेस पहुँचाई। सिराजउद्दौला तथा उसके पूर्वज मुग़ल सम्राट् के नाम से ही बंगाल पर शासन करते थे; परन्तु अब जब सम्राट् की बिना अनुमति के मीरजाफ़र नवाब घोषित कर दिया गया तो सर्वविदित हो गया कि मुग़ल-सत्ता मृतप्राय हो चुकी है। इस विजय ने अंग्रेजों को भारतीय राजनैतिक क्षेत्र में प्रविष्ट कर दिया। समस्त भारत में ये समाचार फैल गया कि विदेशी व्यापारी दक्षिण और पूर्व की ओर से भारत पर आक्रमण करते जले आ रहे हैं।

सिराजउद्दौला का चरित्र :—अंग्रेज इतिहास-लेखकों ने मिथ्या दोषारोपण कर सिराजउद्दौला के चरित्र को कलंकित करने का प्रयत्न किया है किन्तु वास्तव में वह अत्यंत ईमानदार पुरुष था। उसकी ईमानदारी तथा सच्चाई के कारण ही अनुचित अधिकारों के इच्छुक अंग्रेजों ने उसे अपने लिए अहितकर समझा और उसके विरुद्ध षड्यंत्र रचा। सिराजउद्दौला उच्च-कोटि का राजनीतिज्ञ न था, उसमें विदेशियों की चाल की समझने की क्षमता न थी। उन पर बार-बार विश्वास करना, उनके प्रति दया का व्यवहार करना तथा शान्ति-भंग करने के स्पष्ट प्रयत्न को देखते हुए भी उनके साथ शान्तिपूर्वक रहने की इच्छा उसके लिए विनाशकारी सिद्ध हुई। सिराजउद्दौला के यह दोष और उच्च श्रेणी के भातवासियों के चरित्र की लज्जास्पद स्वार्थपरायणता और विश्वासघातकता भारत की स्वतंत्रता को ले बैठी। सिराजउद्दौला के चरित्र का वर्णन करते हुए अंग्रेज इतिहास-कार मालेसन लिखता है—“सिराजउद्दौला में चाहे कोई भी दोष क्यों न रहा हो, उसने न तो अपने स्वामी के साथ विश्वासघात किया और न अपने मुल्क को बेचा। मनुष्यता में वह क्लाइव से कहीं अधिक ऊँचा था।

बंगाल के दुःखान्त नाटक के प्रधान-पात्रों में केवल सिराजउद्दौला ही ऐसा था जिसने किसी को धोखा नहीं दिया।”

अध्याय दसवाँ

बंगाल का पतन

मीर जाफ़र तथा मीर कासिम

मीर जाफ़र में कोई मानसिक अथवा नैतिक गुण न था, इसलिए वह अत्यन्त अयोग्य तथा अदूरदर्शी सिद्ध हुआ। वह शीघ्र ही अंग्रेजों के हाथों में कठपुतली की तरह नाचने लगा। नवाब की आड़ में अंग्रेजों ने ऐसी बुद्धिमत्ता से राजनैतिक खेल खेला कि बंगाल की दशा दिन प्रतिदिन शोचनीय होती गई, जिसके द्वारा वे नवाब को दोषी ठहरा अपने मनोनीत उद्देश्य अर्थात् बंगाल पर अधिकार प्राप्त करने में सफल हुए।

मीर जाफ़र के गद्दी पर बैठते ही अंग्रेजों ने नवाब तथा उसके अधीन शासकों के बीच तोड़-फोड़ आरम्भ कर दी। इससे इनका उद्देश्य नवाब तथा उसके अधिकृत नरेशों को आपस में भिड़ा दोनों की शक्ति क्षीण करना तथा कभी मध्यस्थ और कभी सैन्य-संचालक बन कम्पनी के बल का सिक्का जमाना था, जिससे उस प्रदेश के प्रभावशाली नरेश नवाब के बदले कम्पनी की मित्रता के लिए अधिक लालायित रहने लगे, और इस प्रकार कम्पनी का महत्व दिन प्रतिदिन बढ़ने लगा।

मीरजाफ़र और राजा रामनारायण :—सबसे पहिला नरेश जिसे क्लाइव तथा मीरजाफ़र ने मिटाना चाहा, बिहार प्रान्त का शासक राजा रामनारायण था। उस पर यह अभियोग लगाया गया कि उसने फ्रांसीसियों को अपने यहाँ शरण दे रक्खो है तथा अवध के नवाब के साथ मिलकर मीर जाफ़र के विरुद्ध षड्यंत्र रच रखा है। क्लाइव ने मेजर कूट को एक छोटी-सी सेना देकर पटना भेजा। इस थोड़ी सी सेना से रामनारायण को परास्त करना असम्भव था। इसीलिए क्लाइव ने मेजर कूट को लिखा—“रामनारायण की सेना में तोड़-फोड़ कर अपने मनोरथ में सफल होने का प्रयत्न करना।” रामनारायण ने धैर्य से काम लिया। उसने लड़ने के बदले अपने ऊपर लगाये गये अभियोगों का उत्तर देना चाहा। फलस्वरूप राजा रामनारायण के महल में एक सभा हुई जिसमें राजा ने अपने ऊपर लगाये गये सब दोषों को

झूठा सिद्ध कर दिया। उसने मेजर कूट तथा मीरजाफ़र के दामाद मीर कासिम की उपस्थिति में मीरजाफ़र को सूबेदार स्वीकार किया और उसके प्रति स्वामिभक्ति की शपथ खाई, कूट मुर्शिदाबाद वापस चला गया। इस आक्रमण से राजा रामनारायण को पता लग गया कि मुर्शिदाबाद का शासक मीरजाफ़र नहीं, वरन् अंग्रेज हैं।

उपरोक्त संधि अधिक दिन न रह सकी। कुछ ही दिन पश्चात् यह अफ़वाह फैली कि अलीवर्दीख़ाँ की बूढ़ी विधवा ने अवध के नवाब वज़ीर को पत्र लिखा है कि वह आकर मीरजाफ़र के विरुद्ध राजा रामनारायण को सहायता दे। इस अफ़वाह के आधार पर संधि को तोड़ क्लाइव ने मीरजाफ़र को बिहार पर आक्रमण करने की सलाह दी। उसने १०००० सेना एकत्रित कर ली जिसका सम्पूर्ण व्यय मीरजाफ़र को सहन करना था, परन्तु मीरजाफ़र की आर्थिक दशा इस समय शोचनीय थी। प्लासी-युद्ध के पश्चात् क्लाइव और उसके साथियों को व्यक्तिगत रूप से बड़ी-बड़ी रकमें देने से मुर्शिदाबाद का खजाना खाली हो चुका था। कम्पनी को भी जो रुपया देने का वचन दिया गया था, वह भी पूरा न किया जा सका था। अब जब बिहार-आक्रमण की पूरी तैयारी हो चुकी थी तो क्लाइव ने इस धन को वसूल करने का अच्छा अवसर देखा। उसने मीरजाफ़र को कहला भेजा कि कम्पनी के कर्ज़ की एक-एक पाई चुकवाये बिना वह कदम उठाने के लिए तैयार नहीं है। क्लाइव का बल इस समय बहुत था, उसके पास पचास हजार सेना मीरजाफ़र के कुचलने के लिए मौजूद थी। दूसरी ओर क्लाइव ने रामनारायण के बंगाल-आक्रमण की अफ़वाह अत्यन्त जोरों से फैला रखी थी। ऐसी परिस्थिति में मीर जाफ़र को लाचार होकर झुकना पड़ा। उसे एक विशाल धनराशि सेना के व्यय के लिए देनी पड़ी तथा कम्पनी के शेष कर्ज़ के लिये वर्दवान, नदिया और हुगली के तीनों जिलों की मालगुजारी कम्पनी के नाम कर दी।

अब क्लाइव मीर जाफ़र के साथ पटना की ओर चला। चार महीने तक १०००० सिपाहियों की भारी सेना युद्धस्थल में पड़ी रही। उसका सारा व्यय मीर जाफ़र के जिम्मे था, परन्तु आक्रमण कोई न हुआ। वास्तव में आक्रमण क्लाइव का उद्देश्य न था; वह केवल रामनारायण पर अपने अधिकार का सिक्का जमा उससे धन वसूल कर कम्पनी के प्रभुत्व

का दिग्दर्शन कराना चाहता था, जैसा कि आगामी घटनाओं से प्रगत होता है :—

फरवरी १७५८ ई० को पटने में दरबार हुआ। क्लाइव ने मध्यस्थ का स्थान ग्रहण किया। मीरजाफ़र का बेटा मीरन नाम के लिए बिहार का नवाब बनाया गया और शासन का तमाम अधिकार मीरन के नायब की हैसियत से ज्यों का त्यों राजा रामनारायण के हाथों छोड़ दिया गया। राजा ने इस अनुग्रह के बदले ७ लाख रुपये क्लाइव को भेंट किये। इस अवसर पर क्लाइव ने नवाब पर जोर देकर शोरा तैयार कराने का ठेका कम्पनी के नाम हासिल करा लिया। उन दिनों बंगाल में जितना शोरा बिकता था वह पटने के ऊपर के प्रदेश में तैयार होता था। इस प्रकार कम्पनी का व्यापार-क्षेत्र विकसित हुआ और आगामी साम्राज्य-वृद्धि की प्रस्तावना बँध गई।

राजा दुर्लभराय पर आक्रमण :—इसके बाद मीरजाफ़र ने अपने प्लासी के सहायक राजा दुर्लभराय पर आक्रमण कर दिया। मीरजाफ़र के ऊपर राजा दुर्लभराय के अनेक अहसान थे। उसने सिराजउद्दौला के विरुद्ध अंग्रेजों का साथ दिया था किन्तु उसका बल और प्रभाव दोनों खूब बढ़े हुए थे। इसलिए क्लाइव तथा मीरजाफ़र उसके विनाश के लिए तैयार हो गये। राजा दुर्लभराय ने साहस-पूर्वक उनका सामना करना चाहा। यह देखकर क्लाइव डर गया और उसने मीरजाफ़र तथा राजा में सन्धि करा दी।

उड़ीसा नरेश से छेड़-छाड़ :—इसी प्रकार उड़ीसा के राजा राम-सिंह के साथ झगड़ा आरम्भ हुआ जो समझौते में समाप्त हुआ। इस तमाम छेड़-छाड़ से क्लाइव का मुख्य उद्देश्य बंगाल के प्रभावशाली घरानों का बल तोड़ना, मीरजाफ़र को समस्त प्रजा में अप्रिय बना देना और तमाम सुबे में अङ्गरेजों के बल तथा प्रभाव का सिक्का जमाना था। इसमें क्लाइव पूर्णतया सफल होता जा रहा था।

शहजादे अलीगोहर का बिहार-आक्रमण :—थोड़े दिन पश्चात् बिहार को एक नई आफ़त का सामना करना पड़ा। कुछ समय से देहली के मुग़ल सम्राट् का ज्येष्ठ पुत्र अलीगोहर नाम-मात्र के लिए बंगाल बिहार तथा उड़ीसा का सूबेदार था। वास्तव में यह उपाधि सम्मान-सूचक ही था क्योंकि क्रियात्मक रूप में मुर्शिदाबाद का सूबेदार एक स्वतन्त्र शासक की

भौति आचरण करता था। इस समय शाहज़ादा अलीगोहर अपनी उपाधि को सार्थक करने के लिए एक सेना सहित बंगाल की ओर बढ़ा। सम्भव है कि बंगाल की क्रान्ति तथा अंग्रेजों के हस्तक्षेप की सूचना मुगल सम्राट् को पहुँची हो, और इसलिए शाहज़ादा बंगाल व बिहार पर चढ़ आया हो। कुछ ही, मीरजाफ़र शाहज़ादे के आक्रमण की सूचना पाकर अत्यन्त भयभीत हुआ और उसने क्लाइव से सहायता मांगी। तुरन्त क्लाइव मीरन सहित एक विशाल सेना के साथ पटना भेजा गया। यहाँ पर उसने बिना युद्ध किये नीतिकुशलता से ही शाहज़ादे को प्रसन्न करने में अपनी भलाई समझी। इसलिए उसने शाहज़ादे के सामने अपनी राजभक्ति का पूरा प्रदर्शन किया। अन्त में सन्धि हो गई और शाहज़ादा अपनी सेना-सहित देहली लौट गया।

क्लाइव की जागीर-प्राप्ति :—जब क्लाइव वापिस मुर्शिदाबाद पहुँचा तब मीरजाफ़र ने उसे चौबीस परगने की जागीर भेंट दी। प्लासी के युद्ध के पश्चात् यह प्रदेश कम्पनी को दे दिया गया था, परन्तु इसकी साल-गुजारी के रूप में कम्पनी को तीन लाख रुपये वार्षिक नवाब के खजाने में जमा करने पड़ते थे। अब नवाब के बदले क्लाइव इन तीन लाख रुपये वार्षिक का अधिकारी हो गया।

इस प्रकार एक निर्धन लिपिकर (क्लर्क) की हैसियत से भारत में आने वाला क्लाइव, संसार का एक धनवान् अंग्रेज बन, १७६० ई० में इंग्लैंड वापिस गया।

हालवैल तथा वैनसीटार्ट :—क्लाइव के पश्चात् हालवैल कलकत्ते का गवर्नर हुआ, परन्तु केवल ५ महीने तक गवर्नर रहा। जौलाई १७६० ई० में हैनरी वैनसीटार्ट ने उसका स्थान ले लिया और कर्नल केलो प्रधान सेना-पति नियुक्त हुआ।

सम्राट् शाहआलम का आक्रमण :—सन् १७६० ई० के अन्तमें शाह-ज़ादा अलीगोहर दोबारा बिहार व बंगाल पर चढ़ आया। ज्योंही वह बिहार पहुँचा त्योंही सम्राट् आलमगीर द्वितीय का देहान्त हो गया और यही अली-गोहर शाहआलम के नाम से देहली का सम्राट् घोषित हुआ। आक्रमण का कारण यह था कि बंगाल नाम से देहली के अधीन था परन्तु आये-दिन के विप्लव के कारण वहाँ से कोई खिराज दिल्ली न जाता था। आक्रमण

की सूचना पाकर बंगाल के गवर्नर ने एक ओर तो मीरन और कर्नल केलो को एक सेना-सहित सम्राट् का मुकाबला करने को भेजा, दूसरी ओर मीरजाफ़र से बिना कहे सुने शाहआलम से गुप्त बात-चीत आरम्भ कर दी। मीरजाफ़र तथा मीरन सम्राट् से युद्ध करने के विरुद्ध थे, इसलिए कर्नल केलो ने अपने पत्रों में शिकायत की कि मीरन सम्राट् के विरुद्ध पूर्णरूप से उसका साथ नहीं देता। इससे अंग्रेजों तथा मीरजाफ़र व मीरन में मतभेद और बढ़ गया। यद्यपि एक ओर सन्धि-वार्ता और दूसरी ओर सैन्य-प्रदर्शन करने में अंग्रेजों का व्यवहार वांछनीय था। उन्होंने अपनी ओर कोई दृष्टि न डाली और मीरजाफ़र व मीरन की शिकायत करने लगे।

शाहआलम की वापसी :—सम्राट् की सेना के सामने या तो कोई निश्चित कार्य-क्रम न था; या राजधानी के खाली होने के कारण शाहआलम को देहली जाने की जल्दी थी, कुछ कारण हो अंग्रेजों और सम्राट् में कुछ गुप्त बातचीत हुई और वह पटना का घेरा छोड़ शीघ्र देहली वापिस चला गया।

मीरन की हत्या :—कुछ दिनों से अंग्रेज तथा मीरन में मतभेद उत्पन्न हो गया था। मीरन अंग्रेजों की चालों से अत्यन्त असंतुष्ट था। वह अपने पिता मीरजाफ़र को प्रायः सलाह देता था कि इन लोगों के पंजे से निकलने का प्रयत्न करे।

जब मीरन के इन विचारों का पता अंग्रेजों को लगा तो वे उसके विरुद्ध हो गये। इधर शाहआलम के आक्रमण के समय केलो ने शिकायत की कि मीरन ने उसकी पूर्ण-रूप से सहायता नहीं की। इससे मतभेद और बढ़ गया। इसलिए शाहआलम की वापसी के बाद जब मीरन तथा कर्नल केलो पूर्निया के नवाब को, जो मीरजाफ़र के विरुद्ध सम्राट् शाहआलम की सहायता के लिए आया था, परास्त करने चले तो केलो ने आधी रात को मीरन का वध करा दिया। सेना के विद्रोह के भय से कर्नल ने उसकी मृत्यु को छिपाये रक्खा जब तक कि वह सेना-सहित पटना सुरक्षित पहुँच गया।

सन् १७६० ई० में बंगाल की दशा :—बंगाल की दशा इस समय शोचनीय होती जा रही थी। मीरजाफ़र का खजाना खाली था, बाह्य आक्रमणों तथा आन्तरिक शान्ति व व्यवस्था के लिए वह पूर्ण-रूप से कम्पनी पर

अवलम्बित था। आये-दिन के संघर्षों और सैन्य-यात्राओं के कारण देश की कृषि अस्त-व्यस्त हो गई थी। उद्योग-धंधों का नाश होता जा रहा था, देश के व्यापार पर कम्पनी अधिकार जमाती जा रही थी। फल यह हुआ कि प्रजा में दुःख-दरिद्रता और अशान्ति निरन्तर बढ़ने लगी। इस पर जब मीरजाफ़र कोई आर्थिक अथवा सैनिक सुधार करना चाहता तो उसे अंग्रेज रोक देते। यदि प्रजा दुःख व अराजकता का रोना रोती तो उसका दोष नवाब के सर मढ़ दिया जाता।

मीरकासिम का नवाब बनाया जाना :—इस प्रकार बंगाल तथा बंगवासियों को अधोगति पर पहुँचाने के बाद जब अंग्रेजों ने देखा कि मीरजाफ़र से अब कोई आर्थिक लाभ नहीं हो सकता तो उन्होंने ऐसे मनुष्य को गद्दी पर बैठाने की सोची जिसके द्वारा बंगाल को और चूसा जा सके। इसी बीच अंग्रेजों ने मीरजाफ़र के सामने कुछ नई मांगें रखीं, उनमें एक यह भी थी कि सिलहट और इस्लामाबाद की फौजदारी के अधिकार कम्पनी को दे दिये जावें : मीरजाफ़र को यह बिल्कुल मान्य न थी, इसलिए उसने अपने दामाद मीरकासिम को अंग्रेजों से बातचीत करने कलकत्ते भेजा। यहाँ अंग्रेजों ने एक गुप्त-सन्धि कर ली जिसके अनुसार तै हुआ कि मीरकासिम को मुर्शिदाबाद का प्रधान-मंत्री बना दिया जाय। सूबेदारी के तमाम अधिकार मीरकासिम को दिये जायें और मीरजाफ़र केवल नाममात्र का सूबेदार रह जावे। उसे व्यक्तिगत-व्यय के लिए एक निश्चित वार्षिक पेंशन मिलती रहे। मीरकासिम तथा अंग्रेजों में स्थायी मित्रता रहे और जब मीरकासिम को आवश्यकता हो तब अंग्रेज अपनी सेना से उसकी सहायता करें। इसके बदले में मीरकासिम वर्दवान, मेदनीपुर और चटगांव के जिले कम्पनी को दे। सम्राट् शाहआलम के साथ अंग्रेज या मीरकासिम बिना एक दूसरे से सलाह किये कोई समझौता न करें। अधिकार मिलते ही इस उपकार के बदले में मीरकासिम को 'वैन्सीटार्ट', हालवैल तथा कौंसिल के अन्य सदस्यों को बीस लाख रुपया दे। इस प्रकार सौदा पक्का करके मीरकासिम मुर्शिदाबाद लौटा। अब अंग्रेज गवर्नर वैन्सीटार्ट तथा उसके साथियों ने मीरजाफ़र को उक्त प्रस्ताव मानने के लिए बाध्य किया। उसने मीरकासिम के हाथों में शासन-सत्ता सौंपने में इन्कार किया, परन्तु जब प्रातःकाल के अन्धेरे में कम्पनी की सेना ने उसे महल में सोते हुए ही जा घेरा तो उसका साहस टूट गया और उसने आत्मसमर्पण कर दिया। वह कलकत्ते भेज दिया गया।

और मीरकासिम मसनद पर बैठा दिया गया ।

कम्पनी तथा अंग्रेजों को लाभ :—मीरजाफर के साथ इस विश्वास वात द्वारा अंग्रेजों तथा अंग्रेज कम्पनी को निम्नलिखित लाभ पहुँचा—

सर्वप्रथम वर्दवान, मेदनीपुर और चटगांव का प्रदेश कम्पनी को मिल गया । इस प्रदेश की वार्षिक आय समस्त बंगाल की आय का एक तिहाई थी । दूसरे, मीरकासिम ने कम्पनी को अधिकार दे दिया कि वह कलकत्ते की टकसाल में अशफियां ढाल सकती है जो वजन में और धातु में मुर्शिदाबाद के सिक्कों के बराबर हों और एक विज्ञप्ति-द्वारा समस्त राज्य में घोषणा की कि कोई सौदागर अथवा सराफ़ कलकत्ते के सिक्कों को लेने से इन्कार न करे और न उन पर बढ़ा मांगे । इसके अतिरिक्त मीरकासिम ने वेन्सीटार्ट तथा उसके साथियों को बीस लाख रुपये भेंट-स्वरूप दिये ।

“मीरकासिम”

कम्पनी के रुपये की अदायगी :—बंगाल की गद्दी प्राप्त करने के पश्चात् मीरकासिम ने देखा कि राज्य की आर्थिक अवस्था अत्यन्त शोचनीय है । सरकारी मालगुजारी वसूल न हो रही थी, राजकोष खाली था । अब उसे प्रतीत हुआ कि जो बड़े २ वायदे उसने अंग्रेजों के साथ कर रखे थे, उन्हें पूरा करना आसान न था । फिर भी जमींदारों से जबर्दस्ती रुपया भेंट ले तथा जगत सेठ से कर्ज लेकर उसने अंग्रेजों को रुपया देना आरम्भ किया ।

मीर कासिम तथा अंग्रेजी टकसाल :—मीरकासिम ने अंग्रेजों को कलकत्ते में सिक्के ढालने का अधिकार प्रदान किया था, परन्तु यह प्रतिबन्ध लगा दिया था कि वह सिक्के तोल अथवा धातु में नवाबी सिक्के से कम न हों । परन्तु अंग्रेज इस प्रतिबन्ध की परवाह न करते हुए अपनी टकसाल में घटिया सिक्के ढालते रहे । फल यह हुआ कि व्यापारियों ने इन्हें बिना बढ़े के लेने से इन्कार कर दिया । इसपर अंग्रेजों ने मीरकासिम से प्रार्थना की कि वह कम्पनी की टकसाल में ढाले जाने वाले सिक्कों पर भी मुर्शिदाबाद का नाम तथा मोहर रखने की आज्ञा प्रदान करे । मीरकासिम ने ऐसा करने से इन्कार कर दिया । परन्तु उसने कलकत्ते के सिक्कों को लेनेसे इन्कार करने वाले अथवा उनपर बढ़ा मांगने वाले लोगों को दण्ड

देना लोअरम्भ कर दिवा । इस कठोरता से अनेक जमींदार मीरकासिम से असंतुष्ट हो गये और नये नवाब के विरुद्ध षडयंत्र रचने की तैयारी करने लगे ।

बर्दवान तथा वीर-भूमि पर कम्पनी का अधिकार:—मीरकासिम से पहिले मीरजाफर ने कम्पनी का कर्ज चुकाने के लिए बर्दवान की माल-गुजारी अंग्रेजों को दे दी थी, उस समय बर्दवान का जिला अंग्रेजों के अधीन था । इस प्रबन्ध के लिये अंग्रेजों ने अधिकांश मद्रासी सिपाही नौकर रख रखे थे । यह सिपाही जनता के साथ अत्यन्त घृणित व्यवहार करते थे, वे लोगों के घरों में घुसकर उन्हें लूटते तथा अन्य अमानुषिक कृत्य करते थे । जिनसे तंग आकर ग्राम-निवासी गाँव छोड़कर भागने लगे । बर्दवान के राजा तिलकचन्द ने कलकत्ता कमेटी से उक्त सिपाहियों की शिकायत की परन्तु कोई सुनाई न हुई ।

ऐसी दशा में जब मीरकासिम ने यह प्रदेश स्थायी रूप से कंपनी को दे दिया तो राजा तिलकचन्द को बहुत दुःख हुआ । उसने कलकत्ते के गवर्नर वेन्सीटार्ट को अपनी जमींदारी की उक्त शोचनीय अवस्था का वर्णन करते हुये फिर एक पत्र लिखा परन्तु इस पर भी कोई सुधार न हुआ । इस पर राजा तिलकचन्द ने वीर-भूमि के राजा के साथ मिलकर युद्ध की तैयारियां करनी प्रारंभ कर दीं । इस पर अंग्रेजों ने एक सेना भेज उन्हें परास्त किया और दोनों जिलों पर अधिकार कर लिया । न्यायोचित मांग का यह कितना अद्भुत उत्तर था ।

अंग्रेज कम्पनी तथा व्यापारिक कर:—ईस्ट इंडिया कम्पनी के लिये मुगल सम्राट् ने व्यापारिक कर माफ कर दिया था । इस माफी का अर्थ यह था कि कम्पनी इंग्लैंड से कोई सामान लेकर भारत में बेचना चाहें अथवा वहाँ का माल इंग्लैंड ले जाना चाहें तो उस पर कोई चुंगी न लगेगी । परन्तु अंग्रेजों ने इस अधिकार का अत्यन्त दुरुपयोग करना आरम्भ कर दिया था । कम्पनी के कर्मचारी तथा अन्य अंग्रेज कम्पनी का पास लेकर बिना कोई चुंगी दिये देश-भर में प्रत्येक वस्तु का व्यापार करने लगे और नवाब के कर्मचारी उन्हें रोकते तो उन्हें कम्पनी के सिपाहियों से ठीक करा दिया जाता था । यही नहीं वरन् उन्होंने नमक, छालिया तम्बाकू आदि बहुत-सी ऐसी चीजों का व्यापार भी बिना महसूल के आरंभ कर दिया था, जिनके व्यापार तक की उन्हें आज्ञा न थी । बहुत से अंग्रेज यहाँ तक कि कम्पनी के डाइरेक्टर भी इस अन्याय से रहित न थे ।

इंग्लैंड के प्रसिद्ध वक्ता बर्क ने इस प्रकार के व्यापार को व्यापार के बदले डकैती का नाम दिया; क्योंकि उक्त व्यापारियों का अन्याय चुंगी न देने तक ही सीमित न था वरन् वह उससे कहीं अधिक बढ़ चुका था। ये अंग्रेज व्यापारी जहाँ जाते वहाँ अपने ही दामों पर माल बेचते थे और दूसरे लोगों को जबरदस्ती विवश करके उनका माल अपने ही दामों पर खरीदते थे। यदि लोग देशी अदालतों में उनके व्यवहार की शिकायत करते तो कोई न्याय प्राप्त न कर पाते। इस प्रकार व्यापार के नाम पर अंग्रेज व्यापारियों की सेनायें जिधर जातीं उधर तातारी विजेताओं से बढ़कर लूट-मार और बर्बादी करती थीं। इस भयंकर लूट-मार द्वारा देश चूर चूर हो गया।

इस नीति का फल यह हुआ कि बंगाल में अराजकता का साम्राज्य हो गया। किसानों की खड़ी खेती तथा व्यापारियों का माल कम्पनी के नौकर जिस भाव चाहते खरीद लेते थे। तंग आकर व्यापारियों ने व्यापार छोड़ दिया। नवाब की सरकारी चौकियों पर एक पाई चुंगी के रूप में प्राप्त होनी बन्द हो गई। मीर कासिम ने अनेक बार पत्रों द्वारा अंग्रेज गवर्नर को इस अन्याय की सूचना दी परन्तु व्यर्थ रहा। तंग आकर बंगाल के प्रभावशाली ज़मींदारों ने भुगल अथवा मराठे भंडे के नीचे एकत्रित हो अंग्रेजों को बंगाल से निकाल बाहर करने का दृढ़ संकल्प किया, परन्तु पानीपत के तीसरे युद्ध ने इन सब आशाओं पर पानी फेर दिया। इधर अपने सब प्रयत्न निष्फल देखकर मीरकासिम को विश्वास हो गया कि अंग्रेज अपनी नीति में कोई परिवर्तन करने को तैयार नहीं हैं, इसलिए कोई दृढ़ निश्चय करने से पूर्व उसने अपनी स्थिति दृढ़ करनी चाही।

मीरकासिम के सुधार :—सर्वप्रथम उसने अपनी आर्थिक दशा को ठीक करने की सोची। माल-विभाग में उसने कई सुधार किये। सन् १७६२ ई० तक उसने अपनी सेना का पिछला समस्त वेतन तथा अंग्रेजों की एक एक पाई का भुगतान कर दिया। उसने समस्त शासन-प्रबन्ध में एक सजीवता ला दी जिसके फल-स्वरूप उसकी आमदनी खर्च से बढ़ गई। आर्थिक संकट से मुक्त होने के पश्चात् उसने अंग्रेजी बन्धन से मुक्त होने का विचार किया। उसने देखा कि उसकी राजधानी मुर्शिदाबाद में अंग्रेजों का प्रभाव अधिक बढ़ गया है इसलिये उसने मुंगेर को

अपनी राजधानी बनाया और उसे सुदृढ़ किलेबन्दी से सुरक्षित किया। यहां उसने चालीस हजार सेना स्थायी रूप से रखी और उसे योरोपियन ढंग से सैनिक-शिक्षा दिलवाना आरम्भ कर दिया। उसने तोपें ढलवाने का एक नया कारखाना स्थापित कराया, जहाँ योरोप से भी अच्छी तोपें बनने लगीं।

मीरकासिम को पदच्युत करने का प्रयत्न :—अंग्रेज मीरकासिम की इस सुव्यवस्था को कैसे देख सकते थे। अपनी धन-लोलुपता को शान्त करने के लिये उन्होंने मीरकासिम को गद्दी से उतार कर उसके उत्तराधिकारी से नया सौदा करने की सोची। अब उन्होंने फिर मीरकासिम के विरुद्ध बड़े मीरजाफ़र को षड्यन्त्र का केन्द्र बनाया। कलकत्ता-कम्पेटी के कुछ सेम्बरों ने कम्पनी डायरेक्टरों के नाम एक लम्बा पत्र भेजा, जिसमें उन्होंने मीरकासिम पर अनेक झूठे सच्चे दोष लगाये और मीरजाफ़र को गद्दी से उतारने की घोर अन्याय सिद्ध किया। इस प्रकार मीरकासिम को गद्दी से उतारने की प्रस्तावना आरम्भ हो गई।

मुँगेर की सन्धि :—जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है, अंग्रेजों के व्यापार तथा चुंगी सम्बन्धी अत्याचार निरन्तर बढ़ते जा रहे थे। मीरकासिम ने कलकत्ता-कौंसिल को बार २ इन अन्यायों की शिकायत की किंतु व्यर्थ। अन्त में सब मामलों का निवटारा करने के लिये ३० नवम्बर १७६२ ई० को गवर्नर वेन्सीवार्ट और वारेन हेस्टिंग्स नवाब से भेंट करने के लिये मुँगेर पहुँचे। फलस्वरूप मीरकासिम और अंग्रेजों के बीच एक सन्धि हो गई जो मुँगेर की संधि के नाम से प्रसिद्ध है, जिसमें अन्य बातों के साथ २ यह भी तै पाया कि अंग्रेज व्यापारी आइन्दा नमक, तम्बाकू, छालियाँ इत्यादि सब चीज़ों पर ६% चुंगी दिया करें जब कि भारतीय व्यापारियों इन्हीं तमाम चीज़ों पर २५ प्रतिशत चुंगी दे। भारतीय व्यापारियों के साथ यह घोर अन्याय था फिर भी शान्ति स्थापित रखने के लिये मीरकासिम ने इसे स्वीकार कर लिया। परन्तु अंग्रेजों ने इस संधि को क्रियान्वित नहीं किया।

व्यापारी चुङ्गी का परित्याग :—मीर कासिम ने बार बार इसकी शिकायत की परन्तु सब व्यर्थ। अंग्रेज व्यापारियों ने बिना चुङ्गी दिये अपना व्यापार पूर्ववत् जारी रक्खा। यही नहीं वह स्वयं देशी व्यापारियों

से चुंगी वसूल कर उसे भी कम्पनी के पास के अन्तर्गत निकालने लगे, इस अन्याय से एक ओर नवाब की चुंगी की आय सर्वथा बन्द हो गई। दूसरी ओर देशी व्यापारियों का अस्तित्व ही मिटना आरम्भ हो गया। ऐसे समय मीर कासिम ने अपनी सूबेदारी में सब लोगों के लिए चुंगी बन्द कर दी और घोषित कर दिया कि दो वर्ष तक किसी माल पर कोई चुंगी न ली जावेगी। इससे देशी व्यापारी अंग्रेजों के समक्ष बन गये और उनके लिए व्यापार का द्वार खुल गया। फल यह हुआ कि व्यापारियों की संख्या फिर बढ़ने लगी, परन्तु अंग्रेज इसे कब सह सकते थे। इसलिए कलकत्ता कौंसिल ने एक ओर अंग्रेज-दूतों को मुंगेर जाकर नवाब से मिलने तथा सब बातें नये सिरे से तै करने के लिए नियुक्त किया, और दूसरी ओर मीर कासिम को गद्दी से उतारने का षडयन्त्र रचना आरम्भ कर दिया। उन्होंने एलिस नामक पटने के एजेण्ट को लिख भेजा कि सूचना पाते ही पटना पर अधिकार पाने के लिए तैयार रहो और उसकी सहायता के लिए सेना तथा शस्त्र भेजने आरम्भ कर दिये। जब नवाब मीर कासिम को इसका पता चला तो उसकी समझ में आया कि सन्धि-प्रस्ताव एक दिखावा है, वास्तव में इसका अर्थ अंग्रेजों का उसके अधिकारियों को अपनी ओर मिलाने का अवसर पाना तथा समय प्राप्त करना है।

इसलिए उसने संधि की बातचीत के बदले शस्त्र से लड़ी हुई नावों को, जो पटना जा रही थीं, मुंगेर से आगे बढ़ने से रोक दिया। अब कलकत्ता कौंसिल ने मुंगेर भेजे गये अंग्रेज राजदूतों को वापस बुला लिया और एलिस को पटना पर अधिकार करने की आज्ञा दी। उसने तुरन्त पटना पर कब्जा कर लिया। परन्तु मीर कासिम ने अपनी सेना भेज पटना पर फिर विजय प्राप्त कर ली और एलिस तथा उसके साथी कैद करके मुंगेर भेज दिये। दोनों राजदूतों में से एमयार, जो कलकत्ते के लिए भाग निकला था, रास्ते में मारा गया और दूसरा मुंगेर में ही रोक लिया गया।

मीर जाफर का दोबारा नवाब बनाया जाना :—अब कलकत्ता कौंसिल ने प्रगटतया युद्ध-घोषणा कर दी। इस घोषणा में यह भी सूचना दी गई कि मीर कासिम की जगह मीर जाफर को अब फिर बंगाल की गद्दी पर बैठा दिया गया है। ऐसा करने से पहिले ही उससे एक गुप्त-सन्धि की जा चुकी थी, जिसके अनुसार वर्द्धमान इत्यादि तीनों जिले और जितनी रियासतें मीर कासिम ने अंग्रेजों को दे रखी थीं वे सब कायम रखी गईं।

नवाब की सेना की संख्या निश्चित कर दी गई। भारतीय व्यापारियों को सब तरह के माल पर २५ प्रतिशत चुंगी कर दी गई। जब कि अंग्रेज व्यापारियों के लिए तै पाया कि वह केवल नमक पर ढाई फीसदी कर दिया करें। अन्य माल को वह देश में किसी भी जगह बिना चुंगी दिये ले जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त मीर जाफर को वह सब क्षति पूर्ण करने को कहा गया जो मीर कासिम के समय में देश-व्यापारियों से कर न लिया जाने के कारण अंग्रेजों को उठानी पड़ी थी।

मीर कासिम से युद्ध :—कम्पनी की सेना मेजर एडम्स के नेतृत्व में युद्ध घोषणा से दो दिन पूर्व ही कलकत्ते से मुर्शिदाबाद की ओर रवाना हो चुकी थी। मीर कासिम की सेना मीर तकीख़ाँ के नेतृत्व में मुंगेर से चली परन्तु उसकी सेना के कुछ पदाधिकारी अंग्रेजों से मिल चुके थे इस लिये सफलता प्राप्त न कर सकी और मार्ग में ही एक लड़ाई में स्वयं तकीख़ाँ लड़ता हुआ वीर-गति को प्राप्त हुआ।

ऊदवानाला युद्ध :—मीर कासिम की सेना ने अब ऊदवानाला नामक ऐतिहासिक स्थान पर अपना अन्तिम पड़ाव डाला। एक ओर गंगा दूसरी ओर ऊदवानाला नामक गहरी नदी। तीसरी ओर राजमहल की दुर्गम पहाड़ियाँ तथा चौथी ओर मीर कासिम की मजबूत किले-बन्दी ने इस स्थान को अजेय बना दिया। इसके अन्दर पहुँचने का मार्ग अत्यन्त पेचीदा था, परन्तु अंग्रेजों ने यूरोपियन और आरमीनियन ईसाइयों को, जो मीर कासिम की सेना में बड़े २ पदों पर नियुक्त थे, अपनी ओर तोड़ लिया। इनकी सहायता से एडम्स ने मीर कासिम की सेना पर वज्र-प्रहार किया और एक रात्रि को उस पर आक्रमण कर उसके पन्द्रह हजार सैनिक मौत के घाट उतार दिये।

पटना का हत्याकाण्ड :—इस पराजय से मीर कासिम को बड़ा धक्का लगा, परन्तु उसने हिम्मत न हारी। अब उसने मुंगेर के किले को सँभाला उसकी रक्षा का उचित प्रबन्ध कर मीर कासिम पटना के लिए रवाना हुआ, परन्तु उसके जाते ही मुंगेर के किलेदार ने रिश्त ले अपना किला अंग्रेजों के हवाले कर दिया। उसी समय पटना के किलेदार ने भी ऐसा ही किया। अपने चारों ओर विश्वासघात का यह दृश्य देखकर मीर कासिम को बड़ी निराशा हुई। उधर अंग्रेजी सेना मुंगेर से उसके पीछे आ रही

थी। दूसरी ओर गवर्नर, वेन्सीटार्ट तथा वारेन हेस्टिंग्स मीर कासिम के साथियों से षड्यन्त्र कर उसे जीवित पकड़ने तथा एलिस वा उसके साथियों को उसके साथ बन्दी के रूप में थे, मुक्त करने का प्रयत्न कर रहे थे। मीर कासिम को एक विश्वस्तसूत्र से रात के एक बजे षड्यन्त्र की सूचना मिली। इस पर क्रोधित हो मीर कासिम ने इन सब षड्यन्त्रकारियों तथा एलिस वा उसके साथियों का वध करवा दिया। यह घटना पटना के हत्याकाण्ड के नाम से प्रसिद्ध है। इसके बाद मीर कासिम बिहार से निकल अवध के नवाब शुजाउद्दौला से जा मिला और अंग्रेजों ने पटना में प्रवेश किया।

मीर कासिम का अन्तिम प्रयत्न :—मीर कासिम का साहस अभी न टूटा था। बिहार से निकल कर वह अंग्रेजों से लोहा लेने की और अधिक तैयारी करने लगा। उसे सम्राट् शाहआलम से बंगाल की सूबेदारी नियमानुसार प्राप्त हो चुकी थी इसलिए अब जब अंग्रेजों ने पदच्युत कर मीर जाफर को नवाब बनाया तो यह सम्राट् के पास पहुँचा और उससे तथा अवध के नवाब शुजाउद्दौला से, जो उस समय मुगल साम्राज्य का प्रधानमंत्री तथा सम्राट् का विशेष संरक्षक था, अंग्रेजों के अन्याय का सारा वृत्तान्त कह सुनाया। इस समय सम्राट् बुन्देलखण्ड के विद्रोही राज्य पर आक्रमण करने की तैयारी कर रहा था। मीर कासिम ने अपनी सेवार्य इस कार्य के लिए अर्पित कर दीं और अपनी सेना की सहायता से वह शीघ्र ही इस राज्य को परास्त करने में सफल हुआ। सम्राट् तथा नवाब-अवध उसकी उस सेवा से इतने प्रसन्न हुए कि उन्होंने तुरन्त अंग्रेजों के विरुद्ध बंगाल पर चढ़ाई करने की तैयारी आरम्भ कर दी। परन्तु आक्रमण से पहिले सम्राट् को ओर से अंग्रेजों को एक पत्र भेजा गया जिसमें उनके अनुचित व्यवहार का उल्लेख किया गया और उनसे प्रार्थना की गई कि वह अपना प्रतिनिधि भेज कर सब बातों की ठीक ठीक सूचना दें जिससे उचित कार्य किया जा सके। जब इस पत्र का कोई संतोषजनक उत्तर न मिला तो शुजा-उद्दौला ने सम्राट् और कासिम के साथ आकर पटना का घेरा डाला।

अंग्रेज नीतिज्ञता :—अंग्रेज इस समय अत्यन्त संकट में थे। शुजाउद्दौला के बल की ख्याति और उसकी सेना की अधिकता का हाल सुन कर वह बहुत भयभीत हुए। इसलिए उन्होंने अपनी पुरानी कूटनीति से काम लिया। सर्व-प्रथम उन्होंने सम्राट् तथा नवाब अवध से ही फूट डालनी

चाही। उन्होंने “सीयरूल मुताखरीन” के लेखक सैयद गुलामहुसैन को अपनी ओर मिला लिया और उसके द्वारा सम्राट् से साज़-बाज़ आरम्भ कर दी। दूसरी ओर उन्होंने नवाब शुजाउद्दौला की सेना के एक-दो उच्च पदाधिकारियों को भी अपनी ओर तोड़ लिया। इसी बीच वर्षा आरम्भ हो गई। उपरोक्त बातों तथा ऋतु की खराबी से तंग आकर शुजाउद्दौला पटना का घेरा छोड़ कर बक्सर लौट गया और वहीं बरसात गुजारने का निश्चय किया।

बक्सर का युद्ध :—इसी समय मेजर मनरो पटने की सेना का प्रधान सेनापति नियुक्त हुआ, उसे आदेश दिया गया कि वह तुरन्त शुजाउद्दौला पर आक्रमण करके लड़ाई का अन्त कर डाले, अन्यथा सम्भव है कि मरहठों और अफगानों की सेनायें उसकी सहायता के लिए आ जावें। मेजर मनरो ने पटना आते ही बक्सर की ओर प्रस्थान किया। सितम्बर सन् १७६४ ई० को बक्सर में दोनों सेनाओं में संग्राम हुआ। इसमें शाहआलम ने, जो अंग्रेजों से पहले गुप्त बातचीत कर चुका था, उदासीनता दिखाई। नवाब की सेना में भी कई विश्वासघातक मौजूद थे। फल यह हुआ कि दिन भर के घमासान युद्ध में शुजाउद्दौला के पाँच-छः हजार आदमी काम आये और उसे अपनी सेना सहित युद्ध-स्थल से पीछे हटना पड़ा। अंग्रेजों के हाथों में पड़ने से बचने के लिए मीर कासिम रण-भूमि से भाग निकला और इलाहाबाद पहुँचा। वहाँ से वह बरेली आया, तदनन्तर १२ वर्ष तक इधर उधर फिरता रहा। सन् १७७७ ई० को देहली में उसकी मृत्यु हो गई।

युद्ध का अन्त :—बक्सर का युद्ध समाप्त होते ही सम्राट् शाहआलम ने शुजाउद्दौला का साथ छोड़ दिया और उसने अंग्रेजों को आत्म-समर्पण कर दिया। अंग्रेजों ने उसे अपना सम्राट् स्वीकार किया और शुजाउद्दौला से संधि की बातचीत प्रारम्भ कर दी, जो सफल न हो सकी। शुजाउद्दौला फिर युद्ध करने की तैयारी करने के लिए पीछे हटा और अंग्रेज उसे परास्त करने के लिए आगे बढ़े। मार्ग में उन्होंने चुनारगढ़ के किले पर अधिकार करने का प्रयत्न किया, जो सफल न हो सका। अब अंग्रेजी सेना इलाहाबाद पहुँची और किलेदार को बूस दे उस पर अधिकार करने में सफल हुई। शुजाउद्दौला वहाँ से बरेली चला गया। वहाँ से लौट कर उसने मल्हारराव होल्कर की कुछ मरहठा सेना की सहायता से कड़ा में अंग्रेजी

सेना पर आक्रमण किया, परन्तु इसी बीच नवाब अवध से संधि की बातचीत आरम्भ हो गई। इसी समय क्लाइव इंग्लैंड से वापस आ गया। वह स्वयं इलाहाबाद पहुँचा और वहाँ उसने नवाब अवध तथा सम्राट् शाहआलम से संधि कर ली जो इलाहाबाद की संधि के नाम से प्रसिद्ध है। इसका विस्तृत उल्लेख आगे किया जावेगा।

मीर जाफ़र की मृत्यु :—मीर जाफ़र के जीवन के अंतिम दिन बहुत दुःख से व्यतीत हुए। अंग्रेज नित्य नई माँगें उसके सामने उपस्थित करते रहे। इससे तंग हो उसका स्वास्थ्य खराब रहने लगा और अन्त में फरवरी १७६५ ई० में मुर्शिदाबाद के महल में उसका देहान्त हो गया।

मीर जाफ़र का चरित्र :—मीर जाफ़र अत्यन्त स्वार्थी और कायर मनुष्य था। राष्ट्रीय भावना उसे दूर तक नहीं गई थी। पद-लोलुपता का शिकार, स्वार्थान्ध मीर जाफ़र इसी कारण दिन प्रतिदिन अंग्रेजों का अधिकाधिक आश्रित होता गया। यहाँ तक कि अन्त में वह नाममात्र का ही नवाब रह गया जबकि पूर्ण सत्ता अंग्रेजों के हाथ में पहुँच गई। इस प्रकार देशद्रोही मीर जाफ़र को अपने जीवन-काल में ही अपने विश्वासघात का बदला मिल गया और वह आगामी देशवासियों के लिए इतिहास में एक उदाहरण प्रस्तुत कर गया कि देश के एक नागरिक का विश्वासघात उस देश को पतन के किस अन्धकूप में डाल सकता है।

नवाब नजमउद्दौला का गद्दी पर बैठना :—मीर जाफ़र की मृत्यु के बाद उसका दूसरा बेटा नजमउद्दौला मुर्शिदाबाद की गद्दी पर बैठा। क्योंकि उसके ज्येष्ठ पुत्र मीरन का उसके जीवन-काल में ही देहान्त हो चुका था। उस समय वेन्सीटार्ट का उत्तराधिकारी स्पेन्सर कलकत्ते का गवर्नर था। उसने नजमउद्दौला से एक नई संधि की जिसके अनुसार नायब सूबेदार का एक नया पद स्थापित किया गया और अंग्रेजों का एक खास आदमी मोहम्मद रजाख़ाँ इस पद पर नियुक्त किया गया। दूसरे, नवाब को माल-विभाग में बिना कलकत्ते कौंसिल की अनुमति के किसी को नियुक्त करने अथवा पदच्युत करने का अधिकार न रहा। तीसरे, नवाब ने वचन दिया कि कम्पनी को फौज के खर्च के लिए पाँच लाख रुपये मुर्शिदाबाद के खजाने से देता रहेगा। चौथे, नवाब से कहा गया कि वह केवल इतनी सेना अपने पास रखे जितनी मालगुजारी वसूल करने अथवा दरबार की प्रतिष्ठा कायम

रखने के लिए आवश्यक है। पाँचवें, देश में प्रत्येक व्यापार पर अंग्रेजों की चुंगी माफ रहे। इन बातों के मानने से सूबेदारी की सत्ता नाममात्र की ही रह गई। किन्तु नजमउद्दौला को यह सब शर्तें माननी पड़ीं और इनके अतिरिक्त बीस लाख रुपया भेंट-स्वरूप स्पेन्सर और उसके साथियों को देने पड़े।

ग्यारहवाँ अध्याय

उत्तरी भारत में प्रवेश

क्लाइव का गवर्नर-काल (१७६४-१७६७ ई०)

क्लाइव का भारत आना :—कम्पनी का कारबार अब काफी बढ़ गया था। राजनैतिक क्षेत्र में भी उसकी आकांक्षाएँ दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही थीं। मुगल सम्राट् शाहआलम उनकी शरण में था। नवाब शुजाउद्दौला उनकी मित्रता का इच्छुक था। ऐसे समय डाइरेक्टरो ने क्लाइव को, जो अब लार्ड की उपाधि प्राप्त कर चुका था, कलकत्ते का गवर्नर बनाकर भेजा। मई सन् १७६५ ई० में वह कलकत्ते पहुँचा। यहाँ आकर उसे ज्ञात हुआ कि इस्पैन्सर और उसके साथियों ने नजमुद्दौला को नवाब स्वीकार कर लिया है और बीस लाख रुपये भेंट स्वरूप प्राप्त कर लिए हैं। इस पर क्लाइव को बड़ा क्रोध आया, क्योंकि वह चाहता था कि एक ऐसे आदमी को नवाब बना दिया जावे जो केवल शून्य-मात्र हो और असली मालिक अंग्रेज रहें। वे ही मालगुजारी वसूल करें, वे ही आन्तरिक व्यवस्था स्थापित रखें और वे ही युद्ध व सन्धियां करें, केवल नाम में उनकी बादशाहत जन-साधारण की आँखों से छिपी रहे। किन्तु क्लाइव ने धैर्य से काम लिया और अपनी योजना को क्रियान्वित करने के लिये उचित अवसर की प्रतीक्षा करने लगा।

नवाब शुजाउद्दौला से सन्धि:—शुजाउद्दौला नवाब अबध तथा मुगल सम्राट् शाहआलम इस समय अंग्रेजों से दबे हुए थे इसलिए क्लाइव ने उनसे पूरा लाभ उठाना चाहा। कलकत्ता पहुँचने के बाद शीघ्र ही उसने इलाहाबाद को प्रस्थान किया, मार्ग में वह मुर्शिदाबाद ठहरा। वहाँ पर मोहम्मद रज़ाख़ाँ की सहायता से पाँच लाख रुपये भेंट स्वरूप नजमुद्दौला से

प्राप्त किये और नायब सूबेदार रज़ाख़ाँ के अधिकार और विस्तृत करवाये। इसके बाद वह बनारस पहुँचा। यहाँ उसने नवाब शुजाउद्दौला को फिर लड़ाई की धमकी दे एक नई सन्धि स्वीकार करने के लिए बाध्य किया, जिसके अनुसार तय पाया कि नवाब कम्पनी को ६० लाख रुपया युद्ध की क्षति-पूर्ति स्वरूप दे। इलाहाबाद और कड़ा के जिले सम्राट् के लिये कहकर कम्पनी को दे दिये गये। अंग्रेजों का एक एजेंट शुजाउद्दौला के दरबार में रहे। गाज़ीपुर के आस-पास का प्रदेश कम्पनी को दे दिया जावे और आगे से दोनों पक्ष एक दूसरे के मित्र तथा शत्रु को अपना मित्र तथा शत्रु समझें।

इलाहाबाद की सन्धि:—शुजाउद्दौला से सन्धि करने के पश्चात् क्लाइव इलाहाबाद पहुँचा। यहाँ उसने सम्राट् शाहआलम से भेंट की। उसी दिन उससे संधि हो गई जिसके अनुसार बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी अंग्रेज कम्पनी को दे दी गई और तै पाया कि उसमें से २६ लाख रुपया वार्षिक कम्पनी सम्राट् को और एक उचित रकम मुर्शिदाबाद के नवाब को खर्च के लिए दे और शेष अपने पास रखे। तीनों प्रान्तों का शेष शासन सूबेदार के हाथ में रहे। बंगाल में दो पृथक् सरकारें स्थापित हो गईं एक मुर्शिदाबाद की भारतीय सरकार, दूसरी कलकत्ते की अंग्रेज सरकार। इस प्रकार बंगाल के दोहरे प्रबन्ध की अधिकार-पूर्ण स्थापना हुई जिसकी रूप-रेखा नजमुद्दौला से की गई संधि में स्पष्ट दिखाई देती थी।

नजमुद्दौला की मृत्यु:—क्लाइव जब मुर्शिदाबाद से बनारस के लिए रवाना हुआ था उसी समय अचानक नवाब नजमुद्दौला की मृत्यु हो गई। कहा जाता है कि मृत्यु उसके वध-स्वरूप हुई जिसमें क्लाइव तथा उसके और साथियों का बहुत बड़ा हाथ था। क्लाइव के चरित्र को दृष्टि में रखते हुए ऐसा सम्भव भी है। अब केवल नाम के लिए मीरजाफ़र का छोटा बेटा, जिसकी आयु बहुत कम थी, मसनद पर बैठा दिया गया। वास्तव में तीनों प्रान्तों का शासन अंग्रेजों के नियुक्त किये हुए तीन नवाबों के हाथ में आ गया। यह दोहरा प्रबन्ध वारेन हेस्टिंग्स के समय तक चलता रहा।

क्लाइव के अन्य सुधार:—क्लाइव ने भारत आने पर देखा कि कम्पनी के कर्मचारियों में लोभ तथा दुराचार इस दर्जे तक फैल गए हैं कि उन्हें नेकी-वदी, न्याय-अन्याय का विचार तक नहीं आता। अपने न्यक्तिगत स्वार्थ के सामने ये लोग कम्पनी के हित-अहित की कोई परवाह नहीं करते

थे। यह देख क्लाइव ने कम्पनी के डाइरेक्टरों को एक पत्र लिखा जिसमें उसने इस अनाचार का नग्न चित्र खींचा। उसने लिखा कि “कम्पनी के कर्मचारियों ने प्रजा पर जुल्म करने और उन्हें पीड़ा पहुँचाने के जो तरीके जारी कर रखे हैं वे मुझे आश्चर्य है कि इस देश में अंग्रेजों के नाम पर सदा के लिए एक कलंक रहेगा। हर आदमी में बड़े बनने और धन कमाने की इच्छा उसमें सफलता और ऐश-परस्ती, इन तीनों ने मिलकर एक नई प्रकार की राजनीति प्रचलित कर दी है। जिससे अंग्रेज कौम की इज्जत, कम्पनी पर लोगों का विश्वास, साधारण न्याय और मनुष्यता सब का खून हो रहा है”। यद्यपि यह पत्र क्लाइव का लिखा होने के कारण, जो स्वयं प्रथम श्रेणी का घूसखोर था, हमें हास्यास्पद प्रतीत होता है तो भी तत्कालीन अंग्रेज कर्मचारियों के अनाचार का यह स्पष्ट चित्रण हमारे हृदय में एक विशेष चोभ उत्पन्न करता है। इस अनाचार को रोकने के लिए क्लाइव ने कुछ महत्वपूर्ण सुधार किए। उसने देखा कि सेना माल-विभाग में अत्यन्त हस्त-चप करती है। वह प्रायः अनुशासन रहित कार्य करती है। इसे रोकने के लिए उसने अनुशासन की उचित व्यवस्था की। उसने बहुत काल से प्रचलित सैनिक भत्ता स्थगित कर दिया। एक सैनिक नियमानुसार सिपाहियों को युद्ध के समय दुगुना भत्ता प्राप्त करने का नियम था। परन्तु प्लासी के युद्ध से यह भत्ता निरन्तर दिया जा रहा था चाहे युद्ध हो या न हो। सिपाही इसे अपने वेतन का भाग समझने लगे थे। इसलिए उसके स्थगित होने पर उनमें बहुत चोभ उत्पन्न हुआ। परन्तु क्लाइव डाइरेक्टरों के आदेशानुसार इस सुधार पर अटल रहा। इसके बाद क्लाइव ने माल-विभाग में कई सुधार किये। उसने घूस लेना, भेंट स्वीकार करना तथा व्यक्तिगत व्यापार निषेध कर दिया। इससे कर्मचारियों की आय को बहुत धक्का लगा, इसलिए उसने उन्हें नमक, पान और तम्बाकू के व्यापार का ठेका दे दिया। इस प्रकार क्लाइव का यह सुधार देशी व्यापारियों पर वज्र-प्रहार के रूप में अवतरित हुआ। क्लाइव ने कलकत्ता कौंसिल में भी एक विशेष सुधार किया। इसमें सभापति के अतिरिक्त १६ सदस्य थे जो समस्त बंगाल में फैले हुए थे। इन सबके शीघ्रतापूर्वक एकत्रित होने में बड़ी कठिनाई होती थी। इसलिए उसने डाइरेक्टरों की अनुमति से चार सदस्यों की एक विशेष समिति बनाई जो सभापति को मंत्रणा देने के लिये तुरन्त बुलाई जा सके।

क्लाइव का चरित्र :—क्लाइव अत्यन्त महत्वाकांक्षी अंग्रेज था।

एक मामूली क्लर्क से भारत में प्रवेश करने के बाद गवर्नर पद तक पहुँचना उसकी महत्वाकांक्षा तथा योग्यता का परिचायक है। परन्तु क्लाइव अत्यन्त लालची मनुष्य था, बंगाल की प्रत्येक घटना में वह अपनी घन-प्राप्ति को सम्मुख रखता था। घूस लेना उसका नियमित आचरण हो गया था। यही कारण था कि अल्प-काल में ही वह संसार का सबसे धनी अंग्रेज बन गया था। राजनीति में उचित अनुचित का उसे तनिक भी ध्यान न था। उसके सामने एक लक्ष्य था—अंग्रेज साम्राज्य की स्थापना और उसे प्राप्त करने के लिए वह उचित व अनुचित आचरण करने को तैयार था। अपने ध्येय-प्राप्ति के लिए उसे छल, बल, बेईमानी, विश्वासघात किसी को प्रयोग करने में कोई संकोच न था। उसका समस्त जीवन इनसे परिपूर्ण है। यहाँ से लौटने के बाद इसपर मुकदमा चलाने का प्रयत्न किया गया। परन्तु वह शीघ्र ही वापिस ले लिया गया। इसके कुछ दिन बाद उसने आत्म-हत्या कर ली। कुछ लोग कहते हैं कि उसका यह आचरण अपने पूर्ववत् व्यवहार का प्रायश्चित था।

बारहवाँ अध्याय

हैदरअली का उत्कर्ष तथा प्रथम मैसूर युद्ध

क्लाइव के चले जाने के बाद १७६७ ई० से १७६९ ई० तक वलस्टेड कलकत्ते का गवर्नर नियुक्त हुआ। मैसूर का प्रथम युद्ध उसके समय की सबसे प्रमुख घटना थी। परन्तु इस युद्ध का विवरण देने से पूर्व मैसूर अधिपति हैदरअली का परिचय देना उचित है।

हैदरअली का प्रारम्भिक जीवन :—हैदरअली के पूर्वज सीधे-सादे फकीर थे। यह रियासत गुलबर्गा में दक्षिण के प्रसिद्ध सन्त गेसूदराज की दरगाह में रहते थे। इसके बाबा की मृत्यु के बाद इसका पिता फतह मोहम्मद मैसूर के राजा की फौज में भरती हो गया। परन्तु शीघ्र ही उसने मैसूर की नौकरी छोड़कर सूबा सीरा के नवाब के यहाँ नौकरी कर ली। धीरे-धीरे वह फौजदार हो गया। यहीं सन् १७२८ ई० के लगभग हैदरअली का जन्म हुआ। “सिंह” राशि में जन्म होने के कारण इसका नाम हैदर (सिंह) अली रक्खा गया। अभी हैदरअली तीन वर्ष का ही था कि उसके पिता का

देहान्त हो गया। अब उसका चचेरा भाई, जिसका नाम भी हैदर साहब था— और जो मैसूर के राजा के यहाँ नायक था, हैदरअली को परिवार सहित श्रीरंगमपट्टन लिवा लाया। यहाँ उसने हैदर अली को मकतब की शिक्षा के बदले खोड़े की सवारी, निशाना लगाना, शस्त्रों का उपयोग तथा युद्ध-विद्या में प्रवीण कर दिया। बड़ा होने पर हैदर अली मैसूर की सेना में भरती हो गया। द्वितीय कर्नाटक युद्ध में मैसूर राज्य ने फ्रांसोसियों से मिल कर सुज़फ़रजंग का साथ दिया। इस युद्ध में हैदर अली ने ऐसी वीरता दिखाई कि मैसूर के प्रधान मंत्री १७५५ ई० में उसे डिंडीगल का फौजदार बना दिया। यहाँ उसने अपनी फौज को सैनिक शिक्षा देने के लिए अनेकों योग्य फ्रांसीसी अफसर नियुक्त किए। उनकी अध्यक्षता में उसने गोला-बारूद इत्यादि तोपखाना सम्बन्धी सामग्री तैयार करानी आरम्भ कर दी। वैभव-प्राप्ति तथा सैन्य बल-वृद्धि ने हैदरअली को महत्वाकांक्षी बना दिया और वह मैसूर के सिंहासन पर बैठने की योजनायें बनाने लगा। मैसूर का महाराजा ऐसा निर्बल तथा कायर था कि वह अधिकांश समय महल के अन्दर पूजा-पाठ और अन्य धार्मिक क्रियाओं में ही व्यतीत करता था। समस्त शासक प्रधान मंत्री के सुपुर्द था जिसे “देव” कहते थे। हैदरअली की बढ़ती शक्ति को देख मैसूर के “देव” ने उसे मैसूर का प्रधान सेनापति बना दिया। थोड़े समय बाद मैसूर में एक राज्य क्रांति हुई और हैदरअली प्रधान मंत्री हो गया। जैसाकि ऊपर लिखा जा चुका है कि मैसूर का “देव” अर्थात् प्रधान मंत्री ही क्रियात्मक शासक होता था, इसलिए इस समय से हैदर अली ही मैसूर का वास्तविक शासक होगया और “देव” की गद्दी उसके वंश में पैदा हो गई। जबकि मैसूर के राजा नाममात्र में अपने महल के अन्दर सिंहासन पर बैठते रहे। हैदरअली की योग्यता और उसके बल की खबर सुनकर दिल्ली सम्राट् ने उसे मैसूर के पास सीरा प्रान्त का सूबेदार नियुक्त कर दिया।

शासन दृढ़ता तथा राज्य विस्तार :—सत्ता प्राप्त करने के बाद सर्वप्रथम हैदरअली ने मैसूर राज्य को सुदृढ़ बनाने का प्रयत्न किया। मैसूर के अचीन अनेक छोटे २ प्रान्तीय शासक थे। इन्हें पोलीगार कहते थे। यह पोलीगार प्रायः विद्रोह करते रहते थे। हैदरअली ने इन पोलीगारों की शक्ति क्षीण कर राज्य में शान्ति और सुशासन स्थापित किया। इन सामन्तों में

बेदनूर का राजा मुख्य था। हैदरअली ने ही उसे गद्दी पर बैठाया था तो भी उसने षडयन्त्र करके हैदरअली के वध करवाने का प्रयत्न किया। हैदरअली को जब उस षडयन्त्र का पता चला तो उसने बेदनूर पर आक्रमण कर राजा को बन्दी बना लिया और अपने एक आदमी को वहाँ का शासक नियुक्त किया। इसके अतिरिक्त उसने कनाडा तथा मालावार विजय करके अपने राज्य को बहुत विस्तृत बनाया।

मरहठे तथा हैदरअली :—हैदरअली की बढ़ती हुई शक्ति को देखकर मरहठों ने चार बार मैसूर पर आक्रमण किये, परन्तु उन्हें कोई विशेष लाभ न हो सका। कभी बाहुबल से, तो कभी धन-बल से वह उनसे झुटकारा पाता रहा और अन्त में दोनों ने एक दूसरे से संधि कर ली।

प्रथम मैसूर युद्ध :—अंग्रेज हैदरअली की बढ़ती हुई शक्ति को सहन न कर सकते थे। इसलिए वह निरन्तर हैदरअली की शक्ति क्षीण करने की योजनाएँ बनाने लगे। १७६१ ई० में उन्होंने हैदरअली से छेड़-छाड़ प्रारम्भ कर दी। इसका कारण हैदरअली का अंग्रेजों के मित्र नय्यर के सामन्तों का प्रदेश छीनना बताया गया। अंग्रेजों ने हैदरअली के बरामहल प्रदेश पर आक्रमण कर दिया। करनाटक के नवाब मोहम्मदअली से हार्दिक सहयोग प्राप्त करने के लिए उन्होंने उसे आशवासन दिया कि हैदरअली का बरामहल प्रदेश जीत कर उसे दे दिया जाएगा। हैदरअली ने भी अपनी शक्ति दृढ़ करने के लिए निज़ाम के साथ संधि कर ली। निज़ाम अंग्रेजों से पहले से ही अप्रसन्न था, क्योंकि उन्होंने उसकी इच्छा के विरुद्ध उसके उत्तरीय सरकार-प्रदेश पर अपना अधिकार कर लिया था। हैदरअली तथा निज़ाम की संयुक्त सेनाएँ अंग्रेजी प्रदेश पर आक्रमण करने के लिए चल पड़ीं। उधर अंग्रेजी सेना जनरल स्मिथ के अधीन मद्रास से रवाना हुई और जबकि हैदरअली तथा अंग्रेजों में शान्ति-पूर्वक समझौते के लिए पत्र-व्यवहार ही हो रहा था। उसने वनियम बाड़ी, कावेरीपट्टम इत्यादि कुछ सरहद्दी किले अपने अधीन कर लिए। हैदर को सब अंग्रेजों की कूटनीति का पता चला कि पत्र-व्यवहार अवसर प्राप्त करने के लिए केवल एक चाल थी। अब वह विशाल सेना ले आगे बढ़ा। परन्तु अंग्रेज सेना निज़ाम सेना के प्रधान सेनापति रुकुनउद्दीन से गुप्त पत्र-व्यवहार कर उसे अपनी ओर तोड़ लेना चाहा। हैदरअली को भी उसके व्यवहार पर सन्देह

होने लगा। दूसरे, हैदरअली अधिक दिन तक राजधानी से अनुपस्थित नहीं रहना चाहता था। ऐसी परिस्थिति में उसने अंग्रेजों से सुलह की बातचीत शुरू की। अंग्रेजों ने यह देखकर सोचा कि हैदरअली निर्बल है और वह आसानी से उस पर विजय प्राप्त कर लेंगे, उन्होंने अपमान के साथ हैदरअली के दूत को अपने वहाँ से लौटा दिया। लाचार हो हैदरअली को अपनी सेना सहित आगे बढ़ना पड़ा।

हैदरअली की विजय :—सर्वप्रथम हैदरअली ने कावेरीपट्टम के किले पर, जिसे अंग्रेजों ने जीत लिया था, आक्रमण किया। इस पर विजय प्राप्त करने के बाद उसने अपने वे तमाम किले एक एक करके ले लिए जो अंग्रेजों के अधिकार में चले गये थे। इन तमाम युद्धों में जनरल स्मिथ की सेना को माल असबाब छोड़ बड़ी बुरी तरह भागना पड़ा। जब इस प्रकार एक ओर हैदरअली विजय पर विजय प्राप्त करता बढ़ता चला जा रहा था, तभी उसका पुत्र टीपू एक विशाल सेना सहित मद्रास पर जा धमका। मद्रास में भगदड़ मच गई, बहुत सम्भव था कि शीघ्र ही मद्रास का पतन हो जाता, यदि जनरल स्मिथ छल-पूर्वक उसे वापस करने की तरकीब न सोचता। उसने एक सवार तुरन्त मद्रास की ओर भेजा। इस सवार ने प्रकट किया कि उसे सुल्तान हैदरअली ने भेजा है। सवार ने टीपू को त्रिनमल्ली की पराजय की खबर दी और कहा कि सुल्तान ने उसे तुरन्त लौटकर अपने से मिलने की आज्ञा दी है। टीपू धोखे में आ गया और अपनी सेना सहित हैदरअली से आ मिला।

त्रिनमल्ली की पराजय :—त्रिनमल्ली की पराजय, जिसका दुखद समाचार सवार ने टीपू को सुनाया, वास्तव में कोई पराजय न थी। यह एक प्रकार का विश्वासघात था जो निज़ाम की सेना ने हैदरअली के साथ किया। जब दोनों सेनाएँ त्रिनमल्ली के स्थान पर आमने सामने पड़ी थीं, तब निज़ाम और अंग्रेजों में गुप्त संधि हो गई। इस पर निज़ाम के प्रधान सेनापति ने अंग्रेजी सेना पर आक्रमण करने के बहाने अपनी तमाम सेना को हैदर और अंग्रेजों की सेना के बीच में लाकर खड़ा कर दिया। परन्तु जैसा कि गुप्त रूप से उसमें और अंग्रेज सेनापति में तै हो चुका था, उसने यहाँ से अपनी सेना को कुछ इस प्रकार पीछे हटाया कि हैदर की तमाम सेना में

खलबली मच गई। मजबूर होकर हैदर को अपनी सेना कई मील पोछे हटानी पड़ी। जिसे अंग्रेजों ने पराजय का नाम दिया।

मंगलौर की विजय :—इसके बाद निजाम ने हैदरअली का साथ छोड़ दिया। अंग्रेजों ने हैदर के फ्राँसीसी अफसरों को भी अपनी ओर मिलाने का प्रयत्न किया। १७६२ ई० के अन्त तक हैदरअली ने अपना वह तमाम भाग, जो अंग्रेजों के अधिकार में चला गया था, वापस ले लिया। इन सबमें मंगलौर की विजय अत्यन्त शानदार थी। उसमें ४६ अंग्रेज अफसर, ६८० अंग्रेज सिपाही और ६००० से अधिक भारतवासी सिपाही काम आये। मंगलौर-विजय के बाद हैदरअली ने अपनी सेनाओं को तीन भागों में विभक्त किया और तीन मार्गों से मद्रास की ओर बढ़ाया, जब यह सेनायें बढ़ते २ मद्रास के बिल्कुल निकट जा पहुँची, तब मद्रास के गवर्नर और उसकी कौंसिल के सदस्य बहुत घबराये। उन्होंने कप्तान ब्रुक को हैदर के पास सन्धि के लिए भेजा, परन्तु हैदर ने यह कहकर वापस कर दिया कि “मैं मद्रास के फाटक पर आ रहा हूँ। वहीं संधि-वार्ता सुनूँगा।” साढ़े तीन दिन में १३० मील का फासला तै कर वह अचानक मद्रास के किले पर जा पहुँचा। यह देख अंग्रेजों के होश उड़ गये। यदि हैदर चाहता तो उसी दम बड़ी आसानी से मद्रास पर कब्ज़ा कर लेता, परन्तु इसी समय दो अंग्रेज अफसर संधि की वार्ता के लिए आ पहुँचे।

हैदरअली व अंग्रेज व कर्नाटक के नवाब में संधि :—११ अप्रैल सन् १७६९ ई० को अंग्रेजों, सुलतान हैदरअली और अर्काट के नवाब मोहम्मदअली के बीच संधि हो गई। अब तक की संधियाँ ईस्ट इण्डिया कम्पनी और भारतीय नरेशों के बीच हुआ करती थीं। हैदरअली ने कम्पनी के किसी प्रकार के राजनैतिक अस्तित्व को ही स्वीकार न किया। इसलिए उसने यह संधि इंग्लैंड के बादशाह की ओर से लिखवाई, जिसके अनुसार दोनों पक्षों ने एक दूसरे के जीते हुए प्रदेश वापस कर दिये। कारुड का प्रान्त, जो अंग्रेजों के मित्र अर्काट के नवाब मोहम्मदअली के राज्य में सम्मिलित था, अंग्रेजों ने सदा के लिए हैदरअली को भेंट कर दिया। युद्ध-क्षति-पूर्ति के लिए अंग्रेजों ने बहुत-सा धन हैदरअली को दिया और आगे के लिए दोनों पक्षों ने वचन दिया कि यदि कोई तीसरा किसी एक पक्ष पर हमला करेगा तो दूसरा उसकी सहायता करेगा। मोहम्मदअली के

विषय में तै हुआ कि वह आगे से मैसूर का एक सामन्त समझा जावे और ६ लाख रुपया प्रतिवर्ष खिराज स्वरूप मैसूर-दरबार को दे। जिसमें से पहले वर्ष का खिराज उसी समय पेशगी दिया जावे।

मैसूर के प्रथम युद्ध से कम्पनी की ख्याति को बहुत धक्का लगा। इंग्लैंड में भी इसकी सूचना पहुँचते ही उसके हिस्सों के भाव गिरने आरम्भ हो गये।

मरहटों का आक्रमण और अंग्रेजों का विश्वासघात :—उपरोक्त संधि के थोड़े दिनों बाद मरहटों ने मैसूर पर आक्रमण किया। हैदर ने संधि के अनुसार अंग्रेजों से मदद माँगी, परन्तु मद्रास कौंसिल ने कोई सहायता न की। लाचार होकर हैदर को कुछ धन और कुछ प्रदेश देकर उन्हें वापस करना पड़ा, परन्तु पेशवा नारायणराव की हत्या के समय ज्यों ही मरहटे मृह-कलह युद्ध में व्यस्त हुए, त्योंही उसने टीपू को भेजकर वह समस्त प्रदेश वापस छीन लिया। इसके बाद १७७२ ई० में हैदरअली और मरहटों में ६ वर्ष के लिए शान्ति संधि हो गई।

तेहरवाँ अध्याय

(आर्थिक तथा राजनैतिक दृढ़ता)

वारेन हेस्टिंग्स (१७७२-८४ ई०)

गवर्नर काल (१७७२-७४ ई०)

कार्टियर का गवर्नर-काल—१७६६ ई० में वलस्ट के कार्टियर बंगाल का गवर्नर हुआ। उसके समय में कोई महत्वपूर्ण घटना नहीं हुई। उसके समय मरहटे, जो पानीपत की पराजय के बाद फिर शक्तिसम्पन्न हो गये थे, उत्तरी भारत में फिर हस्तक्षेप करने लगे और सम्राट् शाहआलम इलाहाबाद के किले को छोड़ कर, जिसे क्लाइव ने सदा के लिए उसका निवासस्थान बना दिया था, मरहटा छत्रछाया में देहली चला गया। दूसरे, उसके समय में अवध के नवाब शुजाउद्दौला तथा कम्पनी में अनबन हो गई। यद्यपि उसने वह संधि, जो क्लाइव के सामने हुई थी, नहीं तोड़ी। इस प्रकार यद्यपि कार्टियर के समय में कोई विशेष घटना घटित नहीं हुई तो भी वारेन हेस्टिंग्स के कार्यों की भूमिका इस काल में बंध गई।

वारेन हेस्टिंग्स का परिचय :—सन् १७७२ ई० में वारेन हेस्टिंग्स कलकत्ते का गवर्नर नियुक्त हुआ। उसकी शिक्षा अधिक न थी। सन् १७५० ई० में वह एक साधारण क्लर्क की हैसियत से भारत आया था और बहुत दिनों तक मुर्शिदाबाद दरबार के अंगरेज वकील के पास काम करता रहा। मुर्शिदाबाद में रह कर क्लाइव की देख-रेख में भारतवासियों के रस्म-रिवाज और कूटनीति के दाव-पेंच सीख गया और धीरे-धीरे क्लाइव से भी अधिक चालाक हो गया था।

बंगाल की दशा :—क्लाइव ने दो सरकारें स्थापित की थीं—एक कलकत्ते की अंग्रेजी सरकार जो बंगाल, बिहार और उड़ीसा तीनों प्रान्तों का लगान और दूसरे सरकारी टैक्स वसूल करती थी और उसमें से २६ लाख रुपया वार्षिक सम्राट् शाहआलम को तथा ५० लाख रुपया वार्षिक के लगभग मुर्शिदाबाद दरबार को देती थी। दूसरी, मुर्शिदाबाद की भारतीय सरकार, जो शासन के अन्य कार्य करती थी परन्तु नजमउद्दौला के समय से नायब सूबेदार का एक नया पद स्थापित हो गया था जो नवाब के नाम में शासन का सारा कार्य स्वयं करता था। अंग्रेजों ने तीनों प्रांतों में नायब सूबेदार का पद अपने खास आदमियों को दिया था। यह लोग नवाब की कोई परवाह न कर अंग्रेज सरकार के इशारों पर नाचते थे और प्रायः कम्पनी के उच्च पदाधिकारियों की आर्थिक मांग को पूरा करने में ही लगे रहते थे, क्योंकि यह माँग प्रतिदिन खड़ी रहती थी। इसलिए नायब अपने स्वामियों के लिये रुपया एकत्रित करने में उचित अनुचित का कहाँ तक ध्यान रख सकते थे। बलात् रुपया लेना एक नियम-सा हो गया था। लोगों को अपनी रक्षा करनी कठिन हो गई, क्योंकि कभी-कभी सामर्थ्य से इतनी अधिक माँग कर ली जाती थी कि वह किसी प्रकार पूरी न हो पाती थी और इस दशा में एक प्रकार की अपमान सहन करना पड़ता था। नजमउद्दौला ने संधि में एक शर्त यह भी मान ली थी कि माल-विभाग में कोई कर्मचारी न अंग्रेज कौंसिल की अनुमति के बिना रक्खा जायगा और न निकाला ही जायगा। इस प्रकार नवाब की स्थिति बहुत विचित्र-सी हो गई थी, उसे नवाब समझना या न समझना दोनों जनता के लिए कठिनाई का कारण थे। दो विरोधी आज्ञाओं में जनता को यह निर्णय करना कठिन हो जाता था कि नवाब की आज्ञा मानें अथवा कम्पनी की। दो स्वामियों के बीच कोई कर्मचारी अपनी

बौकरी सुरक्षित न समझता था। उसे सदैव अपने निकलने का भय लगा रहता था। इसलिए वह शीघ्रातिशीघ्र अधिक से अधिक धन बटोरने का प्रयत्न करता था कि नहीं मालूम कब निकाल दिया जाय।

कम्पनी के कर्मचारी एक क्षण में ही धनकुवेर होने के लिए लालायित थे। उन सब ने व्यक्तिगत हैसियत से बड़ी-बड़ी रकमें हर तरह के अन्यायों व अत्याचारों द्वारा प्राप्त कीं। छोटे-बड़े सब अंग्रेज अधिकारियों में धन का लोभ और दुराचार इस दर्जे तक फैल गये थे कि नेकी-बढ़ीया न्याय-अन्याय का सब विचार जाता रहा था। इस प्रकार दोहरे प्रबन्ध ने तीनों प्रान्तों का सत्यानाश कर डाला। हर तरह के व्यापार पर अंग्रेजों का अधिकार था। देश के समस्त उद्योग-धन्धे, जिन्हें कुछ ही वर्ष पहले संसार चकित होकर देखता था, मलियामेट कर दिये गये थे। यहाँ तक कि सोना, चाँदी, जवाहरात, रुपया, अशफियाँ लद-लद कर देश से बाहर जाने लगे। देश में रुपया दिखाई देना कठिन हो गया। इसी समय दुर्भाग्यवश बंगाल में भयंकर अकाल पड़ा तथा महामारी फैली और सूबे की ३३ प्रतिशत जनसंख्या देखते-देखते काल के गाल में चली गई। ऐसी भयंकर परिस्थिति में वारेन हेस्टिंग्स बंगाल का गवर्नर हुआ।

वारेन हेस्टिंग्स के सुधार :—वारेन हेस्टिंग्स ने अपने गवर्नर-काल में सर्वप्रथम दोहरे प्रबन्ध का अन्त किया। बंगाल तथा बिहार के नायब सूबेदारों पर गवर्नर के अभियोग लगा कर उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया। उन पर मुकदमा चलवाया और उनके अधिकार छीन कर कम्पनी को दे दिये गये। बड़ी कठिनता से हेस्टिंग्स को अपार धन दे इन लोगों की जान छूटी। यह वही नायब सूबेदार थे, जो अपनी आत्मा को दूर रख उचित व अनुचित प्रत्येक तरीके से अंग्रेजों को प्रतिक्षण रुपया देने को तैयार रहते थे।

दूसरा कार्य, जो वारेन हेस्टिंग्स ने किया, वह सम्राट् शाहआलम की २६ लाख वार्षिक पेंशन बन्द करना था। क्लाइव ने तै किया था कि सम्राट् अंग्रेज की छत्रछाया में इलाहाबाद में रहेगा। अब चूँकि सम्राट् मरहटा आधिपत्य में देहली पहुँच गया था इसलिए यह पेंशन बन्द कर दी गई। तीसरे, इलाहाबाद व कड़ा के जिले, जो क्लाइव ने शुजाउद्दौला से सम्राट् के

लिए कह कर लिये थे, पचास लाख रुपया लेकर फिर शुजाउद्दौला को वापिस कर दिये गये ।

उपरोक्त सुधारों से कम्पनी की आर्थिक दशा कुछ सुधर गई । इनके अतिरिक्त उसने कुछ शासन-सम्बन्धी सुधार भी किये । सर्वप्रथम उसने मुर्शिदाबाद के स्थान पर कलकत्ते को अपनी राजधानी बनाया । फिर उसका ध्यान माल-विभाग के सुधारों की ओर गया । प्रत्येक जिले में एक कलक्टर नियुक्त हुआ जिसका काम अन्य कर्मचारियों की सहायता से मालगुजारी वसूल करना था । यही कलक्टर दीवानी का न्यायाधीश भी था । उसकी अदालत दीवानी अदालत कहलाई । फौजदारी के मुकदमों का फैसला करने के लिए उसने प्रत्येक जिले में एक फौजदारी अदालत की स्थापना की । इन न्यायालयों की अपील के लिए उसने कलकत्ते में एक सदर दीवानी अदालत तथा एक सदर निज़ामत अदालत की स्थापना की । इनमें से प्रथम का प्रधान स्वयं गवर्नर जनरल होता था । दूसरी प्रकार के न्यायालयों में हिन्दुओं तथा मुसलमानों के प्राचीन नियमों के अनुसार न्याय होता था । उन नियमों की व्याख्या के लिए एक पंडित तथा एक मौलवी नियुक्त हुए । उसने पुलिस में भी कई महत्वपूर्ण सुधार किये जिससे अपराधों में कमी हुई । बंगाल के मुसलमानों को सहानुभूति प्राप्त करने के लिये उसने कलकत्ते में कई मदरसे स्थापित किये ।

गवर्नर जनरल (१७७४ ई०-८४ ई०)

कम्पनी की आर्थिक दशा :—२५ वर्ष के अल्प काल में व्यापारी के रूप में बंगाल में प्रवेश करने वाली सुट्टी भर अंग्रेज जाति बंगाल, बिहार तथा उड़ीसा जैसे विस्तृत देश की स्वामी बन बैठी । धनलोलुपता के शिकार इस व्यापारी वर्ग ने इन प्रान्तों का समुचित प्रबन्ध न कर उचित तथा अनुचित साधनों से धन एकत्रित करना ही अपना एक उद्देश्य समझा । फल-स्वरूप जब कम्पनी के कर्मचारी स्वदेश लौटते थे तो बंगाल-अर्जित इस सम्पत्ति से गगनचुम्बी भवन, ज़मीदारियाँ, पार्लियामेंट की सीट, उपाधियाँ आदि मोल लेकर ऐसा सुन्दर तथा चमत्कारपूर्ण जीवन व्यतीत करते थे कि उन्हें देखकर इंग्लैंड के अमीर अवाक् रह जाते थे । जहाँ तक कम्पनी का प्रश्न है उन्हें उसके हित अथवा अहित का अधिक ध्यान न था । कम्पनी की नौकरी को अधिकतर कर्मचारी अपने वृथा धन-प्राप्ति का अवसर मात्र ही

समझते थे। परिणाम यह हुआ कि कम्पनी को व्यापार में टोटा होने लगा। आर्थिक संकट की इस भीषण परिस्थिति में कम्पनी के संचालकों ने बंगाल, बिहार तथा उड़ीसा की दीवानों को पारस पथरी की प्राप्ति समझा। जिसके फलस्वरूप उन्होंने वार्षिक लाभ की दर १० प्रतिशत से १२½ प्रतिशत कर दी। हानि की स्थिति में लाभ की दर को बढ़ाने से आर्थिक कठिनाई और भी उग्र रूप धारण कर गई। तीसरे, हैदराबली के युद्धों में अंग्रेजों की अपार धन तथा जन-हति हुई जिससे कम्पनी की आर्थिक कमर बिल्कुल टूट गई। १७७० के दुर्भिक्ष तथा महामारी ने भी कम्पनी की आय को हति पहुँचाई। फल यह हुआ कि कम्पनी की आर्थिक दशा अत्यन्त शोचनीय होगई और उसे इंग्लैंड की पार्लियामेंट के सामने ऋण के लिये हाथ फैलाने पड़े।

कम्पनी की इस दशा को देखकर इंग्लैंड के प्रधानमन्त्री लार्ड नार्थ के होश उड़ गये। जनता को भा यह सुनकर अत्यन्त आश्चर्य हुआ और कम्पनी के हिस्सों का मूल्य यकायक गिरने लगा। ऐसी स्थिति में लार्ड नार्थ ने ऋण देने से पहिले कम्पनी के कार्य की जाँच तथा उसके दोषों के सुधारों के लिये एक कमेटी नियुक्त की जिसने कम्पनी के कर्मचारियों के अनाचार को इसके लिये उत्तरदायी ठहराया। उनकी रिपोर्ट के आधार पर सन् १७७३ ई० में एक नया कानून बनाया जो रेग्युलेंटिंग ऐक्ट के नाम से प्रसिद्ध है।

रेग्युलेंटिंग ऐक्ट :—इस ऐक्ट के द्वारा दो प्रकार की कमियों को दूर करने की व्यवस्था की गई। प्रथम वैधानिक त्रुटियाँ जिनके कारण इंग्लैंड में कम्पनी की संचालक कमेटी की व्यवस्था बिगड़ गई थी। दूसरी प्रबन्ध-सम्बन्धी कमियाँ जिनका अर्थ भारतवर्ष में कम्पनी को कर्मचारियों के सुचारु रूप से कार्य करने के लिये बाध्य करना था।

वैधानिक सुधार :—ईस्ट इण्डिया कम्पनी का प्रबन्ध करने के लिये, कम्पनी के विधानानुसार, दो संस्थाएँ स्थापित की गई थीं। प्रथम साधारण सभा, द्वितीय संचालन-समिति। प्रत्येक ५०० पौंड का हिस्सेदार साधारण सभा की सदस्यता का अधिकारी था। जबकि २००० पौंड का हिस्सेदार संचालक-समिति का सदस्य हो सकता था। संचालकों की संख्या २४ थी और प्रतिवर्ष उनका निर्वाचन होता था। दैनिक कार्य-क्रम के लिये

संचालक-समिति १० उपसमितियों में विभक्त थी। प्रत्येक उपसमिति पत्र-व्यवहार, हिसाब, खरीद इत्यादि एक प्रकार के कार्य की जिम्मेदार थी।

उपरोक्त व्यवस्था को कम्पनी के कर्मचारियों ने दोषपूर्ण बना दिया। वह उचित और अनुचित रूप से भारतवर्ष में धनोपार्जन कर कम्पनी में हिस्सेदार के रूप में प्रवेश करने तथा उसकी जाति पर अधिकार करने लगे। रेग्यूलेटिंग ऐक्ट के अनुसार साधारण सभा की सदस्यता तथा राय के लिये पाँच सौ पाँड के हिस्सेदार के बदले १००० पाँड का हिस्सेदार अधिकारी ठहराया गया। जबकि सम्पूर्ण संचालक-समितिके के वार्षिक निर्वाचन के बदले एक चौथाई सदस्यों के वार्षिक निर्वाचन की व्यवस्था की गयी। संचालकों को आदेश दिया गया कि वह समय समय पर इंग्लैंड की सरकार को कम्पनी की स्थिति से सूचित करते रहें।

रेग्यूलेटिंग ऐक्ट के द्वारा किये गये कम्पनी के प्रबन्ध-सम्बन्धी सुधारों को निम्नलिखित भागों में बांटा जा सकता है—

शासन-सम्बन्धी सुधार :—जैसा कि पहिले संकेत किया जा चुका है। कम्पनी के भारतीय कार्य-क्रम का प्रबन्ध करने के लिए बंगाल, मद्रास तथा बम्बई प्रेसीडेन्सी में सभापति तथा उसकी कौंसिल की व्यवस्था की गई थी। प्रेसीडेन्सी का गवर्नर सभापति होता था और प्रेसीडेन्सी के अन्तर्गत उच्च व्यापारी उसके सदस्य होते थे यह व्यापारी सदस्य प्रेसीडेन्सी के अन्तर्गत दूर दूर कम्पनी की कोठियों में रहते थे। यातायात के साधनों के अभाव में उनका शोघ्न मिलन कठिन था। जब कि कम्पनी के अधिकृत प्रदेश की वृद्धि के कारण प्रतिदिन विचारणीय समस्याएँ मंत्रणा के लिये उपस्थित रहती थीं। क्लाइव ने चार सदस्यों की एक स्थानीय सिलैक्ट कमेटी अर्थात् उपसमिति बना इस कठिनाई को दूर करने का प्रयास किया था। परन्तु इस सब व्यवस्था का सबसे बड़ा दोष यह था कि समिति अथवा उपसमिति दोनों के सदस्य कम्पनी के वैतनिक कर्मचारी थे इसलिये वे स्वतन्त्रतापूर्वक अपने विचार प्रगट न कर सकते थे। रेग्यूलेटिंग ऐक्ट में इस दोष को दूर करने का प्रयत्न किया गया और बम्बई तथा मद्रास के गवर्नर उसके अधीन कर दिये गये। उन्हें आदेश दिया गया कि वे प्रत्येक मामले में साधारणतया और युद्ध तथा सन्धि के लिये विशेषतया गवर्नर जनरल की राय से काम करें। बंगाल, बिहार तथा उड़ीसा की शासन-व्यवस्था गवर्नर

जनरल के सुपुर्द की गई और इसे इन तीनों प्रान्तों के माल तथा सैन्य अधिकार प्रदान किये गये। उसकी सहायता के लिये चार सदस्यों की एक कौंसिल बना दी गई जिसके सदस्य पार्लियामेंट द्वारा निर्वाचित किये गये। उनकी अवधि पाँच वर्ष रखी गई। उन्हें संचालकों की प्रार्थना पर, यदि वह उचित हो, बादशाह अर्थात् प्रधानमन्त्री ही पदच्युत कर सकता था। वार-वैल, क्लैवरिंग, फ्रांसिस तथा मोन्सन इस कौंसिल के प्रथम चार सदस्य नियुक्त हुए। इस ऐक्ट की उपरोक्त धारा का उद्देश्य कम्पनी के भारतीय शासन का केन्द्रीकरण करना तथा गवर्नर जनरल की सत्ता पर स्वतन्त्र सदस्यों का प्रतिबन्ध लगा उसके तथा कर्मचारियों के अनुचित कार्यों पर प्रतिबन्ध लगाना था।

कम्पनी के कर्मचारियों का सुधार :—जैसाकि क्लाइव के सुधार के समय उल्लेख किया जा चुका है कि कम्पनी के कर्मचारियों का वेतन बहुत थोड़ा था। जब तक उसमें उचित वृद्धि न हो उनको व्यक्तिगत व्यापार, रिश्वत, घूस अथवा भेंट इत्यादि स्वीकार करने से रोकना असम्भव था। इसलिये क्लाइव के कर्मचारियों सम्बन्धी सुधार निष्फल हुए।

रेग्युलेटिंग ऐक्ट के अनुसार कम्पनी के उच्च कर्मचारियों के वेतन में विशेष वृद्धि की गई और व्यक्तिगत व्यापार, रिश्वत, भेंट इत्यादि सर्वथा निषेध कर दी गई। उन्हें बताया गया कि यदि वह इस पर भी उपरोक्त दुराचार में भाग लेंगे तो उन्हें जुर्माना तथा कैद का दण्ड दिया जायेगा और उन पर अभियोग लगाकर उनके विरुद्ध मुकदमा चलाने के लिये उन्हें इंग्लैण्ड भेज दिया जायेगा।

न्याय-सम्बन्धी सुधार :—वरिन हेस्टिंग्स के न्याय-सम्बन्धी सुधारों का पहले उल्लेख किया जा चुका है। इस व्यवस्था का सबसे बड़ा दोष यह था कि प्रबन्धक तथा न्यायक वर्ग में कोई भेद न था। कम्पनी के कर्मचारी अपने ही विरुद्ध अभियोगों पर निर्णय देने के अधिकारी थे। रेग्युलेटिंग ऐक्ट के अन्तर्गत एक उच्च न्यायालय अर्थात् सुप्रीम कोर्ट (Supreme Court) स्थापित की गई जिसमें एक प्रधान न्यायाधीश तथा तीन सहायक न्यायाधीश नियुक्त किये गये जिन्हें मिलाकर अंग्रेजों और कम्पनी के अन्य कर्मचारियों के सब प्रकार के मुकदमों को तय करने का अधिकार दिया गया। केवल गवर्नर जनरल और उसकी कौंसिल के

सदस्यों को उसके क्षेत्र से बाहर रखा गया। उपरोक्त न्यायालय इंग्लैण्ड के सम्राट् की ओर से स्थापित किया गया था। उसके जजों की नियुक्ति भी उसकी ही ओर से होती थी। सर 'एलिजाह इम्पे' वारेन हेस्टिंग्स का एक मित्र प्रथम न्यायाधीश नियुक्त हुआ। इन सुधारों को क्रियात्मक रूप देने के बाद पार्लियामेन्ट ने ईस्ट इंडिया कम्पनी को १४ लाख पौण्ड रुपया उधार दिया और उसके चार्टर को बीस वर्ष के लिये बढ़ा दिया। इस प्रकार कम्पनी की नीति में मन्त्रिमण्डल के हस्तक्षेप का श्रीगणेश हुआ।

रेग्युलेटिंग ऐक्ट के दोष :—यह ऐक्ट अपनी समस्त धाराओं सहित १७७४ ई० में लागू कर दिया गया। आरम्भ में आशा थी कि इससे कम्पनी की दशा में बहुत कुछ अन्तर हो जायेगा। परन्तु कई दोषों के कारण उसका उद्देश्य पूर्णतया सफल न हो सका और इसलिये १७८४ ई० में उसे पिट्स-इंडिया ऐक्ट द्वारा, जिसका आगे चलकर विस्तृत वर्णन किया जायेगा, संशोधित करना पड़ा। इस ऐक्ट का प्रथम आधार विभाजन सिद्धान्त अर्थात् न्यायिक, वैधानिक तथा प्रबन्धक शक्तियों की पृथक्ता तथा प्रतिबन्ध सिद्धान्त अथवा (Checks and Balances) का सिद्धान्त था। जिसके द्वारा गवर्नर जनरल की कौंसिल के सदस्य तथा उच्च न्यायालय उसकी निरंकुशता पर नियन्त्रण रखने के लिये थे। परन्तु जैसाकि आगे चलकर अनुभव से सिद्ध हुआ इस प्रकार का शक्ति-विभाजन अथवा सन्तुलन व प्रतिबन्ध कम्पनी की सामयिक स्थिति के अनुकूल न था। यही कारण था कि १७८४ ई० के पिट्स-इंडिया ऐक्ट में इस दोष को दूर करना पड़ा। दूसरे ऐक्ट के अनुसार गवर्नर जनरल के लिये प्रत्येक स्थिति में कौंसिल के बहुमत से आचरण करना अनिवार्य था, जबकि प्रथम चार सदस्यों में से केवल बारवैल हेस्टिंग्स के पक्ष में रहता था और शेष तीन उसके विरुद्ध। इसलिये ऐक्ट के प्रारम्भिक दो वर्ष पर्यन्त, जब तक मौनसन जीवित रहा, गवर्नर जनरल की सत्ता नाममात्र की थी। क्योंकि बहुमत उसके विरुद्ध होने के कारण उसे निष्क्रिय ही रहना पड़ा। इससे गवर्नर जनरल के प्रभुत्व को बहुत धक्का लगा।

तीसरे, गवर्नर जनरल और कलकत्ता सुप्रीम कोर्ट के अधिकार निश्चित न थे। इसलिये ऐसे अवसर प्रायः आते रहते थे जब दोनों न्याया-

लय एक दूसरे के विरुद्ध निर्णय दे देते और उस निर्णय को कार्यान्वित करने का प्रयत्न भी करते ।

चौथे, सुप्रीम कोर्ट में इंग्लैण्ड के नियमों के अनुसार न्याय होता था जो भारतवर्ष के लिये किसी प्रकार उपयुक्त न थे । पाँचवें, यदि उपरोक्त विरोधी शक्तियों के कारण कुछ समस्याएँ उत्पन्न हों तो उन्हें सुलझाने की कोई व्यवस्था भारत में न थी । उनको सुलझाने वाली संस्था अर्थात् पार्लियामेंट सात हजार मील की दूरी पर इंग्लैण्ड में स्थित थी । ऐसी दशा में रेग्यूलेटिंग एक्ट से मनोवांछित लाभ न हुआ और यह केवल असफल होकर रह गया ।

रुहेलों से युद्ध :—जैसाकि पहले भी कई बार संकेत किया गया है—ईस्ट इंडिया कम्पनी की आर्थिक दशा अच्छी न थी इसलिये कम्पनी के डाइरेक्टर बार बार वारेन हेस्टिंग्स को लिखते रहते थे कि जिस तरह से हो सके—अधिक से अधिक धन भारत से वसूल करके इंग्लैण्ड भेजें । हेस्टिंग्स ने भी “चाहे ईमानदारी से चाहे बेईमानी से” सब प्रकार धन एकत्रित करना प्रारम्भ कर दिया । धन की लालसा से प्रेरित वारेन हेस्टिंग्स सर्वप्रथम रुहेला-युद्ध में सम्मिलित हो गया ।

रुहेला प्रदेश—रुहेले अफगान थे, उन्होंने पेशावर के निकट से आकर अवध के उत्तर-पश्चिम में गंगा और हिमालय के बीच अपना एक स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिया था । रुहेला राज्य का वर्णन करते हुए इतिहासकार ‘मिल’ लिखता है कि :—

“रुहेल खण्ड प्रदेश एशियाई सुव्यवस्थित देशों में से एक था, वहाँ की जनता सुरक्षित थी । उनके उद्योग-धन्धों को राज्य की ओर से सहायता दी जाती थी और उनका देश निरन्तर समृद्धि की ओर अग्रसर था ।”

आक्रमण के लिये गुप्त संधि :—रुहेला राज्य के एक ओर मरहठा राज्य, दूसरी ओर अवध तथा अंग्रेजों का राज्य था । मरहठे बहुधा इनके प्रदेश पर छापे मारते रहते थे । सन् १७७२ ई० के निकट रुहेलों को मरहठा आक्रमण की विशेष आशंका हुई इसलिये उन्होंने अवध के नवाब शुजाउद्दौला से सन्धि कर ली जिसके अनुसार तय पाया कि यदि मरहठे रुहेल खण्ड पर आक्रमण करें तो अवध का नवाब उनकी सहायता

करेगा। जिसके बदले में रुहेलों ने नवाब को ४० लाख रुपये देने का वचन दिया। किसी कारणवश मरहटों ने रुहेलखण्ड पर आक्रमण न किया। इसलिये अवध के नवाब को रुपया देने का प्रश्न भी पैदा न हुआ। परन्तु उसने फिर भी रुपये की मांग की। जब रुहेलों ने रुपया देने से इन्कार किया तो उसने हेस्टिंग्स से साज़-वाज़ करनी आरम्भ कर दी। हेस्टिंग्स की लालची आँखें रुहेलखण्ड के समृद्धिशाली प्रदेश पर पहले ही लगी हुई थीं। फल यह हुआ कि १७७३ ई० में अवध के नवाब शुजा-उद्दौला तथा वारेन हेस्टिंग्स में एक गुप्त संधि हुई जिसके अनुसार तब हुआ कि उचित अवसर प्राप्त होते ही कम्पनी तथा नवाब की सेनायें रुहेलखण्ड पर आक्रमण करें और रुहेला जाति को निर्मूल कर उनका राज्य शुजाउद्दौला को दे दिया जाये जिसके बदले में नवाब ४० लाख रुपया नक़द तथा युद्ध का समस्त खर्च कम्पनी को दे।

आक्रमण तथा युद्ध :—अप्रैल सन् १७७४ ई० में बिना किसी विशेष कारण के कम्पनी तथा नवाब की सेना ने रुहेलखण्ड पर आक्रमण कर दिया। रुहेलों ने वीरतापूर्वक उनका सामना किया परन्तु नवाब तथा कम्पनी की असंख्य सेना के सामने वे कुछ न कर सके। रामपुर की लड़ाई में वे पूर्णतया परास्त हुए। हरा भरा रुहेला प्रदेश उजड़ गया। परन्तु कम्पनी को ४० लाख रुपया तथा हेस्टिंग्स को २ लाख की भेंट मिल गई। रामपुर और उसके आस-पास का थोड़ा-सा प्रदेश नवाब को बतौर जागीर के दे दिया गया। शेष रुहेलखण्ड शुजाउद्दौला को मिल गया परन्तु धन-प्राप्ति के लिये एक समृद्ध देश की स्वाधीनता का अपहरण हेस्टिंग्स तथा अंग्रेज जाति को सदैव कलंकित करता रहेगा।

हेस्टिंग्स और राजा चेतसिंह :—कम्पनी के डाइरेक्टरों के उपदेशानुसार हेस्टिंग्स ने अपनी धन एकत्रित करने की नीति को जारी रखा। धन-लोलुपता ने उसे इतना अन्धा बना दिया कि उसे न्याय-अन्याय, उचित-अनुचित का कोई ज्ञान न रहा। रुहेलखण्ड के बाद उसकी लालची आँखें बनारस पर पड़ीं। आरम्भ में बनारस की रियासत अवध के अधीन थी। सन् १७७६ ई० में अवध के नवाब ने बनारस को रियासत कम्पनी के नाम कर दी। फलस्वरूप एक अंग्रेज रेज़िडेण्ट बनारस के राजा चेतसिंह

के दरबार में रहने लगा और महाराजा चेतसिंह की गणना कम्पनी के दूध मित्रों में की जाने लगी ।

इसी बीच योरुप और फ्रांसीसियों के बीच युद्ध आरम्भ हो गया । महाराजा चेतसिंह को वारेन हेस्टिंग्स ने यह आज्ञा दी कि पांच लाख रुपये सालाना खर्च पर वह अपने यहां कम्पनी की तीन पल्टने रख ले । ये सेनायें उसकी रियासत की रक्षा करेंगी । रियासत में पूर्ण शान्ति थी और शान्ति भंग होने की कोई आशंका भी प्रतीत न होती थी । इसलिये राजा चेतसिंह ने अपने यहां इस प्रकार सेना रखने पर आपत्ति की परन्तु हेस्टिंग्स ने, जिसका उद्देश्य बनारस की रक्षा करने के बदले उचित अवसर पर उन्हीं सेनाओं से रियासत का भक्षण करना था और उस समय के लिये कम्पनी के बिना खर्च के एक स्थायी सेना का आयोजन करना था, राजा की एक न सुनी । परिणाम यह हुआ कि सेनायें बनारस रियासत में रख दी गईं और उनका खर्च राजा को सहन करना पड़ा । परन्तु इतना ही पर्याप्त न था । दो वर्ष बाद आज्ञा हुई कि राजा कम्पनी की एक अश्व-सेना भी अपने खर्च से रियासत में रखे । राजा ने, जो पहली ही रखी सेना के खर्च को अपव्यय समझता था, इस आज्ञा को मानने से इन्कार कर दिया । इस पर वारेन हेस्टिंग्स ने तुरन्त बनारस पर आक्रमण करने की आज्ञा दी । जब राजा को इस बात का पता चला तो उसने बक्सर के स्थान पर हेस्टिंग्स से भेंट की और बड़ी नम्रता पूर्वक अपनी अधीनता प्रकट की । फिर भी हेस्टिंग्स ने एक न सुनी । वह स्वयं बनारस पहुँचा और राजा के महल को घेर लिया । उसने आज्ञा दी कि राजा को कैद कर लिया जाय । बनारस की प्रजा इस घोर अन्याय तथा अपने राजा के अपमान को देखकर भड़क उठी और कम्पनी की सेना पर दूट पड़े और तमाम अंग्रेज सिपाही कत्ल कर डाले गये । हेस्टिंग्स ने स्वयं भागकर चुनार के किले में शरण ली । परन्तु उसने और अधिक सेना बनारस भेजी । घोर संग्राम हुआ और जब राजा के नौकरों ने देखा कि अब बनारस का पतन होने वाला है तो उन्होंने राजा को एक खिड़की से नीचे उतार दिया और वह अपनी माता रानी तथा मुख्य विश्वासपात्रों सहित गंगा के उस पार रामनगर स्थान पर, जहां उसका मुख्य खजाना, था जा पहुँचा । अन्त में जब रामनगर का किला भी जीत लिया गया तो राजा भागकर ग्वालियर पहुँचा

और यहां उसने अपने जीवन के शेष दिन पूरे किये ।

बनारस की रियासत राजा के एक वंशज को दे दी गई परन्तु उसके अनेक अधिकार रेजीडेण्ट को दे दिये गये और कम्पनी का खिराज बढ़ाकर २७ लाख वार्षिक कर दिया गया । थोड़े ही दिन पहले जहां सुख और शान्ति का राज्य था वहां दुःख और असन्तोष का दौरा हो गया ।

हेस्टिंग्स और अवध की बेगमें :—वारेन हेस्टिंग्स को धन-पिपासा अभी शान्त न हुई थी । इसलिये बनारस के बाद उसने अवध पर अपनी दृष्टि डाली । सन् १७७५ ई० में अवध के नवाब शुजाउद्दौला का देहान्त हो गया । उसके स्थान पर आसफ़उद्दौला गद्दी पर बैठा । अनेकों बार बिना कारण के अनेकों रकमें बलात् उससे वसूल कर ली गई थीं । सन् १७८१ ई० में जब उससे फिर धन की याचना की गई तो उसने अपनी निर्धनता के कारण विवशता प्रगट की । अपनी विवशता का कारण बतलाते हुए नवाब ने कहा कि मुझे अपने यहां रखी हुई कम्पनी की सहायक सेना के खर्चे के लिये एक बड़ी रकम वार्षिक देनी पड़ती है । हेस्टिंग्स ने बनारस की भाँति यहाँ भी नवाब के खर्च पर कम्पनी की एक विशाल सेना रख रखी थी । अपनी स्थिति समझाने के लिये आसफ़उद्दौला स्वयं हेस्टिंग्स से मिलने के लिये चुनार गया । यहाँ बातचीत के बीच में उसने प्रगट किया कि नवाब शुजाउद्दौला मरते समय उसकी माँ और दादी को बड़ा रुपया दे गया था । हेस्टिंग्स ने तुरन्त आसफ़उद्दौला से मिलकर इन बेगमों से रुपया लेने की योजना बनाई । बेगमों पर यह आरोप लगाया गया कि वह बनारस के राजा खेतसिंह के साथ पड़यन्त्र कर रही हैं । बेगमों की ओर से कोई सफ़ाई न सुनी गई । बल्कि हेस्टिंग्स का मित्र सुप्रीम कोर्ट का मुख्य न्यायाधीश सर एलिजाबेथ इम्पे स्वयं लखनऊ पहुँचा । उसने वहाँ स्वयं इस आरोप सम्बन्धी बहुत से झूठे शपथपत्र ग्रहण किये जिनमें कम्पनी के विरुद्ध इस मिथ्या षडयन्त्र की शपथें लिख दी गई थीं । इस प्रकार लोकाचार की समस्त शिष्टता समाप्त करने के पश्चात् हेस्टिंग्स ने फैजाबाद के महलों को घेरने की आज्ञा दी और बेगमों से कहला भेजा कि वे कैदी हैं । उन्हें उनके नौकरों को तथा बाँदियों को बन्दी बना लिया गया । उन्हें अनेक प्रकार की यातनायें दी गईं और जब तक

उन्होंने एक विशाल धनराशि द्वारा, जिसका अनुमान लगभग १ करोड़ २० लाख था, हेस्टिंग्ज को प्रसन्न न कर लिया तब तक उन्हें मुक्त न किया गया।

हेस्टिंग्ज पर अभियोग तथा नन्दकुमार को फांसी :—बंगाल में दोहरा प्रबन्ध समाप्त करते समय हेस्टिंग्ज ने रज़ाख़ाँ को निकालने के लिये नन्दकुमार से काम लिया था। उसने नन्दकुमार को झूठे वचन दे, कि उसे रज़ाख़ाँ की जगह बंगाल का नायब नवाब बना दिया जायेगा, उससे राखजों पर गवर्न का मुकदमा चलवाया था। परन्तु जब यह काम निकल गया तो हेस्टिंग्ज ने अपना वायदा पूरा न किया इसलिये नन्दकुमार उससे बहुत असन्तुष्ट था। रेग्यूलेटिंग एक्ट के बाद जब गवर्नर जनरल की कौंसिल की स्थापना हुई तो उसने उसके विरुद्ध एक प्रार्थनापत्र कौंसिल में प्रस्तुत किया जिसमें हेस्टिंग्ज पर बंगाल के रईसों और जमींदारों से रिश्वत लेने, बलात् रुपया वसूल करने, अवध की वेगमों से अन्यायपूर्ण व्यवहार करने तथा लोगों को धोखा देने के अनेकों अभियोग लगाये गये थे। नन्दकुमार ने अपने अभियोगों को सत्य भी करा दिया परन्तु हेस्टिंग्ज को कोई दण्ड न मिल सका। हेस्टिंग्ज ने कहा कि कौंसिल के गवर्नर जनरल के विरुद्ध अभियोग सुनने का अधिकार नहीं है। इस प्रकार अपना बयान कर उसने नन्दकुमार पर पाँच वर्ष पूर्व एक कागज़ पर हस्ताक्षर करने का अभियोग लगाया और सुप्रीम कोर्ट में उसके विरुद्ध मुकदमा चलवा दिया। यद्यपि अभियोग पूर्णतया निर्मूल था तो भी विपक्षी की सफाई की कोई परवाह न करते हुए हेस्टिंग्ज के मित्र सर एलिजाह इम्पे ने नन्दकुमार को जालसाजी के जुर्म में प्राणदण्ड की आज्ञा दी। फल-स्वरूप ५ अगस्त सन् १७७६ ई० को कलकत्ते में उसे फांसी दे दी गई। नन्दकुमार का दण्ड सर्वथा अन्यायपूर्ण था क्योंकि प्रथम तो अभियोग ही सिद्ध न हुआ था, दूसरे जालसाजी के आरोप में इंग्लैण्ड अथवा भारतवर्ष कहीं भी प्राणदण्ड की व्यवस्था न थी।

कम्पनी की मरहठा नीति :—मरहठों जैसी प्रबल भारतीय शक्ति के अस्तित्व को अंग्रेज सदैव अपनी उन्नति के लिये बाधक समझते थे। इसलिये जैसाकि ग्रांट डक लिखता है —

“कम्पनी के डाइरेक्टर इस बात के लिये इच्छुक थे कि मरहठों की

बढ़ती हुई शक्ति को किसी तरह धक्का पहुंचे।” संचालकों की ऐसी इच्छा होते हुए अंग्रेज-मरहटा-वर्ष अनिवार्य था परन्तु इस संघर्ष में प्रवेश करने से पहले सामयिक मरहटा-स्थिति का संक्षिप्त परिचय देना उचित प्रतीत होता है।

मरहटा साम्राज्य की दशा :—सन् १७६१ ई० में अहमदशाह अब्दाली ने पानीपत के ऐतिहासिक रणस्थल में मरहटों की संयुक्त सेना को परास्त किया था। इस पराजय ने कुछ समय के लिये मरहटों को उत्तरी भारत से निकाल दिया। मुगल सम्राट् के हृदय से भी कुछ समय के लिये उनका प्रभाव उठ गया। उसी समय से धीरे धीरे गायकवाड़, भौसला, होल्कर और सिंधिया स्वाधीन होने का प्रयत्न करने लगे। पानीपत के कुछ सप्ताह बाद पेशवा बालाजी बाजीराव की मृत्यु हो गई। उसके पश्चात् उसका नाबालिग पुत्र साधोराव पेशवा घोषित हुआ और उसका चाचा रघुनाथराव, जो इतिहास में राघोबा के नाम से प्रसिद्ध है, उसका संरक्षक नियुक्त हुआ। राघोबा अत्यन्त अदूरदर्शी तथा महत्वाकांक्षी था। अपनी इन दुर्बलताओं के कारण वह मीर जाफ़र की भाँति आगे चढ़कर अंग्रेजों के हाथ की कठपुतली बन गया। अंग्रेज जानते थे कि बंगाल तथा उत्तरी भारत में अपने प्रभाव को बढ़ाने के लिये मरहटों को उनके घरेलू झगड़ों में फँसाये रखना अत्यन्त आवश्यक है। दूसरे, बंगाल की भाँति मरहटा जाति की शक्ति को निर्बल बनाने तथा मरहटा प्रदेश में धीरे धीरे अपने पैर फैलाने के लिये आवश्यक था कि उन्हें गुजरात प्रान्त का कुछ भाग तथा भारत के पश्चिमी तट पर कुछ प्रदेश प्राप्त हो जावे। यही कारण था कि आरम्भ से ही पश्चिमी तटवर्ती सालसट तथा महत्वपूर्ण टापुओं पर अंग्रेजों की दृष्टि रही। उक्त उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए कम्पनी के संचालकों ने भी सन् १७६२ ई० में बम्बई कौंसिल को अपने पत्रों में लिखा “कि हम अधिक से अधिक ज़ोरदार शब्दों में अनुरोध करते हैं कि आप सालसट तथा बेसिन को प्राप्त करने का पूर्ण प्रयत्न करते रहें क्योंकि इसमें हमें बहुत बड़ा लाभ है। इन्हें प्राप्त करने के लिये सदैव तत्काल में रहना चाहिये।”

मास्टन का भारत आना तथा उसका कार्य :—इसी उद्देश्य-पूर्ति के लिये सन् १७७२ ई० में कम्पनी के संचालकों ने अपना विशेष दूत

मास्टन भारत भेजा। तुरन्त उसे बम्बई कौंसिल का वकील बनाकर पेशवा के दरबार में पूना भेज दिया गया। पूना में उसके तीन प्रमुख कार्य थे, प्रथम, यह प्रयत्न करना कि दक्षिण भारत की तीन प्रमुख शक्तियों अर्थात् मरहटों, निज़ाम और हैदराबली को मिलने न पावें। दूसरे, मरहटों को घरेलू झगड़ों में इस प्रकार व्यस्त रखना कि उन्हें उत्तरी भारत अथवा बंगाल में हस्तक्षेप का अवसर ही न मिले। तीसरे, सालसट तथा बेसीन प्राप्त करना स्वार्थान्ध राघोबा से उसे इस कार्य से पूर्ण सहायता मिली परन्तु उस समय पेशवा दरबार में नाना फडनवीस जैसा सुप्रसिद्ध राजनीतिज्ञ मौजूद था। वह राघोबा की आकांक्षाओं तथा अंग्रेजों की चालों को भली भाँति समझता था। इसलिये कुछ दिनों तक मास्टन को कोई सफलता प्राप्त न हो सकी। फिर भी उसने अपने प्रयत्न जारी रखे।

सर्वप्रथम उसने राघोबा और नाना फडनवीस में फूट डालने का प्रयत्न किया। इस समय तक माधोराव बालिग हो चुका था। उस पर नाना का बहुत प्रभाव था। परन्तु मास्टन चाहता था कि वह राघोबा के प्रभाव में रहे, क्योंकि इसमें उसकी स्वार्थसिद्धि का स्वर्ण अवसर निहित था। परन्तु माधोराव अल्पायु होते हुए भी अत्यन्त योग्य मनुष्य था। अंग्रेजों की चाल वह भली भाँति समझता था। फिर भी अंग्रेज-विभाजन नीति के शिकार मरहटे दो दलों में विभक्त हो गये। पारस्परिक द्वेष इस सीमा तक पहुँच गया कि एक बार माधोराव को विवश होकर राघोबा को कैद करना पड़ा। यद्यपि वह शीघ्र ही मुक्त कर दिया गया; परन्तु स्थिति पर पूर्ण विजय नहीं हो पाई थी कि १८ नवम्बर सन् १७७२ ई० को २८ वर्ष की अल्पायु में पेशवा माधोराव की असाभ्यधिक मृत्यु हो गई। उसके कोई बच्चा न था, इसलिए मरने से पहले उसने अपने भाई नारायणराव को पेशवा निर्वाचित किया और राघोबा से प्रार्थना की कि वह नारायणराव की रक्षा व सहायता करे। परन्तु स्वार्थान्ध राघोबा इन बातों से प्रभावित होने वाला न था। माधोराव की मृत्यु में उसने अपनी आकांक्षापूर्ति तथा मास्टन ने कम्पनी की स्वार्थसिद्धि का स्वर्ण अवसर देखा। सन् १७७३ ई० में राघोबा ने नारायणराव पेशवा का वध करवा डाला और अपने आपको पेशवा घोषित कर दिया। अंग्रेजों ने उसका साथ दिया। नारायणराव की हत्या तथा उसके बाद हत्यारे राघोबा का साथ देना अंग्रेजों के भारतीय इतिहास

में अत्यन्त पापमय अध्याय है। बम्बई की कौंसिल ने भी अपने एक पत्र में मांस्टन को लिखा कि “इस अवसर पर सालसट और बेसीन प्राप्त करने में जितनी चीजें हमें सहायता प्रदान कर सकें उन्हें खूब परिश्रम के साथ बढ़ाना”।

इस समय तक नाना फड़नवीस और उसके साथी अच्छी तरह समझ चुके थे कि राघोबा अंग्रेजों के हाथों में खेल मरहटा साम्राज्य को जड़ें खोखली कर रहा है। इसलिए उन्होंने अपनी सैन्य-शक्ति बढ़ानी आरम्भ कर दी। इसी बीच अंग्रेज सन् १७७४ ई० में नारायणराव की विधवा स्त्री के, जो अपने पति की हत्या के समय गर्भवती थी, एक पुत्र हुआ। नाना फड़नवीस तथा अन्य प्रभावशाली मरहटा दरबारियों ने इस बालक को पेशवा घोषित कर दिया। किन्तु अंग्रेजों का हित राघोबा ही के पेशवा बनने में था। इसलिए उन्होंने राघोबा को अपने पास सुरत बुलवा लिया और सन् १७७५ ई० में उससे एक सन्धि की, जिसके अनुसार उसने सालसट, बेसीन तथा सुरत प्रान्त का एक भाग कम्पनी को दे दिया। बम्बई कौंसिल ने इसके बदले राघोबा को कम्पनी की सेना सहित पूना भेजने और पेशवा को गद्दी पर बैठाने का वचन दिया।

प्रथम संघर्ष :—बम्बई की सेना राघोबा को पूना की गद्दी पर बैठाने के लिए चली। उधर नाना फड़नवीस ने हरिपन्त फड़के के अधीन एक सेना राघोबा का सामना करने को भेजी। आरस के स्थान पर दोनों सेनाओं में घोर युद्ध हुआ। राघोबा तथा अंग्रेज परास्त हुए और बहुत से अंग्रेज युद्ध में काम आये। परन्तु इसी बीच में वर्षा ऋतु प्रारम्भ हो गई। इसलिए हरिपन्त फड़के ने पराजित सेना का पीछा किया और वह पूना लौट आया। फल यह हुआ कि राघोबा तथा अंग्रेज साथी कुछ दूर भाग गुजरात में ही ठहर गये।

अंग्रेजों का गुजरात प्रवेश :—प्रत्येक अवसर से लाभ उठाने वाली अंग्रेज जाति ने इस अवसर को गुजरात के गायकवाड़ वंश पर अपना प्रभाव जमाने में लगाने का प्रयत्न किया। गुजरात में भी इस समय पूना की भांति उत्तराधिकार युद्ध चल रहा था। सन् १७६८ में महाराजा गायकवाड़ की मृत्यु के बाद उनके चार पुत्र सयाजी, गोविन्दराव, मानिकजी और फतहसिंह गद्दी के लिए लड़ रहे थे। अंग्रेजों ने फतहसिंहजी से, जो सयाजी-

राव के पक्ष में था, सन्धि कर ली। अंग्रेजी सेना की सहायता से सयाजी राव बड़ौदा की गद्दी पर बैठा। उसने भड़ौंच इत्यादि कई परगने, जिनकी वार्षिक आय कई लाख रुपये थी, कम्पनी को दे दिये। इस सन्धि से दूसरा लाभ यह हुआ कि गायकवाड़ वंश, जो मरहठा संघ का सदस्य था, उससे पृथक् हो गया और गुजरात में अंग्रेजों के पैर जम गये।

वारेन हेस्टिंग्स की नीति :—राघोबा को पेशवा बनाने में सहायता प्रदान कर अंग्रेजों ने पूना सरकार को अपना शत्रु बना लिया था। उनके गुल्लचर मांस्टन का अब फिर पूना में घुस सकना असम्भव प्रतीत होता था। ऐसी विकट परिस्थिति में वारेन हेस्टिंग्स को एक तरकीब सूझी। उसने अपने एक विशेष दूत कर्नल अपटन को कलकत्ते से पूना भेजा और उसके द्वारा पूना दरबार को सूचना दी कि बम्बई कौंसिल ने राघोबा से जो सन्धि की है अथवा उसकी सहायता की है, वह बिना मेरी सम्मति के की गई है। इसलिए वह सन्धि अथवा सहायता सर्वथा अनुचित है। अंग्रेज सरकार न राघोबा को सहायता प्रदान करना चाहती है न मरहठों से लड़ना। अंग्रेज सरकार को बम्बई कौंसिल की इस अनुचित कार्यवाही पर बहुत दुःख है। साथ ही साथ उसने बम्बई गवर्नर को आज्ञा दी कि वह तुरन्त युद्ध बन्द कर दे। परन्तु वास्तव में हेस्टिंग्स ने कर्नल अपटन को पूना दरबार तथा राघोबा दोनों को बनाये रखने का आदेश दिया। और दोनों के ही नाम पत्र दिये, जिससे कि वह परिस्थिति के अनुसार लाभ उठा सके।

वारेन हेस्टिंग्स ने अपटन को यह आज्ञा भी दी कि वह बम्बई सरकार को कार्यवाही पर दुःख प्रदर्शित करे तथा पूना दरबार के प्रति अत्यन्त सम्मान व श्रद्धा प्रकट कर सालान्त और बेसीन को अपने अधिकार से न निकलने दे। परन्तु पूना दरबार में नाना फड़नवीस जैसे नीतिज्ञ मौजूद थे, वह सब बातों को भली भाँति समझते थे। इसलिए वह किसी प्रकार उक्त स्थानों को अंग्रेजों को देने के लिए तैयार न हुए।

हेस्टिंग्स ने जब यह देखा कि शान्ति तथा नीति-कुशलता से उद्देश्य-पूर्ति की कोई आशा नहीं तो अपटन के पूना दरबार में रहते हुए ही युद्ध की तैयारी आरम्भ कर दी जिससे अचानक आक्रमण कर मरहठों को अपनी शक्तों को मानने के लिए बाध्य करें। कलकत्ता और मद्रास दोनों स्थानों पर सैनिक तैयारियाँ आरम्भ हो गईं। हेस्टिंग्स ने मरहठा-संघ में भी फूट डालने का

प्रयत्न किया। हैदराबली और निज़ाम से भी उसने पत्रव्यवहार प्रारम्भ कर दिया।

पुरन्धर की संधि —: नाना फडनवीस को इन सब बातों की सूचना मिलती रही और कुछ सोच-समझकर १७७६ ई० में उसने पुरन्धर के स्थान पर पूना दरबार तथा कम्पनी में सन्धि कर ली। जिसके अनुसार अंग्रेजों ने वचन दिया कि हम फिर कभी राघोबा को सहायता न देंगे। बेसीन का किला पूना दरबार को लौटा देंगे और सदैव उससे मैत्रिक सम्बन्ध बनाये रखेंगे। सालसट भड़ौच तथा उसका निकटवर्ती प्रदेश राघोबा को जागीर के रूप में दे दिया गया और कम्पनी का एक दूत अथवा वकील पूना दरबार में रहने लगा।

संधि की अवहेलना :—कम्पनी के डाइरेक्टरों को जब इस संधि की सूचना मिली तो उन्होंने तुरन्त गवर्नर जनरल को लिखा कि बेसीन जैसे महत्वपूर्ण स्थान को छोड़ना मूर्खता होगी और उसे आदेश दिया कि संधि को तोड़ कर युद्ध अथवा किसी नीति द्वारा इस टांग को अपने अधिकार से निकालने दें, कैसी विचित्र बात थी कि सन्धि-पत्र की स्याही सूखने भी न पाई थी कि उसे तोड़ने का कुचक्र प्रारम्भ हो गया।

हेस्टिंग्स की सैनिक तैयारियाँ :—ज्यों ही कर्नल अपटन सन्धि करके कलकत्ता पहुँचा। वारेन हेस्टिंग्स ने संचालकों की आज्ञापूर्ति के लिए प्रसिद्ध अंग्रेज राजदूत मांस्टन को पूना भेजा। उसने वहाँ जाकर पूना दरबार में फूट फैला दी। वह फूट इतनी बढ़ गई कि नाना फडनवीस को कार्य से उदासीन हो पुरन्धर चला आना पड़ा। उसकी अनुपस्थिति से लाभ उठा कर मांस्टन ने तुरन्त बम्बई कौंसिल को लिखा कि वह शीघ्रातिशीघ्र एक सेना राघोबा को पेशवा की गद्दा पर बैठाने के लिए पूना भेज दे। फलस्वरूप बम्बई में सैनिक तैयारियाँ प्रारम्भ हो गईं। ज्यों ही वारेन हेस्टिंग्स को इस स्थिति की सूचना मिली त्यों ही उसने एक विशाल सेना बंगाल से पूना के लिए भेज दी। एक ओर मद्रास, बंगाल और बम्बई में पूना पर आक्रमण करने के लिए सैन्य संगठन हो रहा था। दूसरी ओर मांस्टन पूना दरबार में मन्त्रिमण्डल के सदस्यों को प्रत्येक प्रकार यह विश्वास दिला रहा था कि अंग्रेज पुरन्धर की संधि पर पूर्णतया अटल हैं। मांस्टन का यह व्यवहार तथा कम्पनी की यह कपटपूर्ण नीति अमानुषिकता की चरम सीमा

थी, परन्तु इसी बीच किसी प्रकार पूना दरबार को मांस्टन की चाल का कुछ आभास मिल गया। परिणाम स्वरूप वह स्थिति पर विजय प्राप्त करने के लिए सिहर उठा। नाना फड़नवीस को शीघ्र पुरन्धर से बुलाया गया। उसने शीघ्र ही पूना दरबार को एक सूत्र में संकलित कर दिया।

इधर वारेन हेस्टिंग्स ने जो सेना पूना के लिए भेजी उसे भौसला, होल्कर और सिन्धिया इत्यादि नरेशों के प्रदेशों से होकर जाना था। यह मरहठा संघ के सदस्य थे। उनसे अपने उद्देश्य को गुप्त रखने के लिए हेस्टिंग्स ने उन्हें प्रगट किया कि कम्पनी के पश्चिमी तटवर्ती प्रदेश पर फ्रांसीसी आक्रमण होने वाला है, यह सेना उसकी रक्षा के लिए भेजी जा रही है। इसके अतिरिक्त उसने मूदाजी भौसला तथा महादाजी सिन्धिया को प्रलोभन दे पेशवा-संवर्ष तटस्थ रखना चाहा।

बम्बई की पराजय तथा सन्धि :—दूसरी ओर बम्बई की सेना बंगाल की बिना प्रतीक्षा किये ही राघोबा सहित पूना की ओर चल दी और बिना किसी विशेष आपत्ति के पूना से १८ मील की दूरी पर ताले गाँव तक पहुँच गई। यहाँ सिन्धिया तथा होल्कर के नेतृत्व में एक विशाल मरहठा सेना ने उसे तीन ओर से घेर लिया। अब अंग्रेजों को अपनी विकट स्थिति का अनुभव हुआ। वह इतने भयभीत हुए कि उन्हें तुरन्त पीछे हटने के अतिरिक्त और कोई चारा ही दिखाई न दिया। अपना गोला-बारूद तथा तोपें एक तालाब में फेंक वह भाग निकले। मरहठा सेनापतियों ने एक ओर से आगे बढ़ उन्हें पीछे हटने से रोका। अब अंग्रेजी सेनायें चारों ओर से घिर गईं। फलस्वरूप एक घोर संग्राम हुआ, जिसमें अंग्रेजी सेना पूर्णतया परास्त हुई। उसके तमाम अस्त्र छीन लिये गये। अब अंग्रेजों ने दया की प्रार्थना की। मरहठों ने शरणागत शत्रु के साथ दया का बर्ताव करने की परिपाटी कायम रखी और दोनों पक्षों में सन्धि हो गई। जिसमें अंग्रेजों ने वचन दिया कि राघोबा को तुरन्त दरबार के हवाले कर दिया जावेगा। भदौच, सूरत आदि जितने मरहठों के प्रदेशों पर कम्पनी ने अपना अधिकार जमा रक्खा है वह तुरन्त वापिस कर दिये जावेंगे। जो सेना बंगाल से आ रही है उसे तुरन्त वापिस लौटने का सन्देश पूना दरबार के एक विशेष दूत द्वारा फौरन भेज दिया जावेगा और जब तक यह सब

शर्तें पूरी न हों दो अंग्रेज अफसर मरहटों के पास में बन्धक के रूप में रहेंगे ।

कर्नल गोडार्ड की अवहेलना :—सन्धिपत्र पर दोनों ओर से सेनापतियों के हस्ताक्षर हो गये । दो अंग्रेज अफसर तथा राघोबा महादाजी सिन्धिया के सुपुर्द कर दिये गये और पूना के एक विशेष दूत को कर्नल गोडार्ड के नाम पत्र लिख कर दे दिया गया । परन्तु वारेन हेस्टिंग्स को जब इस अपमानजनक हार की सूचना मिली तो उसने तुरन्त कर्नल गोडार्ड को लिखा कि वह उस सन्धि की कोई परवाह न करते हुए आगे बढ़ता रहे । दूसरी ओर उसने मरहटा सेनापति महादाजी सिन्धिया से गुप्त बातचीत प्रारम्भ कर दी । उसने महादाजी को यह लालच दिया कि वह यूरोपियन कारीगरों तथा यूरोपियन अफसरों की सहायता से नये अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित ऐसी संगठित सेना तैयार करा देगा कि उसके द्वारा वह सम्पूर्ण भारतवर्ष पर विजय प्राप्त करने में सफल हो जायेगा । अदूरदर्शी सिन्धिया उसकी बातों में आ गया और अंग्रेजों, राघोबा तथा सिन्धिया में गुप्त सन्धि हो गई जिसके अनुसार महादाजी को पूना के नाबालिग पेशवा का दीवान बनाने का वचन दिया गया । परिणाम-स्वरूप स्वार्थान्ध महादाजी ने दोनों अंग्रेज बन्धकों तथा पेशवा को चुपके से छोड़ दिया । यद्यपि उसने पूना दरबार पर यही प्रगट किया कि वह चालाकी से निकल भागे हैं । इसी बीच गोडार्ड निरन्तर आगे बढ़ता हुआ गुजरात पहुँच गया ।

गुजरात की लूट :—नाना फड़नवीस को महादाजी की गुप्त संधि का तो कुछ पता न चला परन्तु अंग्रेजों का विश्वासघात तथा उनकी दुरंगी चालें उसे स्पष्ट दिखाई देने लगीं । उसने तुरन्त मूदाजी भौंसला को बंगाल पर तथा महादाजी सिन्धिया को गुजरात में कर्नल गोडार्ड पर आक्रमण करने की आज्ञा दी, परन्तु भौंसला और सिन्धिया को वारेन हेस्टिंग्स ने भूठी आशाओं के नशे में चूर कर रक्खा था । इसलिए इन दोनों ने अपने देश के साथ विश्वासघात कर आक्रमण क, केवल दिखावा मात्र किया । गोडार्ड ने उधर गुजरात में पेशवा के प्रदेश पर धावे मारना तथा वहाँ की प्रजा को लूटना व नष्ट करना आरम्भ कर दिया । नाना फड़नवीस को जब महादाजी के विश्वासघात तथा प्रजा की इस लूट-मार का पता चला तो उसने होल्कर को एक सेना ले गुजरात भेजा, परन्तु वह अकेला गोडार्ड को

परास्त न कर सका ; क्योंकि मरहटा-संघ के तीन सदस्य अर्थात् गायकवाड़, सिन्धिया और भोंसला उससे असहयोग कर रहे थे ।

इसी बीच महादाजी ने गोडार्ड को गुप्त संधि की शर्तें पूरी करने को लिखा किन्तु अब अंग्रेजों का मतलब निकल चुका था । इस लिए गोडार्ड ने उस संधि को स्वीकार करने से मना कर दिया । इससे सिन्धिया को बहुत निराशा तथा दुःख हुआ । इसी बीच जब उसकी शक्ति तोड़ने के लिए गोडार्ड ने एक दिन अचानक उसकी सेना पर आक्रमण कर दिया तो उसके आश्चर्य की सोमा न रही और उसे गुजरात से भागना पड़ा । अब गोडार्ड पूना पर आक्रमण की तैयारी करने लगा ।

भारतीय एकीकरण का प्रयत्न :—मूदाजी भोंसला तथा महादाजी के विश्वासघात और होल्कर की असफलता को देख पूना के दीवान नाना फड़नवीस को बहुत दुःख हुआ । उसे दिखाई देने लगा कि धीरे २ अंग्रेज जाति समस्त भारत पर छा जायेगी । इसलिए उसने भारतवर्ष के मुख्य २ नरेशों तथा सम्राट् से इन विदेशी लोगों के विरुद्ध मोर्चा खोलने की प्रार्थना और नाना निजाम तथा हैदराबाद तीनों में यह तय पाया कि वह तीनों एक साथ अपने आस-पास के अंग्रेजी प्रदेश पर आक्रमण करें । हैदराबादी के युद्ध इसी योजना के परिणाम थे । परन्तु निजाम की दुर्बलता तथा मरहटा संघ के सदस्यों के विश्वासघात ने इसे फलीभूत न होने दिया ।

गोडार्ड की पराजय :—जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है गोडार्ड गुजरात से सिन्धिया को निकाल कर पूना पर आक्रमण करने के लिए चल दिया किन्तु वह पूना के निकट भी न पहुँच पाया था कि १७८१ ई० में भोस्वाट के स्थान पर उसे मरहटा सेना ने घेर लिया और उसे पराजित हो पीछे भागना पड़ा । इस हार ने अंग्रेजों की कमर तोड़ दी । हैदराबादी दूसरी ओर उन पर विजय पर विजय करता जा रहा था ।

सालवाई की सन्धि :—वारेन हेस्टिंग्स को अब विश्वास हो गया कि नाना फड़नवीस के होते हुए उसके प्रयत्न सफल नहीं हो सकते । उसने लाचार होकर महादाजी सिन्धिया से फिर एक गुप्त सन्धि की और उसी के द्वारा नाना से सन्धि की बातचीत प्रारम्भ की और अनेक शर्तें ले इस बात का विश्वास दिलाया कि जो सन्धि इस बार होगी वह उस पर अटल

रहेंगे। कई महीने तक पत्र-व्यवहार चलता रहा। मई सन् १७८२ ई० को पूना दरबार तथा कम्पनी के बीच सन्धि की शर्तें तैयूँ कि पेशवा के जितने प्रदेश पर अंग्रेजों ने अधिकार कर लिया है वह सब वापिस दे दिया जावेगा। दूसरे, गायकवाड़ तथा गुजरात को ठोक वही स्थिति होगी जो अंग्रेजों के हस्तक्षेप से पहले थी। तीसरे, रावोवा को २५००० रुपया मासिक पेंशन देकर निश्चित स्थान पर रहने की आज्ञा दी जावेगी।

सन्धि की शर्तें तैयूँ हो गईं, परन्तु नाना फड़नवीस ने सात महीने तक उस पर हस्ताक्षर न किये; क्योंकि उसका मित्र हैदरअली अभी अंग्रेजों से लड़ रहा था। इसकी प्रत्येक विजय देश-प्रेमी नाना फड़नवीस के हृदय में हर्ष व उल्लास का संचार कर रही थी। उसके युद्ध-स्थल में रहते हुए नाना का अंग्रेजों से सन्धि करना विश्वासघात होता; क्योंकि उसके संकेत पर ही हैदरअली अंग्रेजों से युद्ध कर रहा था, परन्तु दिसम्बर के महीने में हैदरअली की मृत्यु हो गई। इससे नाना की अंग्रेजों को निकाल बाहर करने की आशायें टूट गईं। लाचार हो उसने सन्धि-पत्र पर हस्ताक्षर कर दिये। इस प्रकार प्रथम मरहटा युद्ध-समाप्त हुआ।

हैदरअली और नाना फड़नवीस :—नाना फड़नवीस अत्यन्त दूरदर्शी राजनीतिज्ञ था। वह अंग्रेजों की चालों और उनसे होनेवाली देश की हानियों को अच्छी तरह समझता था। वह हैदरअली के देश-प्रेम तथा वीरता को अच्छी तरह समझता था और उसे महत्वपूर्ण स्थान देता था। इसलिये १७८० ई० में उसने अपना एक राजदूत गणेशराव हैदरअली के पास भेजा। उसके प्रयत्नस्वरूप हैदरअली और नाना फड़नवीस में एक खास समझौता हो गया, जिसके अनुसार हैदरअली से वसूल होनेवाली चौथ की रकम बहुत कम कर दी गई, और हैदरअली ने वचन दिया कि अंग्रेजों को भारतवर्ष से निकालने में वह मरहटों की पूरी सहायता करेगा।

अंग्रेजों को जब इस सन्धि का पता लगा तो उन्होंने एक के बाद दूसरा राजदूत सन्धि के लिये उसकी सेवा में भेजा। हैदरअली ने अंग्रेज दूत 'ग्रे' को अंग्रेजों की दगाबाजी पर बड़ी लानत मलामत की।

द्वितीय मैसूर युद्ध :—१७६१ ई० में अंग्रेजों के साथ साथ कर्नाटक के नवाब मुहम्मदअली ने हैदरअली के साथ सन्धि की थी, जिसके

अनुसार यह तै हुआ था कि कर्नाटक का नवाब मैसूर का सामन्त समझा जावेगा और वह ६ लाख रुपया वार्षिक हैदरअली को खिराज स्वरूप देगा। कर्नाटक के मामले में अंग्रेज अत्यन्त हस्तक्षेप करते रहते थे, जिससे वहाँ की प्रजा बहुत दुखी तथा असन्तुष्ट थी। अब अंग्रेजों के बहकाने से कर्नाटक के नवाब मुहम्मदअली ने सन्धि की अवहेलना आरम्भ कर दी। इसलिये १७८० ई० में हैदरअली अपनी सेनासहित कर्नाटक पर चढ़ आया। अंग्रेजी सेनायें कर्नाटक की रक्षा के लिये पहले ही वहाँ पहुँची थी और जगह जगह पर मोर्चा लगाने को तैयार थी। हैदरअली ने अपनी सेना को कई भागों में विभक्त किया और एक भाग अपने अधीन, दूसरा अपने पुत्र टीपू के, तीसरा अपने छोटे बेटे करीम के, शेष अन्य योग्य हिन्दू तथा मुसलमान सेनापतियों के अधीन कर्नाटक के अनेक किले जीतने के लिये प्रत्येक दिशा में भेजे। कर्नाटक की चुटुध जनता ने प्रत्येक जगह उनका स्वागत किया। नवाब तथा अंग्रेजों की सेनायें प्रत्येक स्थान पर परास्त हुईं। स्वयं हैदरअली की सेना बढ़ते बढ़ते कर्नाटक की राजधानी अरकाट के निकट जा पहुँची और नवाब ने आगकर मद्रास में शरण ली। दूसरी ओर हैदरअली की सेना का एक भाग मद्रास के निकट जा पहुँचा। इससे अंग्रेज बहुत चिन्तित हुए। तुरन्त दो बड़ी सेनायें हैदरअली को परास्त करने के लिये तैयार हो गईं। इनमें से एक जनरल मनरो के अधीन मद्रास से, दूसरी कर्नल बैली की अध्यक्षता में गरटूर से कर्नाटक की रक्षा के लिये चली।

हैदरअली ने सबसे पहले टीपू को कर्नल बैली का सामना करने के लिये भेजा और थोड़े समय पश्चात् स्वयं भी उसकी सहायता के लिये चल दिया। मार्ग में १० सितम्बर १७८० ई० को पोलीलोर के स्थान पर घोर युद्ध हुआ। अंग्रेजी सेना पूर्णतया परास्त हुई। हजारों भारतीय सैनिक तथा सात सौ अंग्रेज मारे गये और स्वयं कर्नल बैली गिरफ्तार हुआ।

जनरल मनरो इस समय कांजीवरम् में था। विजयी हैदरअली उसकी ओर बढ़ा, परन्तु बैली की पराजय का हाल सुनकर इसका तथा इसकी सेना का साहस टूट गया और वह अपनी समस्त युद्ध-सामग्री एक तालाब में पेंक मद्रास भाग गया। हैदरअली ने इस प्रदेश पर अधिकार कर लिया, और उसे सुव्यवस्था प्रदान कर वह अर्काट की ओर बढ़ा। तीन महीने तक अर्काट का घेरा जारी रहा। अन्त में वह हैदर के अधिकार में आ गया।

बंगाल से सेना का आगमन :—जब कर्नल बैली के सर्वनाश, मनरो की भगदड़ और हैदरअली की विजय की सूचना बंगाल पहुँची तो- वारेन हेस्टिंग्स खवरा उठा। बंगाल इस समय भयंकर दुर्भिक्ष में जकड़ा पड़ा था, फिर भी उसने १५ लाख रुपये एकत्रित कर सर आयरकूट के अधीन एक बहुत बड़ी सेना बंगाल से खाना की जो नवम्बर सन् १७८१ ई० में मद्रास पहुँची। तीन महीने तक सर आयरकूट मद्रास में ही तैयारी करता रहा। इसके बाद वह हैदरअली का सामना करने के लिये आगे बढ़ा। यद्यपि पोर्नोयो तथा शोलिंगगढ़ में उसे सफलता प्राप्त हुई। दोनों जगह आयरकूट ने अत्यन्त लुकसान उठाया और उसे मद्रास लौटना पड़ा, अब बंगाल से और सैनिक सहायता आ पहुँची। परन्तु इसी बीच में फ्रान्सीसियों तथा अंग्रेजों में भी युद्ध प्रारम्भ हो गया। इससे हैदर की स्थिति और भी दृढ़ हो गई। 'आरनी' में फिर युद्ध हुआ।

आयरकूट इस बुरी तरह परास्त हुआ कि उसे अपनी जान बचाकर बंगाल लौट जाना पड़ा।

अब ऐसा प्रतीत होने लगा कि हैदरअली दक्षिण भारत से अंग्रेजों को निकाल बाहर कर देगा। नाना फड़नवीस इन सब घटनाओं को बड़ी उत्सुकता से देख रहा था और इसीलिये सालवाई की सन्धि पर हस्ताक्षर करने में टालमटोल कर रहा था कि यदि हैदरअली दक्षिण में पूर्णतया सफल हो जाये तो वह मरहटों को संघर्ष कर उन्हें उत्तरी भारत तथा बंगाल से निकाल बाहर करने का सफल प्रयास करे। ठीक इसी समय जब भारत के अन्दर स्वतन्त्रता और परतन्त्रता के इस द्वन्द्व-युद्ध को एशिया और योरोप की समस्त जाग्रत शक्तियाँ अत्यन्त उत्सुकता से देख रही थीं, जबकि हैदरअली का नाम सुनकर भारत के अंग्रेज चौंक पड़ते थे। ६ दिसम्बर सन् १७८२ ई० को अर्काट के किले में हैदरअली की मृत्यु हो गई। आरनी की विजय के बाद उसकी कमर में एक फोड़ा निकला जो हैदरअली का घातक सिद्ध हुआ। नाना फड़नवीस की आशाओं पर पानी फिर गया और भारतीय स्वतन्त्रता की स्वर्ण-कल्पना हवा हो गई। लाचार होकर उसने सालवाई की सन्धि पर दस्तखत कर दिये; परन्तु हैदरअली की मृत्यु अंग्रेजों के लिये जीवन-सन्देश थी।

युद्ध का अंत :—हैदर की मृत्यु के बाद उसका ज्येष्ठ पुत्र टीपू

सुल्तान गद्दी पर बैठा। मैसूर में अपनी सत्ता को दृढ़ बनाने के लिये उसे काफी ध्यान देना था। फिर भी उसने बड़ी सफलता से युद्ध जारी रखी।

मंगलौर की सन्धि :—अब अंग्रेजों तथा टीपू दोनों युद्ध बन्द करने के लिए उत्सुक थे। इसलिए सन् १७८३ ई० में जब अंग्रेजों ने टीपू के सम्मुख सन्धि का प्रस्ताव रखा तब उसने उसे स्वीकार कर लिया, और मार्च १७८४ ई० को मंगलौर के स्थान पर सन्धि हो गई; जिसके अनुसार अंग्रेजों को वचन दिया गया कि हम फिर कभी मैसूर के मामले में हस्तक्षेप न करेंगे। टीपू और उसके उत्तराधिकारियों के साथ सदा मित्रता का व्यवहार रखेंगे और उनके शत्रुओं के विरुद्ध सदा उन्हें सहायता देने को तैयार रहेंगे। इस वायदे पर टीपू ने समस्त जीता हुआ प्रदेश अंग्रेजों को लौटा दिया।

हैदरअली का चरित्र :—हैदरअली ने एक साधारण घराने में जन्म लिया था। एक साधारण सिपाही से उन्नति करते-करते वह एक विशाल राज्य का स्वामी हो गया। यह उन्नति उसकी वीरता तथा सैनिक योग्यता को पूर्णतया प्रमाणित करती है। अपने बाहुबल से उसने मैसूर साम्राज्य का विस्तार अस्सी हजार वर्ग मील कर लिया था। अपनी वीरता से उसने अंग्रेज सेनापतियों पर विजय प्राप्त की। उसकी युद्धकला तथा रणकुशलता की उसके शत्रुओं ने मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। हिम्मत का वह इतना घनी था कि कोई पराजय अथवा परिस्थिति उसे विचलित नहीं कर सकती थी। रणस्थल पर भी कई बार ऐसे स्थल आये, जब उसके मित्र उससे विश्वासघात कर बैठे। उसके योरुपियन पदाधिकारी उसके विरुद्ध षड्यन्त्र में फँसने लगे, फिर भी उसने साहस तथा धैर्य से काम लिया। वह एक विशाल स्थल-सेना स्थायी रूप से रखता था और उसे सदैव युद्ध-सामग्री तथा अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित कर युद्ध के लिए तैयार रखता था। हैदरअली अपने समय का अकेला भारतीय नरेश था, जिसने अपने समुद्र-तट की रक्षा के हेतु जहाजी बेड़ा, जिसके प्रत्येक जहाज़ पर तोपें लगी हुई थीं, रखा हुआ था। हैदरअली बिल्कुल अशिक्षित था, यहां तक कि वह अपने हस्ताक्षर भी न कर सकता था। तो भी उसकी बुद्धिमत्ता, दूरदर्शिता, नीतिज्ञता और शासन-कुशलता अद्वितीय थी। उसकी बुद्धि विलक्षण थी। उसके बल पर वह एक ही समय कई कार्य कर सकता था। धार्मिक पक्षपात उसे छू तक न

गया था। उसके कई मन्त्री हिन्दू थे और उन पर वह पूर्ण विश्वास करता था। शृंगेरी मठ के अध्यक्ष जगद्गुरु शंकराचार्य को वह बड़े आदर की दृष्टि से देखता था। वह स्वयं हिन्दू त्यौहार मनवाता था।

हैदरअली अत्यन्त न्यायप्रिय शासक था। उसके म्याय की बहुत-सी किंवदन्तियाँ दक्षिण में प्रचलित हैं। हैदरअली अपनी प्रजा के दुःख-सुख तथा समृद्धि का विशेष ध्यान रखता था। उद्योग धन्यों तथा खेती-बाड़ी के प्रोत्साहन के लिए वह सहायता प्रदान करता था।

हैदरअली अत्यन्त सुन्दर तथा सुडौल शरीर का व्यक्ति था। वह अत्यन्त फुर्तीला तथा बलिष्ठ पुरुष था। घोड़े की सवारी का उसे बहुत शौक था। यह अत्यन्त आखेट-प्रिय था। वह विशेषतया शेर का शिकार करता था। उसका निशाना बहुत अच्छा था। उसकी सहनशीलता का वर्णन नहीं किया जा सकता। वह कई-कई रातें जंगल में वर्षा और सर्दी के अन्दर घोड़े की पीठ पर रुज़ार देता था।

अंग्रेजों का वह कट्टर शत्रु था। यदि वह कुछ दिन और जीवित रहता तो आंगामी भारतीय इतिहास की रूप-रेखा कुछ और ही होती। भारतीय स्वाधीनता-समर के अमरशहीदों में हैदरअली का नाम सदैव प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त करता रहेगा।

पिट का इण्डिया बिल :—रेग्यूलेटिंग ऐक्ट से कम्पनी के कामों में इंग्लैण्ड की पार्लियामेण्ट का हस्तक्षेप आरम्भ हुआ। यह हस्तक्षेप धीरे-धीरे बढ़ता गया। समय-समय पर कम्पनी के कार्यों में अपना प्रभुत्व जमाने के लिए इंग्लैण्ड की पार्लियामेण्ट नियम बनाती रही। रेग्यूलेटिंग ऐक्ट के दोषों को दृष्टि में रखते हुए १७८४ ई० में इंग्लैण्ड के प्रधान मन्त्री पिट ने एक बिल पास किया, जो पिट के इण्डिया बिल के नाम से पुकारा जाता है। इसके द्वारा हिस्सेदारों और संचालकों की सभाओं पर अधिकार रखने के लिए इंग्लैण्ड में ६ पदाधिकारियों का एक बोर्ड आफ कंट्रोल बनाया गया, जिसके सदस्य इंग्लैण्ड का माल-मन्त्री, एक अन्य राजकीय मन्त्री तथा चार प्रिवी कौंसिल के मेम्बर होते थे। इस बोर्ड के अधिकार बहुत अधिक थे। यह कम्पनी के आर्थिक, राजनैतिक इत्यादि सब मामलों की देख-रेख कर सकती थी। यहाँ तक कि गवर्नर जनरल कमाण्डर इन-चीफ

तथा गवर्नरों की नियुक्ति भी इसके परामर्श से होती थी। गवर्नर जनरल की कौंसिल के सदस्यों की संख्या चार के बदले तीन कर दी गई और गवर्नर जनरल को एक अतिरिक्त वोट देने का अधिकार दिया गया। गवर्नर जनरल और उसकी कौंसिल का प्रभाव बम्बई और मद्रास पर और अधिक बढ़ा दिया गया, और यह बात पूर्णतया स्पष्ट कर दी गई कि यह दोनों गवर्नर बिना गवर्नर जनरल की अनुमति के भारतीय राजा अथवा नवाब से सन्धि या युद्ध न करेंगे। इस कानून के पश्चात् वारेन हेस्टिंग्स ने त्यागपत्र दे दिया और वह इंग्लैंड चला गया।

हे स्टिंग्स पर मुकदमा :— सन् १७८४ ई० में हेस्टिंग्स इंग्लैंड लौट गया। उसके अनुचित कार्यों तथा अन्यायपूर्ण साधनों से रुपया एकत्रित करने की कथाएँ पहले ही इंग्लैंड पहुँच चुकी थीं। इनसे जुब्ब होकर उसके विरुद्ध मुकदमा चलाया गया जो तीन वर्ष तक चलता रहा। इसमें हेस्टिंग्स के कार्यों की बहुत आलोचना की गई, परन्तु वह अन्त में मुक्त कर दिया गया।

चौदहवाँ अध्याय

मैसूर-विजय का सूत्रपात

लार्ड कार्नवालिस तथा सर जान शोर (१७८४-६६ ई०)

सर जॉन मैकफर्सन ;— वारेन हेस्टिंग्स के चले जाने के बाद कलकत्ता कौंसिल का प्रमुख सदस्य सर जान मैकफर्सन कुछ दिनों के लिए गवर्नर जनरल नियुक्त हुआ। उसके समय कोई विशेष घटना न हुई; किन्तु उसने भी क्लाइव तथा हेस्टिंग्स की छल-कपट, लूट-खसोट तथा रिश्वत की नीति का अनुकरण किया। भारत में अंग्रेजी राज्य के निर्माणकर्ता क्लाइव तथा हेस्टिंग्स की भाँति मैकफर्सन का चरित्र रिश्वतों तथा चालाकियों की एक रामकहानी है। भारत से लौटने पर इंग्लैंड में रिश्वत ही के अभियोग में उस पर तीन हजार पौंड जुर्माना दण्ड मिला। उक्त पुरुषों के आचरण पुकार-पुकार कर कह रहे हैं कि भारत में अंग्रेजी राज्य की नींव किस विचित्र सामग्री पर खड़ी की गई थी। संसार के इतिहास में इस प्रकार के थोड़े ही उदाहरण मिलेंगे।

लार्ड कार्नवालिस का आगमन :—वारेन हैस्टिंग्स के बाद एक वर्ष आठ महीने तक मैकफर्सन ने शासन किया। इसके बाद सितम्बर सन् १७८६ ई० में लार्ड कार्नवालिस भारत का स्थायी गवर्नर जनरल होकर आया। कार्नवालिस एक परिश्रमी तथा समझदार मनुष्य था। प्रबन्धक के साथ-साथ अनुभवी सेनाध्यक्ष भी था। वह आयरलैंड के उच्चवंश में से था और इंगलैंड के बड़े-बड़े आदमियों पर उसका प्रभाव था। इंगलैंड का प्रधानमन्त्री पिट उसे बहुत चाहता था। बोर्ड आफ कंट्रोल के प्रधान से उसकी मैत्री थी। इन कारणों से उसे कई महत्वपूर्ण विशेषाधिकार प्राप्त हुए। कौंसिल के सभापति की दृष्टि से उसे एक विशेष वोट देने का अधिकार दिया गया। विशेष परिस्थिति में उसे कौंसिल की सम्मति के विरुद्ध कार्य करने का अधिकार दे दिया गया। वह भारत का प्रधान सेनापति भी बना दिया गया। इस प्रकार विशेष अधिकारों से सुसज्जित कार्नवालिस भारत में आया।

तृतीय मैसूर युद्ध के कारण :—कार्नवालिस के समय की सबसे महत्वपूर्ण घटना मैसूर का दूसरा युद्ध है। सन् १७८४ ई० में कम्पनी और हैदरअली के पुत्र तथा उत्तराधिकारी टीपू से संधि हुई; जिसमें कम्पनी ने टीपू सुल्तान को मैसूर का अधिपति स्वीकार कर लिया था और वचन दिया था कि हम कभी मैसूर के मामलों में हस्तक्षेप नहीं करेंगे और टीपू के साथ सदा मित्रता रखेंगे। परन्तु हैदरअली के हाथों अंग्रेजों को जो लज्जाजनक हार पर हार उठानी पड़ी, वह उनके हृदय में काँटे की तरह खटक रही थी। सैन्य संगठन भी जो वह कुशल फ्रांसीसी अफसरों के नेतृत्व में कर रहा था, अंग्रेजों को सह्य न था। उससे अंग्रेजों को इतना डर लगता था कि अंग्रेज माताएँ टीपू का नाम लेकर अपने बच्चों को डरा दिया करती थीं, इसलिए अंग्रेज टीपू से युद्ध करने के इच्छुक थे, उन्होंने सैनिक तैयारियाँ प्रारम्भ कर दीं। स्थिति को दृढ़ बनाने के लिए निज़ाम ने कार्नवालिस से पत्र-व्यवहार प्रारम्भ कर दिया और उसे वचन दिया कि यदि वह उनकी सहायता करेगा तो वह कर्नाटक का बालाघाट प्रान्त, जो उस समय टीपू के अधिकार में था, उसे दे देंगे। कुछ सरहद्दी प्रदेशों के विषय में टीपू तथा अंग्रेजों में पहले ही कटुता आ चुकी थी। इसलिए टीपू के विरुद्ध निज़ाम में तथा अंग्रेजों में सन्धि हो गई, जिसके अनुसार एक दूसरे ने एक दूसरे के शत्रु के विरुद्ध

१३६

सहायता का वचन दिया। लार्ड कार्नवालिस ने मरहटों को भी कुछ समय के लिए अपनी ओर मिलाने का प्रयत्न किया, क्योंकि उनका भी टीपू से सीमावर्ती प्रदेश के बारे में झगड़ा था। जब टीपू को कार्नवालिस की इन कूटनीतिक चालों का पता चला तो उसने मरहटों की सफाई करनी चाही, परन्तु कार्नवालिस ने पूना के अंग्रेज रेजीडेंट को हर प्रकार इन प्रयत्नों को विफल बनाने के लिए लिखा। परिणामस्वरूप टीपू सफल न हो सका, और उसके बदले अंग्रेजों तथा पूना दरबार में टीपू के विरुद्ध सन्धि हो गई, जिसके अनुसार तै हुआ कि टीपू से जीता हुआ प्रदेश कम्पनी, मरहटों तथा निज़ाम में बराबर बाँटा जायगा। पूना दरबार का इस प्रकार एक देशी नरेश के विरुद्ध अंग्रेजों से मित्रता करना अत्यन्त अवांछनीय था। नहीं कह सकते कि नाना फडनवीस उस समय पूना दरबार में मौजूद था, या नहीं और यदि था, तो सम्भव है कि उसका प्रभाव कुछ कम हो गया हो। जहाँ तक निज़ाम का सम्बन्ध है उसका आचरण सदैम ही विश्वासवाक रहता था।

युद्ध का बहाना :—जब तमाम तैयारियाँ हो गईं तो कार्नवालिस को केवल एक बहाना ढूँढना बाका रह गया, जो शोभ ही मिल गया। द्रावणकोर का राजा अंग्रेजों का मित्र था और उसमें और टीपू में कुछ दिन से झगड़ा चला आ रहा था। यह झगड़ा पत्र-व्यवहार द्वारा शान्तिपूर्वक तै हो सकता था; परन्तु [कार्नवालिस, जो उपरोक्त तैयारी के बाद किसी बहाने मात्र से ही टीपू पर आक्रमण करने को तैयार बैठा था, यह न चाहता था। उसने इस झगड़े की आड़ ले द्रावणकोर के राजा को सहायता के नाम पर युद्ध छेड़ दिया। परन्तु जिस द्रावणकोर के नाम पर युद्ध छिड़ा था, उसका फिर सन्धि में कहीं ज़िक्र भी न आया।

युद्ध :—सन् १७६० ई० में एक सेना मद्रास से जनरल 'मीडोज़' के नेतृत्व में मैसूर पर आक्रमण करने के लिए भेजी गई। परन्तु उसे पूर्णतया परास्त होकर नाकाम वापस लौटना पड़ा। 'मीडोज़' की इस अपमानजनक हार को सुन कर कार्नवालिस स्वयं एक सेना ले मैसूर की ओर बढ़ा। निज़ाम और मरहटों की सेनायें भी अब मैसूर पहुँच चुकी थीं। धन का लोभ देकर कार्नवालिस ने टीपू के कुछ योरुपियन अफसरों को भी अपनी ओर तोड़ लिया। एक साथ तीनों मोर्चों पर युद्ध-संचालन तथा अपने ही सेनापतियों में कुछ के शत्रु के साथ मिल जाने ने टीपू को पंगु कर दिया।

फल यह हुआ कि टीपू को हार खानी पड़ी। बंगलौर पर अंग्रेजों का अधिकार हो गया। बंगलौर-विजय के बाद कार्नवालिस ने मैसूर की राजधानी श्रीरंगमपट्टम पर चढ़ाई की। यह देख टीपू ने कार्नवालिस के पास सन्धि-प्रस्ताव भेजा; परन्तु कार्नवालिस ने उसे अस्वीकार कर दिया। लूट के लोभ तथा यश की इच्छा ने उसे अन्धा कर रखा था। लाचार हो टीपू को युद्ध जारी रखना पड़ा। कभी अंग्रेजों की तो कभी टीपू की विजय होती रही। इसी बीच निज़ाम तथा मरहठा सेनायों भी मैसूर के बहुत-से भाग पर अधिकार करने में सफल हुईं और वे श्रीरंगमपट्टम में अंग्रेजी सेना से जा मिलीं। यह देख टीपू बहुत निराश हो गया। उसने फिर सन्धि-प्रस्ताव भेजा। कार्नवालिस अब भी सन्धि के लिए तैयार न था, परन्तु जब नागा फड़नवीस ने उस पर बहुत ज़ोर दिया तो उसे सन्धि करनी पड़ी, क्योंकि वह मरहठों की इच्छा के विरोध का साहस न कर सकता था।

श्रीरंगपट्टन की सन्धि :—२३ फरवरी सन् १७६८ ई० को दोनों दलों के बीच सन्धि हो गई; जिसके अनुसार टीपू के राज्य का आधा भाग कम्पनी, निज़ाम तथा मरहठों को मिल गया, जो उन्होंने बराबर २ बाँट लिया। इसके अतिरिक्त युद्ध का खर्चा पूरा करने के लिए उसने तीन करोड़ तीस हजार रुपया दण्डस्वरूप देने का वचन दिया, जिसमें डेढ़ करोड़ रुपया तो उसने उसी समय दे दिया और शेष रुपयों की ज़मानत में उसने अपने दो प्राणप्रिय पुत्रों को बन्धक के रूप में कार्नवालिस के हवाले कर दिया। इस प्रकार मैसूर का तृतीय युद्ध समाप्त हुआ। टीपू को इससे इतना दुख हुआ कि उसने सब आराम पर लात मार दी और अपने अपमान का बदला लेने की शपथ ले ली।

कार्नवालिस तथा अवध :—जैसा कि वारेन हेस्टिंग्स के समय वर्णन किया जा चुका है, कम्पनी की एक प्रियाल सेना, जिसके सब अफसर अंग्रेज थे, अवध में छोड़ दी गई थी। इसका सब खर्च, जो लगभग पचास लाख रुपया वार्षिक था, नवाब को देना पड़ता था। हेस्टिंग्स ने यह वचन दिया कि जब इस सेना की आवश्यकता न रहेगी, तब यह सेना वापस बुला ली जायगी। नवाब ने अब उस सेना को वापस बुलाने के लिए कार्नवालिस को लिखा, परन्तु कार्नवालिस ने सेना हटाने से साफ इन्कार कर दिया। इस प्रकार साम्राज्यलिप्सा के शिकार ब्रिटिश गवर्नर जनरल नवाब

के ही रुपये से उसे निरन्तर पतनावस्था की ओर ले जाते रहे ; क्योंकि इसी सेना के बल पर किसी न किसी दिन उसे राज्य से पृथक कर अवध ब्रिटिश साम्राज्य में मिलाया जाने को था ।

कार्नवालिस के अन्य सुधार:—कार्नवालिस ने भारत आकर देखा कि कम्पनी के सब पदाधिकारी प्रायः रिश्वतखोर हैं। उनके इस आचरण की विवेचना कर वह इस परिणाम पर पहुँचा कि वेतन की कमी रिश्वत का मुख्य कारण है। इसलिये उसने बोर्ड आफ कण्ट्रोल तथा संचालकों से अनुरोध कर कम्पनी के नौकरों का वेतन बढ़ा दिया। कार्नवालिस प्रत्येक महत्वपूर्ण पद पर अंग्रेजों के नियुक्त करने के पक्ष में था। उसने नियम बना दिया कि छोटी छोटी नौकरियों के अतिरिक्त कोई बड़ी नौकरी किसी भारतीय को न दी जाय। इस प्रकार भारतीय पूंजी के बल पर उसने अनेकों अंग्रेजों के शानदार जीवन की व्यवस्था की।

उसने कलकत्तों के पास केवल मालगुजारी का काम रहने दिया। दीवानी मुकदमे तै करने के लिये उसने प्रत्येक जिले में एक अंग्रेज जज नियत किया। दीवानी की अपीलें सुनने के लिए उसने पटना, ढाका, मुर्शिदाबाद और कलकत्ते में अलग अलग न्यायालय स्थापित किये। इन्हीं के जज अपने हल्के में घूमकर फौजदारी की अपीलें भी सुनते थे। इस प्रकार घूमने के कारण यह न्यायालय सरकिट न्यायालय कहलाते थे। उक्त दोनों प्रकार के न्यायालयों के फौजदारी व दीवानी तथा मुकदमों की अपीलें कलकत्ता-स्थित सदर दीवानी तथा सदर निज़ामत अदालत में सुनी जाती थीं। कार्नवालिस के समय से इन दोनों का प्रधान गवर्नर जनरल होने लगा। कार्नवालिस ने सब कानूनों को संकलित करके एक कोड में एकत्रित कराया, जो कार्नवालिस-कोड के नाम से प्रसिद्ध है। न्यायालयों में वकीलों की व्यवस्था की गई जो पक्ष-विपक्ष के लिये कानून की व्याख्या करते थे। इस प्रकार आधुनिक न्याय-प्रणाली की रूप-रेखा तैयार हुई। परन्तु इससे ग्राम-पंचायत व्यवस्था का, जिनके द्वारा सीधा सच्चा और सस्ता न्याय प्राप्त होता था, सर्वथा नाश हो गया। प्राचीन-काल से भारतवर्ष में पंचायत-मर्यादा थी। पंचायत में ग्राम के प्रभावशाली मनुष्य बिना पैसे ईमानदारी से स्थानीय मामलों का निबटारा करते थे। इन पंचायतों के कार्य की प्रशंसा सामयिक यूरोपियन यात्रियों ने भी की है। पाँच पंच तहाँ परमेश्वर

तथा अन्य भारतीय लोकोक्तियाँ इनकी ईमानदारी की प्रतीक हैं। कार्न-वालिस ने अपनी न्याय-व्यवस्था में इन्हें कोई स्थान न दे इन पर वज्रपात किया, अतः वर्तमान न्यायप्रणाली, जिसमें छोटे २ मामलों को अत्यन्त लम्बा तथा खर्चीला कर दिया जाता है, प्रारम्भ हो गई और इसने भोले भारतीयों की आर्थिक कमर तोड़ दी। वर्तमान सरकार का पंचायत-बिल उस प्राचीन प्रणाली को पुनः जीवित करने का प्रयत्न अर्थ तथा न्याय दोनों की दृष्टि से अत्यन्त श्रेयस्कर है।

इस्तमरारी बन्दोवस्त :—वारेन हेस्टिंग्स का भूमि-प्रबन्ध स्थायी न था। उसने प्रारम्भ में वार्षिक तथा बाद में पंच-वर्षीय बन्दोवस्त का आयोजन किया था। पाँच वर्ष के बाद एक आदमी को पृथक् करके उसकी भूमि दूसरे को दी जा सकती थी। इस नीति का एक बहुत बड़ा दुष्परिणाम यह हुआ कि किसानों ने भूमि को उन्नति व उसको उपाजाऊ बनाने के प्रयत्न बन्द कर दिये। क्योंकि यह वह तब ही कर सकते थे जबकि उन्हें विश्वास हो कि आगामी वर्षों में वही उस भूमि से लाभ उठायेंगे। पंच-वर्षीय बन्दोवस्त-योजना के अनुसार पाँच वर्ष बाद यह उनसे छीनकर दूसरों को दी जा सकती थी। दूसरा एक बहुत बड़ा परिणाम यह हुआ कि जो कम्पनी के कर्मचारियों को रिश्वत दे देता, उसे ही भूमि दे दी जाती। धीरे २ यह दोष इस सीमा तक पहुँच गया कि कम्पनी के डायरेक्टरों ने कार्न-वालिस को एक चिट्ठी में लिखा कि भूमि दस वर्ष के लिये जमींदारों को एक-बार दे दी जाये और यदि इस प्रकार की व्यवस्था हितकर सिद्ध हो तो इस काल के पश्चात् उन्हें भूमि स्थायी रूप से दे दी जावे। लार्ड कार्नवालिस ने इस प्रश्न का अध्ययन किया और प्रथम बार ही भूमि स्थायी रूप से जमींदारों को देनी चाही। कुछ वाद-विवाद के पश्चात् उसका यह प्रस्ताव स्वीकृत हुआ, जिसके अनुसार उसने बंगाल में स्थायी बन्दोवस्त कर जमींदारों को स्थायी रूप से भूमि दे दी और मालगुजारी की दर भी सदा के लिये निश्चित कर दी गई।

गुण :—एक स्थायी भूमिकर, जो एक बार नियुक्त कर दिया जाता है, भूमि को उन्नति की ओर ले जाता है। जमींदार या कृषक जानता है कि यदि भूमि में कोई उन्नति कर ली जाती है तो वह उसका स्वयं का लाभ होगा किसी अन्य का नहीं।

भूमि को उपजाऊ बनाने का प्रयत्न उपज को वृद्धि की ओर ले जाता है। अधिक उपज देश को खाद्य-संकट से मुक्त कर अकाल इत्यादि से बचने का साधन पैदा करती है। स्थायी बन्दोबस्त के पश्चात् बंगाल में किसी दुर्भिक्ष का न होना इसका जागृत प्रमाण है। वर्तमान दुर्भिक्ष, जो बंगाल में पड़ा, उसका कारण उपज की कमी नहीं बल्कि चोर-बाज़ार और विदेशी सरकार की अन्न बाहर भेजने व उसे एकत्रित करने की नीति थी।

भूमिकर स्थायी होने का अर्थ यह हुआ कि अधिक उपज का लाभ किसान का लाभ हो गया। इस संचित-लाभ को उन्होंने अन्य उद्योग-धन्धों में लगाना प्रारम्भ किया, जिससे आयकर की शक्ल में सरकार की आय में वृद्धि हो गई। इस लाभ का एक परिणाम यह हुआ कि प्रजा का रहन-सहन, शिक्षा इत्यादि उन्नति कर गई।

दोष :—इस्तमरारी बन्दोबस्त के दोषों पर भी दृष्टि डालना आवश्यक है। हर एक व्यक्ति जानता है कि कृषि-साधनों की उन्नति अनिवार्य है। मिंचाई के साधनों की वृद्धि व कृषि-सम्बन्धी अन्वेषण से जो कुछ उन्नति हो और फलस्वरूप जो उससे लाभ हो वह इस प्रकार के अनुसार कृषक या जमींदार को हो जाता है। यह सिद्धांत बिल्कुल गलत है; गवर्नमेंट का उसमें भाग होना आवश्यक है। इसलिये उपज की वृद्धि के साथ २५ भूमिकर में परिवर्तन उचित है। स्थायी बन्दोबस्त में ऐसा नहीं होता।

इसका उद्देश्य समस्त बंगाल में अंगरेज जमींदार बनाना था; प्रथम प्रयत्न में बन्दोबस्त के रचयिता ऐसा करने में सफल अवश्य हुए परन्तु इन अंगरेज जमींदारों ने भूमि को उन्नत करने का कोई प्रयत्न न किया बल्कि आहिस्ता आहिस्ता उसे धनिक-वर्ग को बेच दिया। इस प्रकार भूमि प्राचीन कृषकों के जमींदारों के हाथ से निकलकर नये साहूकार जमींदारों के हाथ में आ गई। इस प्रकार अंगरेजों को जमींदार बनाने का प्रयत्न प्राचीन कृषक वर्ग के प्रति अन्याय करके भी निष्फल रहा।

जमींदार अधिकतर कलकत्ता या किसी नगर के धनिक व्यापारी होने का एक बहुत बुरा परिणाम यह हुआ कि उनके कर्मचारी, जो गाँव में जमींदारी का प्रबन्ध करने के लिये छोड़े जाते, मनमानी करने लगे। ग़िश्त व बेगार लेना प्रारम्भ हो गया। मध्यस्थ-वर्ग की उत्पत्ति ने बंगाल में निर्धन कृषक-वर्ग को जन्म दिया जो तमाम वर्ष खून पसीना एक करके अन्न पैदा

करे, और उसके पुरस्कार-स्वरूप पायें भुखमरी, वस्त्राभाव व अन्न-संकट ।

जमींदारी-प्रथा ने, जो स्वयं एक बहुत बड़ा शाव थी, स्थायी बन्दो-बस्त द्वारा जमींदार को निरंकुशता प्रदान कर दी जिससे वह बेखटके, बेचारे भोले किसान का अधिकाधिक शोषण कर सके ।

कम्पनी का नया चार्टर :—सन् १७६३ ई० में कम्पनी को नया चार्टर मिला परन्तु इस बार पार्जियामेंट ने कम्पनी के व्यापार पर कुछ प्रतिबन्ध लगा दिया और आदेश दिया कि उसे अन्य व्यापारियों को प्रति-वर्ष ३००० टन व्यापार करने की आज्ञा देनी होगी । कम्पनी का भारत में ईसाई-धर्म-प्रचार निषेध कर दिया गया और उसे आदेश दिया गया कि वह युद्ध आदि से दूर रहकर शान्ति-पूर्वक व्यापार करे ।

कार्नेवालिस की वापसी :—सन् १७६३ में लार्ड कार्नेवालिस वापस बुला लिया गया और उसकी जगह सर जानशोर भारत का गवर्नर जनरल हुआ ।

सर जानशोर

निजाम और मरहठे :—लार्ड कार्नेवालिस के चले जाने के बाद १७६३ ई० में सर जानशोर गवर्नर जनरल होकर आया । उसने अपने शासन काल में हस्तक्षेप न करने का नीति का अनुसरण किया । निजाम और मरहठे युद्ध में उसने इस नीति का पूर्ण परिचय दिया ।

युद्ध का कारण :—मुग़ल सम्राट् को आज्ञानुसार निजाम मरहठों को साज्जावा चौथ दिया करता था परन्तु कुछ दिन से अंग्रेजों को मित्रता से उन्नत निजाम ने चौथ अदा न की । जब पेशवा साधोबाबासाहेब का दूत उससे हिंसाव करने के लिए हैदराबाद पहुँचा तो उसने उस दूत का बड़ा निरादर किया । फलस्वरूप युद्ध अनिवार्य हो गया । अब महादाजी सिंधिया का देहान्त हो चुका था उसका जगह उसका बोरपोत्र दौलतराव सिंधिया गद्दी पर बैठ चुका था । निजाम के दुर्न्यायहार की सूचना पर एक मरहठा सेना उसके नेतृत्व में निजाम पर आक्रमण करने के लिए चल पड़ी । निजाम ने १७६० ई० की सन्धि के अनुसार सर जान शोर से सहायता की प्रार्थना की, परन्तु उसने सहायता देने से मना कर दिया, यह तक कि कम्पनी की उस सबसोडियरी सेनाने भी जो निजाम के अधिकृत प्रदेश में निजाम के खर्च

पर रक्खी हुई थी, उसकी सहायता करने से इन्कार कर दिया। इसपर निजाम को बड़ा आश्चर्य हुआ। परिणाम यह हुआ कि मरहटों ने निजाम को १७६२ ई० में कुर्दला के स्थान पर परास्त किया और उसे मरहटों की सब शर्तों को स्वीकार करना पड़ा।

निजाम का लोभ :—परन्तु सर जानशोर की इस नीति से निजाम अंग्रेजों के विरुद्ध हो गया। उसने उसे लिखा कि कम्पनी की सेना उसके प्रदेश से हटा ली जावे और साथ ही साथ एक फ्रांसीसी अफसर से अपनी नई सेना तैयार करानी आरम्भ कर दी। सर जानशोर ने इसका विरोध किया परन्तु निजाम ने सैन्य संगठन जारी रखी। इस पर सर जानशोर ने कम्पनी की सहायक सेना उसके सीमान्त प्रदेश से हटाने से मना कर दिया। अंग्रेज हैदराबाद के अंग्रेज रेजीडेंट ने निजाम के पुत्र आलीगाह को उसके विरुद्ध भड़का दिया। विद्रोह शान्त कर दिया गया परन्तु अंग्रेजों की कूटनीति से वह अत्यन्त चञ्चल हो उठा।

सर जानशोर तथा रुहेलखंड :—सन् १७६४ ई० में रुहेलखंड के नवाब फैजुल्ला को मृत्यु हो गई। उसके बाद उसका छोटा बेटा गुलाम मोहम्मद अपने बड़े भाई अलीखान का वध कर गद्दी पर बैठा। सर जानशोर ने इस पर आपत्ति की। एक अंग्रेजी सेना रुहेलखंड भेजी गई। रुहेले हार गये। फैजुल्ला के खानदान से रियासत छीन कर एक पिछले नवाब मोहम्मद अली के वंशज को दे दी गई।

सर जान शोर और अवध :—सन् १७६७ ई० में अवध के नवाब आसफउद्दौला का देहान्त हो गया। उसकी जगह उसका बेटा वजीरअली गद्दी पर बैठा परन्तु सर जानशोर ने आसफउद्दौला के एक भाई सयादतअली को गद्दी का अधिकारी ठहराया और उससे सौदा कर अवध का नवाब बना दिया।

सर जानशोर की वापसी :—सन् १७६८ ई० में सर जानशोर इंग्लैंड लौट गया और उसकी जगह विलेजली गवर्नर जनरल होकर भारत आया।

पन्द्रहवाँ अध्याय

साम्राज्य वृद्धि का प्रथम युग

“लार्ड वेलेज़ली” (१८६८-१८०५ ई०)

लार्ड वेलेज़ली के उद्देश्य :—लार्ड वेलेज़ली के आने के साथ भारतीय राज्यों के अपहरण का वह अध्याय प्रारम्भ होता है जो लार्ड डलहौजी के समय समस्त भारत को अंग्रेजी-राज्य में सम्मिलित करने के बाद समाप्त हुआ। लार्ड वेलेज़ली के एक पत्र द्वारा, जो उसने कलकत्ते से अपने एक मित्र को लिखा, उसका उद्देश्य पूर्णतया प्रकट होता है। सने लिखा, “मैं बादशाहतों के ढेर लगा दूँगा, विजय पर विजय प्राप्त कर मालगुजारी के ढेर के ढेर एकत्रित कर दूँगा। मैं इतनी शान, इतना धन तथा इतनी सत्ता इकट्ठा कर दूँगा कि मेरे महत्वाकांक्षी और धनलोलुप मालिक ब्राहि-ब्राहि चिल्लाने लगेंगे।” वास्तव में वेलेज़ली ने ऐसा ही किया।

सबसीडियरी एलायन्स अर्थात् सहायक-सन्धि:—भारतीय रियासतों को पंगु बनाने तथा अवसरानुकूल उन्हें अंग्रेज राज्य में सम्मिलित करने के लिए वेलेज़ली ने एक विशेष नीति का अनुसरण किया जो सबसीडियरी एलायन्स अर्थात् सहायक-सन्धि के नाम से प्रसिद्ध है। सबसीडी का अर्थ आर्थिक सहायता और एलायन्स का अर्थ सहायता है। सारांश यह है कि इस सन्धि के अनुसार प्रत्येक देशी नरेश कम्पनी को निश्चित आर्थिक सहायता दे, उससे सैनिक सहायता प्राप्त कर सकता था। इस सन्धि की पाँच मुख्य शर्तें थीं—प्रथम, इस सन्धि को स्वीकार करने वाला देशी नरेश अङ्गरेजों का आधिपत्य स्वीकार करे। दूसरे, वह उनकी अनुमति के बिना किसी से युद्ध अथवा सन्धि न करे। तीसरे, अङ्गरेजों के अतिरिक्त वह किसी यूरोपियन जाति के मनुष्यों को अपने यहाँ नौकर न रखे। चौथे, वह अपनी रियासत में अङ्गरेजी सेना रखे जिसका खर्च वह स्वयं बरदाश्त करे। यह सेना आवश्यकतानुसार उसकी रक्षा करे। आवश्यकता पड़ने पर गवर्नर जनरल इस सेना को राज्य के बाहर भेज सके। पाँचवें, सन्धि करने वाला देशी राजा अपने राज्य में एक अङ्गरेज रेजीडेंट रखे और शासन-सम्बन्धी मामलों में उससे परामर्श करे।

सहायक-सन्धि लार्ड वेलेज़ली की नीतिपट्टता और दूर-दर्शिता की द्योतक है। इस सन्धि से धीरे २ एक देशी राज्य को इस स्थिति पर ले जाना था कि उन्हें आसानी से अङ्गरेजी राज्य में मिलाया जा सके। वे प्रत्येक भाँति अङ्गरेजों के अधीन हो जाते थे और अङ्गरेजी सेना बिना किसी खर्चे के स्थायी रूप से संगठित हो जाती थी। इसमें संदेह नहीं कि उस समय नैपोलियन के भारत आने की संभावना थी और देशी राज्यों में फ्रांसीसियों का प्रभाव रोकने के लिए इसका निर्माण हुआ परन्तु इसमें भी कोई संदेह नहीं कि इस नीति में भारतीय राज्यों को विजय करने का उद्देश्य भी निहित था। यही कारण था कुछ रियासतें, जिन्होंने इसे स्वीकार करने से मना कर दिया, उन्हें वेलेज़ली ने युद्ध-द्वारा अपने अधिकार में कर लिया। सहायक-सन्धि की समालोचना करते हुए एक यूरोपियन विद्वान लिखता है—सबसीडियरी एलायन्स सिवाय धोखे के कुछ न था। उसके उद्देश्य इंग्लैंड की जनता की आँखों में धूल डालना था, अर्थात् उन्हें यह दिखाना था कि गवर्नर जनरल ने देशी रियासतों से मैत्री सम्बन्ध स्थापित किए हैं। ये देश प्रगटतया विजय नहीं किये जाते थे। वहाँ के नरेशों को राजत्व के समस्त चिन्हों सहित तख्त पर रहने दिया जाता था, जबकि वास्तविक सत्ता उनके हाथों से लेकर पोटिकल एजेन्ट के हाथों में दे दी जाती थी। भोले-भाले भारत-निवासी इसके धोखे में आ गये। उनके सीधेपन से लाभ उठा वेलेज़ली ने सहायक सन्धि का ऐसा जाल बिछाया कि वह भारत को पूर्णतया ले डूबा।

वेलेज़ली तथा निजाम :—कुदेला की पराजय ने निजाम को बहुत कमजोर बना दिया परन्तु वह अङ्गरेजों को सहायता न देने के कारण उनसे कुछ भी था। इसलिए वेलेज़ली का अनुमान था कि शायद निजाम भी इसे आसानी से स्वीकार न करे। परन्तु सहायक-सन्धि की प्रथा चालू करने के लिए निजाम से उपयुक्त कोई नरेश न हो सकता था। इसलिए वेलेज़ली ने हैदराबाद के अङ्गरेज रेजीडेन्ट कप्तान कर्कपेडिक तथा उसके सहायक कप्तान मैलकम द्वारा एक षडयन्त्र रचा जिसमें हैदराबाद के प्रधान-मन्त्री अजीम-उल उमरा को अपनी ओर मिला लिया और निजाम को सहायता करने के लिए उसे धीरे २ निजाम की नव-सेना, जो फ्रांसीसी अफसरों की अध्यक्षता में संगठित हुई थी, बरखास्त करने को कहा। उस सेना के कुछ अधिकारियों

को भी उन्होंने अपनी ओर मिला लिया। इसी बीच उसने मद्रास सरकार को गुप्त आदेश भेजा कि वह चुप-चाप एक सेना हैदराबाद भेजदे। जब यह सेना हैदराबाद पहुँच गई तब निजाम को अपने प्रधान-मन्त्री और अन्य अफसरों के विश्वासघात का पता चला परन्तु अब क्या हो सकता था। ऐसी परिस्थिति में जब अङ्गरेजी रेजीडेंट ने निजाम को सहायक सन्धि स्वीकार करने को कहा। असहाय निजाम को उसे मंजूर करने के अतिरिक्त कोई चारा न था, इसलिए १ सितम्बर १७८६ ई० को निजाम ने कम्पनी के इस नये संधि-पत्र पर हस्ताक्षर कर दिये। फज्दस्वरूप हैदराबाद की स्वाधीनता सदा के लिए समाप्त हो गई। अङ्गरेज अफसरों के नेतृत्व में कम्पनी की ६ हजार सेना तो परधाने सहित निजाम के खर्च पर सदा के लिए निजाम राज्य में रख दी गई। निजाम ने सब अपने फ्रान्सीसी अफसर निकाल दिए और उसने वचन दिया कि वह बिना अंगरेज-अधिकारियों की आज्ञा के, किसी यूरोपिन को अपने यहाँ नौकर न रखेगा। इंग्लैंड के मंत्रिमण्डल ने हैदराबाद की इस सन्धि पर विशेष संतोष प्रकट किया।

अंग्रेज और टीपू :—सन् १७६२ ई० में अंग्रेजों, मराठों और निजाम ने मिलकर टीपू पर आक्रमण किया था और उसका आधा राज आपस में बांट लिया था। टीपू पर तीन करोड़ रुपये युद्ध-दंड लगाया गया था। जिसमें से आधा उसने उसी समय दे दिया था आर आधे के लिए उसने अपने दो पुत्रों को बन्धकों के रूप में कार्नवालिस को दे दिया था। टीपू ने इस शेष धन को नियत अवधि के अन्दर चुका दिया। नही नहीं वरन् वह अधिक परिश्रम तथा उत्साह से अपनी खोई हुई शक्ति को पुनः प्राप्त करने के लिए संलग्न होगया और अपनी योग्यता से उसने शीघ्र ही अपने देश तथा सेना को दशा ठीक कर ली। परन्तु अंग्रेजों को उसके राज्य का पनपना सर्वथा असह्य था। वह टीपू के अस्तित्व को ही अंग्रेजी राज्य के लिए घातक समझते थे। यही कारण था कि वेलेज़ली ने भारत में प्रवेश करने से पहिले आशा अन्तरीप में ही टीपू को कुचलने का दृढ़ संकल्प कर लिया था।

टीपू पर दोषारोपण :—टीपू पर आक्रमण करने के लिए कोई न कोई बहाना ढूँढना आवश्यक था। उन्होंने कहा कि टीपू अंग्रेजों पर आक्रमण करने वाला है। इसके लिए वह फ्रान्सीसियों के साथ गुप्त षड्यन्त्र रच रहा है। कहा गया है कि उसने मारीशस के फ्रान्सीसी गवर्नर के पास

अपने विशेष दूत भेजे हैं, जिनके द्वारा उसने अंग्रेजों के विरुद्ध फ्रान्सीसियों से मेल करने का प्रयत्न किया है। तथा वह अफगानिस्तान के अमीर ज़मन-शाह से गुप्त बातचीत कर रहा है। टीपू से उक्त आरोपों के विषय में बिना पृच्छताछ किए ही वेलेज़ली ने मद्रास के गवर्नर हैरिस को लिखा कि वह तुरन्त टीपू के विरुद्ध सेना एकत्रित करे। यद्यपि मद्रास के गवर्नर तथा उसके सेक्रेटरी ने वेलेज़ली को लिखा कि फ्रांस की जो सेना सारीशस द्वीप में थी, वह सब योरुप भेज दी गई है और फ्रान्सीसी जहाज तक वहाँ से हटा लिए गये हैं, इसलिए फ्रान्सीसियों तथा टीपू के बीच किसी पड़्यंत्र का होना असम्भव है; किन्तु वेलेज़ली ने इसकी कोई परवाह न की। उसका उद्देश्य इन आरोपों की छान-बीन कर वास्तविक तथ्य पर पहुँचना न था। वह तो टीपू को कुचलने के लिए केवल एक बहाना ढूँढ रहा था। उसने मद्रास के गवर्नर को तैयारी जारी रखने का आदेश दिया। दूसरी ओर टीपू को धोखे में रखने के लिए उसने टीपू से मित्रता-सूचक पत्र-व्यवहार प्रारम्भ कर दिया, परन्तु अब उसकी सैनिक तैयारियाँ पूरी हो चुकी थीं। इसलिये उसने टीपू से छेड़-छाड़ आरम्भ की। उसने सारीशस के गवर्नर से पत्र-व्यवहार का जिक्र करते हुए टीपू को लिखा कि आप यह न समझें कि मेरे देश के शत्रुओं तथा आपके बीच जो बातें हुई हैं उनकी ओर से मैं उदासीन हूँ।

आपकी इस नीति को देखते हुए एक अंग्रेज अफसर आपके दरबार में भेजा जायेगा, ताकि शान्ति बनाये रखने के लिये जिन जिन जिलों की अंग्रेजों को आवश्यकता हो वह आपसे मांग लें। उत्तर की बिना प्रतीक्षा किये ही वेलेज़ली मद्रास के लिये चल दिया जिससे कि स्वयं युद्ध-क्षेत्र के निकट रह कर युद्ध का संचालन कर सके। यहाँ उसे टीपू का विनम्र उत्तर प्राप्त हुआ, परन्तु उसकी अवहेलना करते हुये लार्ड वेलेज़ली ने जनवरी सन् १७९९ ई० में टीपू को साफ २ लिखा कि वह अपने समुद्र के किनारे के बन्दरगाह तथा नगर अंग्रेजों के हवाले कर दे, और २४ घण्टों के अन्दर इसका उत्तर मांगा गया। इसको पत्र के बदले यदि युद्ध-वोषणा कहें तो अधिक उपयुक्त होगा। टीपू भी यह अच्छी प्रकार समझ गया। अब उसे ज्ञान हुआ कि वही अंग्रेज, जिन्हें हैदर ने पूर्णतया परास्त करके भी छोड़ दिया था, किस प्रकार उसे मिटा देने के लिये कटिबद्ध थे। “पराजित शत्रु की ओर उदारता दिखाना भारतीय नरेशों का एक विशेष गुण रहा है, किन्तु अनेक बार उन्हें इस उदारता का गहरा मूल्य चुकाना पड़ा है।

मैसूर की चाँची लड़ाई :—३ फरवरी सन् १७९९ ई० को कम्पनी की सेनायें टीपू के राज्य की ओर बढ़ीं। टीपू युद्ध के लिये बिल्कुल तैयार न था; अतः उसने वेलेज़ली को पत्र लिखा कि मामले को शान्तिपूर्वक तै करने के लिये एक अङ्गरेज दूत उसकी राजधानी में भेज दिया जावे, परन्तु वेलेज़ली ने इन पत्रों की ओर कोई ध्यान नहीं दिया। मद्रास की सेना १ स्थल-मार्ग से गवर्नर हैरिस की अध्यक्षता में तथा बम्बई की सेना ने जलमार्ग से स्ट्रार्ट की अध्यक्षता में और निज़ाम की सहायक सेना ने वेलेज़ली के भाई आर्थर वेलेज़ली के नेतृत्व में मैसूर पर आक्रमण कर दिया। इनके अतिरिक्त निज़ाम ने अपनी छः हजार सेना रोशनराव के सेनापित्व में कम्पनी की सहायता के लिये भेजी। इस प्रकार कुल मिलाकर ३० हजार सेना ने चारों ओर से टीपू पर चढ़ाई कर दी। इस सैन्यबल के अतिरिक्त गुप्त रीति से उन्होंने टीपू के कुछ अफसरों को भी अपनी ओर भिला लिया था। इन विश्वासघातकों में टीपू का प्रधानमन्त्री पूर्निया तथा उसका एक दीवान भीर सादिक विशेष उल्लेखनीय हैं। सत्य यह है कि इन नमकहरामों का विश्वासघात ही टीपू के सर्वनाश का कारण हुआ, क्योंकि टीपू को इनका पता न था। वह सीधेपन में इन्हें महत्वपूर्ण से महत्वपूर्ण स्थान पर नियुक्त करता रहा और वे उससे अनुचित लाभ उठा अङ्गरेजों को सहायता देते रहे।

घटनायें :—आक्रमण की सूचना पाते ही टीपू ने अपने विश्वस्त आह्वण मन्त्री पूर्निया को मुकाबले के लिये भेजा। रायकोट नामक स्थान के निकट उसकी कम्पनी की सेना से मुठभेड़ हुई। किन्तु पूर्निया वास्तव में अङ्गरेजों से मिला हुआ था। अतः युद्ध करने के बदले वह कम्पनी की सेना के दायें-बायें चकर लगाता रहा। फल यह हुआ कि उक्त सेनायें आगे बढ़ती रहीं और पूर्निया की सेना संरक्षक की भाँति इसके चारों ओर चलती रहीं। ज्योंही टीपू को कम्पनी की सैनिक प्रगति का पता चला, उसने तेजी से आगे बढ़ कर मद्रास की सेना को मलावली के स्थान पर रोका, परन्तु अपने एक सेनापति कमरुद्दीन के विश्वासघात के कारण पूर्णतया परास्त हुआ। इसी बीच उसे सूचना मिली कि बम्बई की सेना एक दूसरे मार्ग से उसकी राजधानी श्रीरंगपट्टन की ओर बढ़ रही है। अतः कुछ सेना इधर छोड़ वह स्वयं उसे रोकने के लिये आगे बढ़ा। परन्तु युद्ध पूर्णतया समाप्त भी न हो पाया था कि हैरिस की सेना श्रीरंगपट्टन पहुँच गई। टीपू तुरन्त

१४८°

राजधानी पहुँचा। बम्बई की सेना भी इसी बीच वहाँ पहुँच गई। दोनों सेनाओं ने मिलकर श्रीरंगपट्टन का घेरा डाल दिया। टीपू ने महत्वपूर्ण मोरचों पर अपने विश्वस्त सेनापति सैयद गफ्फार तथा सादिक अली को नियुक्त किया। यद्यपि सादिक अली अङ्गरेजों से मिला हुआ था तो भी गफ्फार की अटूट स्वामि-भक्ति के कारण शीघ्र कम्पनी की सेनाओं को सफलता प्राप्त न हो सकी। परन्तु कुछ समय पश्चात् अंगरेजी सेना किले में प्रवेश करने में सफल हुई। अपने चारों ओर विश्वासघातक पदाधिकारियों का एक जाल देख टीपू आश्चर्य-चकित रह गया, फिर भी उसने साहस न छोड़ा और अपने सुट्टी भर आदमियों सहित बढ़ती हुई अंगरेजी सेना की ओर लपका और लड़ता हुआ वीरगति को प्राप्त हुआ। श्रीरंगपट्टन पर अंगरेजों का अधिकार हो गया।

मैसूर राज्य का अन्त :—श्रीरंगपट्टन पर अधिकार प्राप्त करने के बाद उसका भाई करीम साहब उसके १२ बेटे तथा उसकी बेगमों कैद करके बेजोर नगर में, जो कर्नाटक राज्य में स्थित है, रहने के लिए भेज दिये गये। अधिकांश भाग अंग्रेजी राज्य में मिला लिया गया। कुछ भाग निजाम को दे दिया गया। शेष भाग पर मैसूर के पुराने हिन्दू राज्यकुल का शासन रहने दिया। उस कुल का एक पञ्चवर्षीय बालक कृष्णराज राजा घोषित कर दिया गया और पूनिया उसका संरक्षक नियुक्त कर दिया।

सन्धि की शर्तें वेल्लेज़ली की कूटनीति तथा दूरदर्शिता की द्योतक हैं। निजाम को कुछ भाग प्रदान करना उसे उचित अनुचित प्रत्येक मामले में सहयोग प्रदान करने के लिये खरीदना था। मैसूर का कुछ भाग प्राचीन हिन्दू वंश को प्रदान करना दूसरी महत्वपूर्ण धारा थी। जिसमें सीधे-सादे भारतीय नरेशों की दृष्टि में कम्पनी के अनुचित हस्तक्षेप पर परदा डाल दिया। यदि वेल्लेज़ली ऐसा न करता तो सम्भव था कि अंग्रेजों की देशी नरेशों की संगठित शक्ति का सामना करना पड़ता। यद्यपि सामयिक राज-नैतिक धारा को देखते हुए इसकी विशेष आशा नहीं की जा सकती।

वैल्लेज़ली और अवध :—सन् १७६८ ई० में सर जानशोर ने नवाब वज़ीरअली को कैद करके बनारस भेज दिया था और सत्रादतअली को उसकी जगह नवाब बनाया था। उसने नवाब से एक चिरस्थायी सन्धि की थी जिसके अनुसार घरेलू मामले, पैतृक राजधानी, सेना तथा प्रजा पर

नवाब का पूर्ण अधिकार रक्खा गया था। किन्तु सन्धि को हुए दो वर्ष भी न हुए थे कि वेलेजली ने उसे तोड़ने के लिए बहाने ढूँढ़ने प्रारम्भ कर दिये।

इसी बीच वजीरअली बनारस से निकल भागा और अवध पहुँचा। कुछ लोगों को अपनी ओर मिला उसने गद्दी प्राप्त करने का षड्यन्त्र रचा। कम्पनी की सहायक सेना की सहायता से नवाब सआदतअली खाँ ने इस विद्रोह को शांत कर दिया, परन्तु इस घटना के आधार पर वेलेजली ने नवाब को लिखा कि नवाब स्वयं अपनी सेनायें कम कर केवल इतनी सेना रखे जितनी मालगुजारी वसूल करने या शाही जलमों आदि के लिए आवश्यक हो। वेलेजली ने यह पत्र कदाचित् इस लिए लिखा हो कि कहीं वजीरअली की भांति वह भी कहीं विद्रोह न कर बैठे। उसने यह भी लिखा कि स्थिति सेना के बदले कम्पनी की कुछ पैदल तथा सवार पलटनें बढ़ा दी जावें जिसका व्यय नवाब सहन करे।

नवाब उक्त प्रस्ताव को सुन कर चकित रह गया। १७६२ ई० को सन्धि के अनुसार वेलेजली को इस प्रकार हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार न था, परन्तु वेलेजली उचित अनुचित की परवाह करने वाले व्यक्तियों में न था। उसका एकमात्र उद्देश्य कम्पनी के राज्य की वृद्धि करना था और यही उद्देश्य सदैव उसके सामने रहता था। नवाब अभी उक्त प्रस्ताव का उत्तर भी न भेज पाया था कि एक नई पलटन अवध पहुँच गई। दूसरी पलटन भेजने की तैयारी की जाने लगी। इस पर नवाब ने अत्यन्त तर्कयुक्त तथा नम्रतापूर्ण पत्र वेलेजली को लिखा जिममें उसने गवर्नर जनरल से प्रार्थना की कि उपरोक्त प्रस्ताव वापिस ले लिया जावे, परन्तु वेलेजली ने इस पत्र को लेने तक से इन्कार कर दिया और नवाब के अंग्रेज रेजीडेण्ट को लिखा कि यदि नवाब ने इस प्रकार भविष्य में कम्पनी सरकार की न्यायप्रियता और ईमानदारी पर सन्देह किया तो उसे उचित दण्ड दिया जावेगा। कितना अहंकारपूर्ण उत्तर था। परन्तु यही नहीं—इसके बाद जनवरी १८०१ ई० में उसने नवाब को लिखा कि वह या तो कुछ वार्षिक पेंशन लेकर राजधानी से अलग हो जावे या जो दो नई पलटनें भेजी गई हैं उनके व्यय के लिए आधा राज्य कम्पनी के हवाले कर दें। साथ ही साथ उसने अंग्रेज रेजीडेण्ट को लिखा कि यदि नवाब कोई आनाकानी करे तो सेना की सहायता

से उसके आधे राज्य पर अधिकार कर लिया जावे। नवाब बेचारे ने बहुत अनुनय विनय की परन्तु कौन सुना था। कम्पनी की सेनायें चारों ओर फैली हुई थीं। ऐसी दशा में नवाब कर ही क्या सकता था। लाचार होकर उसे नये सन्धि-पत्र पर हस्ताक्षर करने पड़े और अपने राज्य का आधा भाग कम्पनी को देना पड़ा।

वेलेजली के इंगलैंड लौटने पर उसके इस प्रकार के कामों की बहुत निन्दा की गई। इस पर हेस्टिंग्स की भाँति पार्लियामेंट में आक्रमण किया गया। जिसमें पार्लियामेंट के एक सदस्य ने इस सन्धि की चर्चा करते हुए कहा कि “यदि यह सन्धि थी तो फिर खुले मैदान में जाते हुए किसी सुसा-फिर पर डाकू के दूट पड़ने तथा उसके लूटने को भी सन्धि का नाम दिया जा सकता है।”

फर्रुखाबाद का अन्त :— इसके बाद वेलेजली ने फर्रुखाबाद की छोटी रियासत को अंगरेजी राज्य में मिला लिया यह रियासत अवध के अधीन थी। यहाँ पहले से एक अंगरेज रेजीडेण्ट रहता। जब उसने रियासत के प्रबन्ध में अनुचित हस्तक्षेप करना प्रारम्भ कर दिया तो लार्ड कार्नवालिस ने उसे वापिस बुला लिया था और वचन दिया था कि भविष्य में इस प्रकार उसके राज्य में हस्तक्षेप न किया जायेगा। लार्ड वेलेजली ने इस वायदे की कोई परवाह न करते हुए अपने भाई आर्थर वेलेजली को फर्रुखाबाद भेजा और उसे आदेश दिया कि किसी प्रकार नवाब को पेंशन के लिए तैयार कर उसकी रियासत कम्पनी को दिलवा दे। आर्थर वेलेजली नवाब को लखनऊ लिवा लाया और यहाँ साम, दाम, दण्ड, भेद सब साधनों से नवाब को एक लाख अठारह हजार रुपया वार्षिक पेंशन स्वीकार करने तथा रियासत कम्पनी के हवाले करने के लिये तैयार कर लिया। इस प्रकार फर्रुखाबाद रियासत अंगरेजी राज्य में मिला ली गई।

अंग्रेज और तंजौर :— दक्षिणी भारत में तंजौर एक छोटी-सी मरहटा रियासत थी। १७वीं शताब्दी के मध्य में यह छत्रपति शिवाजी के पिता शाहजी की जागीर थी। शाहजी के पश्चात् तंजौर का राज्य शिवाजी के एक सौतेले भाई बेंकोजी को दिया। कारोमण्डल तट पर अंगरेजों के सब से पहले मददगारों में तंजौर का राजा था।

तंजौर के राजा प्रतापसिंह के बाद उसका पुत्र तुलजाजी गद्दी पर बैठा। उसके कोई पुत्र न था। अतः उसने अपने दत्तक पुत्र सार्वोजी को उत्तराधिकारी नियुक्त किया। इससे लाभ उठाकर अंगरेजों ने अमरसिंह नामक तुलजाजी के एक सौतेले भाई को गद्दी पर बिठा दिया। उसने १७६३ ई० में कम्पनी से सहायक सन्धि करली।

धीरे २ अंगरेजों की इच्छा तंजौर राज्य को अंगरेजी राज्य में सम्मिलित करने की हो गई और उन्होंने तंजौर के रेजीडेण्ट द्वारा रियासत में तोड़-फोड़ आरम्भ कर दी।

जब वेलेजली भारत आया तो तुलजाजी के दत्तक पुत्र सार्वोजी को षडयन्त्रों का केन्द्र बनाया गया। पण्डितों से उसका अधिकार शास्त्रानुकूल सिद्ध कराया गया जिसके बल पर अंगरेजों ने अमरसिंह को गद्दी से उतार सार्वोजी को तंजौर की गद्दी पर बैठा दिया। उसके बाद तुरन्त ही उन्होंने सार्वोजी से एक नये सन्धि-पत्र पर हस्ताक्षर करा लिए जिसके अनुसार उसने अपना सारा राज्य कम्पनी के हवाले कर दिया और स्वयं जीवन भर कम्पनी का पेंशनर होकर तंजौर के किले के अन्दर रहना स्वीकार कर लिया।

कर्नाटक और अंग्रेज :—कर्नाटक का नवाब मोहम्मद अली अंगरेजों का घनिष्ठ मित्र था। उसके तथा कम्पनी के बीच चिरस्थायी मन्त्रत की संधि हो चुकी थी, जिसमें अंगरेजों ने मोहम्मद अली और उसके राज्य की रक्षा के लिए अपनी एक सेना कर्नाटक में रखने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लिया था। उस सेना के खर्च के लिये नवाब ने ३० लाख रुपया सालाना देने का वचन दिया था। नवाब मोहम्मद अली यह धन निश्चित समय पर कम्पनी को देता रहा। यहाँ तक कि उसने कुछ जिलों की मालगुजारी इस अदायगी के लिए अलग कर रखी थी। जब मोहम्मद अली की मृत्यु के बाद उसका पुत्र उमदत-उल-उमरा कर्नाटक का नवाब हुआ तो वह भी अपने पिता की भाँति ठीक समय पर कम्पनी को यह धन देता रहा और सन्धि की शर्तों का भी ठीक २ पालन करता रहा। अतः कर्नाटक पर अधिकार करने को कोई बहाना आसानी से न मिल सका।

इधर वेलेजली कर्नाटक को अंगरेजी राज्य में सम्मिलित करने के

लिए उतारू था । अन्य अंगरेज भी, जो जीवन भर नवाब को चूसते रहे थे, अब यह देखकर कि वह पूर्णतया कर्जे में दब गया है और उससे अब कोई धन-प्राप्ति की आशा नहीं की जा सकती—विलीनीकरण के पक्ष में थे, परन्तु उन्हें कोई बहाना नहीं मिल रहा था और न उमदत-उल-उमरा के जीते जी इस प्रकार का कोई बहाना मिलने की आशा ही प्रतीत होती थी । अतः उसने नवाब को मृत्यु तक के लिए कर्नाटक का प्रश्न स्थगित कर दिया । सन् १८०१ ई० में सूचना मिली कि नवाब कर्नाटक मृत्यु-शय्या पर पड़ा है । तुरन्त अंगरेज सेना को आज्ञा दी गई कि वह नवाब के महल को घेर ले और कर्नल मैक्नील ने यह कह कर—कि नवाब की मृत्यु के बाद शांति भंग होने की आशंका है, अतः महल को सेना द्वारा सुरक्षित किया जाना आवश्यक है—महल का घेरा डाल दिया । १५ उलाई को नवाब की मृत्यु हो गई । अन्त तक अंगरेज अफसर नवाब के पास रहे परन्तु उसी दिन नवाब के बेटे शाहजादे अलीहुसैन को महल से बाहर लाकर उन्होंने अचानक उसे सूचना दी कि उसके बाप और दादा ने हैदराबली तथा टीपू से गुप्त पत्र व्यवहार किया था जो श्रीरंगपट्टन के घेरे के समय अंगरेजों के हाथ लगा । अतः गवर्नर जनरल की आज्ञा है कि विश्वासघात के अभियोग में वह अपने पिता की गद्दी पर बैठने के बदले एक साधारण प्रजा की भाँति जीवन व्यतीत करे और एक संधि पर हस्ताक्षर कर कर्नाटक का राज्य कम्पनी को दे दे । कैसी विचित्र बात है कि नवाब उमदत-उल-उमरा के जीते जी इस गुप्त पत्र-व्यवहार की कभी चर्चा भी न हुई और अब इसके आधार पर रियासत हड़प की जा रही थी । कितना सच्चा था यह अभियोग, इसमें सिद्ध होता है । फिर भी शाहजादा अलीहुसैन इस प्रस्ताव से सहमत नहीं हुआ । इस पर अंगरेजों ने नवाब के एक दूर के रिश्तेदार आजमउद्दौला से बातचीत आरम्भ कर दी । बात तै हो गई । फलस्वरूप अलीहुसैन को बन्दी बना लिया गया और आजमउद्दौला को कर्नाटक का नवाब घोषित कर दिया गया । नवाब होते ही उसने कर्नाटक का सारा राज्य कम्पनी को दे दिया और स्वयं पेंशन ले अर्काट में रहने लगा ।

सूरत का अन्त :—अंगरेजों ने अपनी व्यापारी कोठो सर्वप्रथम सूरत में खोली । सूरत पर उन दिनों एक मुसलमान नवाब का शासन था, जो देहली सम्राट् के अधीन था । ज्यों-ज्यों मुगल सम्राट् बलहीन होता

गया, अंग्रेजों का प्रभाव सूरत के नवाब पर बढ़ता गया। यहां तक कि सूरत में एक प्रकार का दोहरा प्रबन्ध प्रारम्भ हो गया। नाम में नवाब का शासन था, परन्तु सब नियम अंग्रेजों के परामर्श से बनाये जाते थे। सन् १७५६ से १७६६ ई० तक यही दोहरा प्रबन्ध चलता रहा। वेलेज़ली ने इसे समाप्त करने की सोची। २ जनवरी सन् १७६६ ई० को नवाब की मृत्यु हो गई। उसने एक दूध पीता बच्चा अपना उत्तराधिकारी छोड़ा, परन्तु एक महीने बाद उसका भी देहान्त हो गया। इसके बाद उसका चचा सूरत की गद्दी पर बैठा। उस पर ज़ोर दिया गया कि वह अपनी सेना को भंग करदे और एक लाख रुपये वार्षिक से अधिक खर्च दे, कम्पनी की एक सेना अपने यहाँ रखे। नये नवाब ने अपनी आर्थिक दशा का दिग्दर्शन कराते हुए अपनी लाचारी प्रकट की, परन्तु उसकी कोई न सुनी गई। जब उसने अधिक आग्रह किया तो लार्ड वेलेज़ली ने बम्बई के गवर्नर को आदेश दिया कि वह स्वयं जाकर नवाब से एक सन्धि-पत्र पर हस्ताक्षर करा ले, जिसके अनुसार वह सूरत की गद्दी को छोड़ कर कम्पनी की पेंशन स्वीकार कर ले। ऐसा ही हुआ। सैन्य बल का प्रदर्शन कर सूरत अंग्रेजी राज्य में मिला दिया गया और नये नवाब नसीरउद्दीन को पेंशन दे दी गई।

अंग्रेज और मरहठे :—मरहठा-सत्ता को नाश करने में सबसे अधिक भाग वेलेज़ली और उसके भाई आर्थर वेलेज़ली का है। वेलेज़ली के आने के समय रावोबा का पुत्र बाजीराव पेशवा की गद्दी पर बैठा। नाना फड़नवीस उसकी कैद में था। महादाजी सिंधिया की जगह उसका पौत्र दौलतराव सिंधिया ग्वालियर की गद्दी पर था। होल्कर कुल में १५ अगस्त सन् १७६७ को तुकाजी की मृत्यु हुई। तुकाजी के दो बेटे थे। काशीराव और मल्हरराव और दो दासीपुत्र थे जशवंतराव और विठ्ठूजी दौलतराव सिंधिया की सहायता से काशीराव ने मल्हरराव को परास्त किया। वह युद्ध-स्थल में ही वीरगति को प्राप्त हुआ और काशीराव इन्दौर की गद्दी पर बैठा। जशवंतराव भाग कर नागपुर चला गया और विठ्ठूजी कोल्हापुर। दौलतराव सिंधिया योग्य वीर और समझदार था। वह अंग्रेजों की कूटनीति को भली भांति समझता था। वह जानता था कि अंग्रेजों के चंगुल से बचने के लिये नाना फड़नवीस की सेवार्थ मरहठा

मंडल के लिये कितनी मूल्यवान् हो सकती हैं। अतः सबसे पहला कार्य दौलतराव ने यह किया कि उसने पूना पहुँचकर नाना फड़नवीस को कैद से मुक्त कर उसे फिर पेशवा का प्रधान मंत्री बनवाया। नाना और दौलतराव में अब मित्रता बढ़ने लगी। बाजीराव भी इनके कहने में था। इस प्रकार मरहटा राज्य की बागडोर इन दोनों योग्य पुरुषों के हाथ में आगई।

वेलेज़ली की इच्छा :—वेलेज़ली अच्छी प्रकार समझता था कि पेशवा दौलतराव सिंधिया और नाना फड़नवीस के हाथ में है। जब तक इन दोनों पुरुषों को पूना से न हटाया जाये तब तक बाजीराव पर अंग्रेजों का जादू नहीं चल सकता। वह यह भी जानता था कि बाजीराव मरहटा-संघ की कुंजी है। यदि किसी प्रकार वह अंग्रेजों से सहायक संधि कर ले तो धीरे धीरे अंग्रेज समस्त मरहटा संघ पर छा जावें। यह सब बातें विचार वेलेज़ली दौलतराव सिंधिया को पूना से हटाने का भरसक प्रयत्न करने लगा। उसने सिंधिया की अनुपस्थिति में करनल कालिन्स नामक एक अंग्रेज को सिंधिया दरबार में रेज़ीडेण्ट बनाकर भेजा। उसने प्रगट किया कि उक्त रेज़ीडेण्ट के भेजने का उद्देश्य सिंधिया और अंग्रेजों की मित्रता को पक्का करना है किन्तु उसका वास्तविक उद्देश्य महाराजा दौलतराव की अनुपस्थिति में सिंधिया राज्य के अन्दर फूट डलवाना तथा ऐसी स्थिति पैदा करना था जिससे मजबूर होकर दौलतराव अपनी सेना सहित पूना से उत्तर की ओर लौट आये। परन्तु कालिन्स इसमें अधिक सफलता प्राप्त न कर सका। अब वेलेज़ली ने अवध की सहायक सेना को आज्ञा दी कि वह अवध तथा सिंधिया राज्य की सीमा पर एकत्रित हो। वेलेज़ली ने प्रगट किया कि यह सैनिक प्रदर्शन अवध के विद्रोही तथा बंदी उत्तराधिकारी वजीर-अली की कार्रवाईयों को रोकने के लिये किया जा रहा है। फिर भी वेलेज़ली को विश्वास था कि जब सिन्धिया को इस प्रदर्शन का पता चलेगा तो वह अपने साम्राज्य की रक्षा के लिये चिंतित हो उठेगा और पूना छोड़कर ग्वालियर चला आवेगा। चाल सफल हुई। दौलतराव सिंधिया को जब यह सूचना मिली तो उसे विश्वास हो गया कि अंग्रेज उसके राज्य पर आक्रमण करना चाहते हैं। अतः वह पूना छोड़कर अपने राज्य की रक्षा के लिये उत्तर की ओर चला आया।

अब वेलेज़ली ने पूना के रेज़िडेण्ट पामर को लिखा कि वह पेशवा पर जोर देकर उसे सहायक संधि स्वीकार करने के लिये तैयार करे। परन्तु नाना अभी पूना में मौजूद था। उसकी सलाह से पेशवा ने सहायक संधि स्वीकार करने से इन्कार कर दिया। अभी मैसूर विजय न हुआ था इसी लिये वेलेज़ली अधिक आग्रह कर पेशवा को अप्रसन्न करना न चाहता था। यह सोच उसने पेशवा पर अधिक जोर नहीं दिया। परन्तु उ्योंही श्रीरंगपट्टन का पतन हुआ उसने पूना-स्थित अंग्रेज रेज़िडेण्ट को लिखा कि वह शीघ्रातिशीघ्र पेशवा को सहायक संधि में फांसने का प्रयत्न करे। परन्तु नाना की दूरदर्शिता के कारण वह सफलता प्राप्त न कर सका। इसी बीच १३ फरवरी सन् १८०० को नाना फड़नीस की मृत्यु हो गई। अब अंग्रेजों का मार्ग सरल हो गया। वेलेज़ली ने पामर को लिखा कि वह दौलतराव के विरुद्ध बाजीराव को भड़काने और किसी प्रकार उसे एक बार पूना से भगाकर अंग्रेजी प्रदेश में ले आये। गवर्नर जनरल के आदेशानुसार पामर ने अपना जाल फैलाना आरम्भ कर दिया। इसी समय गवर्नर जनरल ने मलिक जहानखाँ नामक टीपू के एक स्वामि-भक्त विद्रोही को, जो श्रीरंगपट्टन के पतन के बाद भी एक विशाल सेना एकत्रित कर अंग्रेजों को परेशान कर रहा था, दमन करने के लिये पेशवा के राज्य से होकर सेना भेजने की आज्ञा साँगी। पेशवा ने बिना सोचे समझे आज्ञा दे दी। इस आज्ञा से लाभ उठा कर कम्पनी की सेना ने कई महत्वपूर्ण स्थानों पर अधिकार कर लिया। धीरे धीरे यह प्रगट होने लगा कि इस सेना का गुप्त उद्देश्य पूना पर आक्रमण कर उसी प्रकार पेशवा को फाँसना था जिस प्रकार कुछ समय पहले मद्रास की सेना ने निज़ाम को फाँसा था। किन्तु अभी उसके लिये उपयुक्त अवसर न था क्योंकि पामर का कुचक्र अभी पूरे रूप से सफल नहीं हो पाया था। पामर की असफलता को देख वेलेज़ली ने कर्नल क्लोज को, जो इस प्रकार की तोड़-फोड़ में अत्यन्त सिद्धहस्त था, पूना का रेज़िडेण्ट बनाकर भेजा और पामर को वापिस बुला लिया। परन्तु दौलतराव, जो अवसर पाकर पूना लौट आया था और पेशवा की नीति का संचालन कर रहा था, उसे सफल न होने दिया। इस पर वेलेज़ली को एक नया कुचक्र रचना पड़ा।

वेलेज़ली ने जसवन्तराव होल्कर को,—जो इस समय नागपुर में था

और विद्रोही को, जो इस समय कोल्हापुर में था—अपनी ओर तोड़ लिया और उसे दौलतराव सिंधिया के राज्य पर आक्रमण करने के लिये तैयार कर दिया। अंग्रेजों की सहायता से जसवन्तराव ने नागपुर से भागकर एक सेना एकत्रित की और सिंधिया राज्य पर आक्रमण करने आरम्भ कर दिये। जब दौलतराव को अचानक आक्रमण की सूचना मिली तो वह अपनी सेना का एक भाग पना छोड़ मालवा पहुँचा। कई स्थानों पर उममें तथा होल्कर में युद्ध हुए और कभी एक तो कभी दूसरा विजयी होता रहा।

दौलतराव की अनुपस्थिति से लाभ उठाकर अंग्रेजों ने विद्रोही होल्कर से पेशवा के विरुद्ध विद्रोह करा दिया, परन्तु पेशवा की सेना ने विद्रोही को परास्त कर उसे प्राणदण्ड दे दिया। जब होल्कर को यह पता लगा तो वह तुरन्त पूना की ओर लपका। जसवन्त को बढ़ते देखकर पेशवा ने अंग्रेजों से सहायक सन्धि कर ली। होल्कर पूना पहुँचा। उसने पेशवा की सेना को परास्त किया; परन्तु कम्पनी ने पेशवा की कोई सहायता न की। बाजीराव यह सब देख घबरा उठा और परास्त होते ही अंग्रेज रेजिडेंट की सलाह से पूना से भागकर बेसीन पहुँच गया।

बेसीन की संधि :— अब पेशवा पूर्णतया अंग्रेजों के चंगुल में था। वह उससे पूरा लाभ उठा सकते थे। यहाँ उन्होंने बाजीराव को आश्वासन दिलाया कि वह फिर उसे पूना की गद्दी पर बैठा देंगे। उसके बदले वही १८०२ ई० में उसने एक नये सन्धि-पत्र पर हस्ताक्षर किये जिसके अनुसार उसने अपने साम्राज्य में सहायक सेना रखना स्वीकार कर लिया। उसके खर्च के लिये अपना एक इलाका कम्पनी के नाम कर दिया और वचन दिया कि वह बिना अंग्रेजों की सलाह के किसी भारतीय नरेश से कोई सम्बन्ध कायम न करेगा। इस प्रकार पेशवा ने बेसीन की सन्धि से मरहटा-संघ को पतनोन्मुख कर दिया। यदि होल्कर से परास्त बम्बई की ओर भागने के बदले वह सिंधिया के पास चला गया होता, तो मरहटा-साम्राज्य का इतना शीघ्र पतन न होता।

बाजीराव का पुनरभिषेक :— पेशवा से इस प्रकार संधि कर उसे पूना की गद्दी पर बैठाने के लिये दक्षिण में एक विशाल सेना का आयोजन किया गया। हैदराबाद, मैसूर इत्यादि की सहायक सेनाएँ भी उससे आ मिलीं। मार्च सन् १८०३ ई० में कम्पनी की विशाल सेना ने प्रस्थान

किया। जसवन्तराव होल्कर को जब यह ज्ञात हुआ तो वह बाजीराव के भाई को, जिसे उसने बाजीराव के भागने पर पेशवा बना दिया था, पूना में निःसहाय छोड़ निजाम के नगर औरंगाबाद को लूटता इन्दौर की ओर चला गया। जब कम्पनी की सेनायें पूना पहुँचीं तो यह नया पेशवा नगर छोड़कर भाग गया। १३ मई को बाजीराव ने पूना में प्रवेश किया और फिर पेशवा ने गद्दी ग्रहण कर ली।

दूसरा मरहटा युद्ध :—सिंधिया और भोंसला दोनों इस बात को अच्छी तरह समझते थे कि पेशवा का इस प्रकार विदेशियों के फंदे में फँस जाना मरहटा स्वाधीनता के लिये अत्यन्त घातक है। वेल्लेज़ली भी जानता था कि बेसीन को सन्धि को मान्य बनाने के लिये उसे सिंधिया तथा भोंसला से स्वीकृत कराना आवश्यक है। परन्तु वह यह भी जानता था कि संधि की कुछ शर्तें ऐसी हैं कि उन पर सिंधिया की स्वीकृति मिलना असम्भव है। अतः वेल्लेज़ली ने भोंसला तथा सिंधिया को बिना सन्धि की प्रतिलिपि भेजे केवल यह कहकर, कि इस सन्धि का प्रभाव पेशवा तथा भोंसला व सिंधिया के सम्बन्ध पर बिलकुल न पड़ेगा, उनकी स्वीकृति प्राप्त करनी चाही। परन्तु सिंधिया अथवा भोंसला इस प्रकार मानने वाले न थे। दूसरी ओर सन्धि को उन्हें दिखाना युद्ध घोषित करना था। इसलिये वेल्लेज़ली बार २ यही लिखता रहा कि सन्धि में सिंधिया तथा भोंसला के लिये कोई अहितकर बात नहीं है। अतः वे इसको स्वीकार कर लें और दूसरी ओर युद्ध की तैयारी आरम्भ कर दी। साथ ही उसने अपने ग्वालियर रेजीडेंट कर्नल कोलिन्स को लिखा कि वह सिंधिया के दरबारियों में से कुछ को अपनी ओर मिलाकर उसमें आन्तरिक निर्बलता उत्पन्न करे जब सब तैयारी पूरी हो चुकी तो गवर्नर जनरल ने फिर सिंधिया तथा भोंसले से बेसीन की संधि की स्वीकृति चाही परन्तु सिंधिया ने लिखा कि इसका उत्तर बिना सन्धि देखे तथा बिना सबके पेशवा से मिले नहीं दिया जा सकता। उधर पेशवा भी अपनी शोचनीय पराधीनता का अनुभव करने लगा था। उसने भी सिंधिया और भोंसला के पास अपने विशेष दूत भेजे और उन्हें सलाह के लिये शीघ्र पूना बुलाया। वेल्लेज़ली खूब समझता था कि मरहटा-संघ के सदस्यों को पूना में एकत्रित होना कम्पनी के लिये कितना घातक था। अतः उसने एक ओर पेशवा पर दबाव डालना

आरम्भ कर दिया कि वह सिंधिया तथा भौंसला को लिख भेजे कि वह पूना न आवें। दूसरी ओर सिंधिया को लिखना शुरू कर दिया कि उसको पूना पहुंचना कम्पनी की मित्रता को ठेस पहुंचाना होगा। इन सब प्रयत्नों का परिणाम यह हुआ कि इन नरेशों ने पूना जाना स्थगित कर दिया। इसी बीच वेलेज़ली ने युद्ध की पूरी तैयारी कर ली। अतः उसने अपने भाई आर्थर वेलेज़ली को एक गुप्त पत्र द्वारा आदेश दिया कि वह बिना उससे पूछे, जब स्थिति ठीक समझे महाराजा सिंधिया अथवा भौंसला पर आक्रमण कर दे। दूसरी ओर लार्ड लोक को उत्तरी भारत में मरहठों से लोहा लेने के लिये नियत किया।

स्थिति पर इस प्रकार अधिकार कर वेलेज़ली ने सिन्ध की एक एक प्रतिलिपि सिंधिया तथा भौंसला के पास भेज दी-और शीघ्र उसकी स्वीकृति माँगी। इसके उत्तर में सिंधिया तथा भौंसला ने वेलेज़ली से प्रार्थना की कि बाजीराव के पास तक उनके दूतों के पहुँचने और लौटने की प्रतीक्षा की जावे। तब सब मामला शान्तिपूर्वक तय हो जावेगा। परन्तु वेलेज़ली कहां मानने वाला था, वह अब युद्ध के लिये पूर्ण रूप से तैयार था इसलिये उसके संकेत से अंग्रेज रेजिडेंट सिन्धिया दरबार छोड़कर चला आया और ६ अगस्त सन् १८०३ ई० को वेलेज़ली ने कम्पनी और मरहठों के बीच युद्ध-घोषणा दर दी।

जसवन्तराव होल्कर की तटस्थता :—वेलेज़ली जानता था कि इस तैयारी के होते हुए भी संयुक्त मरहठा-शक्ति का सामना करना अत्यन्त दुस्तर है। इसलिये उसने पहले ही से जसवन्तराव होल्कर को सिन्धिया तथा भौंसला से पृथक् रखने का प्रयत्न किया था। अंग्रेजों की ही सहायता से वह काशीराव होल्कर को गद्दी से उतार कर इन्दौर की गद्दी पर बैठा था। युद्ध के समय वेलेज़ली ने अपना एक दूत होल्कर की सेवा में भेजा, जिसने अंग्रेजों की ओर से बड़े-बड़े झूठे वायदे किये। जसवन्तराव अंग्रेजों की चाल में आ गया और उसने मरहठा-संघ के इस संकट के समय में तटस्थ रहना स्वीकार कर लिया। गायकवाड़ पहले ही मरहठा-मण्डल से पृथक् हो चुका था। पेशवा अंग्रेजों की ओर था ही, इस प्रकार परिस्थिति को अनुकूल बना अङ्गरेजों ने सिंधिया तथा भौंसला की शक्ति को तोड़ने का प्रयत्न किया।

असी का युद्ध :—युद्ध की घोषणा होते ही आर्थर वेलेजली पेशवा की नई सहायक सेना के साथ सिन्धिया का सामना करने के लिये आगे बढ़ा, पूना और औरंगाबाद के बीच अहमदनगर में सिन्धिया का एक सुदृढ़ दुर्ग था। किलेदार को रिश्तत दे आर्थर ने इस पर अधिकार कर लिया। इसी बीच सिन्धिया और भोंसला ने अपनी सेनायें हैदराबाद की उत्तरी सीमा पर जमा कर लीं। परन्तु यह सोचकर कि अङ्गरेजों की मुख्य सेना हैदराबाद में है, सिन्धिया अपनी पैदल सेना और तोपखाने को बरार की सरहद से मिले हुए असी नामक ग्राम में छोड़ आगे बढ़ता चला गया। आर्थर वेलेजली इन सब बातों की सूचना लेता रहता था। इस स्थिति से लाभ उठाने के लिये वह तुरन्त असी पहुँचा और सिन्धिया की अस्त-व्यस्त सेना पर आक्रमण कर दिया। फलस्वरूप असी के स्थान पर घोर संग्राम हुआ। मैदान अङ्गरेजों के हाथ रहा और सिन्धिया का तोपखाना अंगरेजों के हाथ लगा।

बुरहानपुर तथा असीरगढ़ विजय :—असी के युद्ध के बाद सिन्धिया और भोंसला की सेनायें निज़ाम के इलाके से हट कर खानदेश की ओर बढ़ीं। इसी बीच अङ्गरेजी सेना ने बुरहानपुर तथा असीरगढ़ के किले जीत लिये।

अरगाँव पर विजय :—अब कर्नल वेलेजली ने सिन्धिया तथा भोंसले को अलग-अलग करने का प्रयत्न किया। उसने सोचा कि एक साथ सिन्धिया के गुजरात प्रदेश पर तथा भोंसला के गाविलगढ़ किले पर आक्रमण किया जावे। इसी बीच सिन्धिया को धोखे में रखने के लिये उसने उससे सन्धि की बातचीत आरम्भ कर दी। सिन्धिया सन्धि की शर्तों पर विचार कर ही रहा था कि आर्थर वेलेजली की सेनाओं ने अरगाँव के किले पर आक्रमण कर उस पर अपना अधिकार कर लिया।

भोंसला के राज्य में विजय तथा देवगाँव की सन्धि :—साथ ही उन्होंने भोंसला के गाविलगढ़ के प्रसिद्ध किले पर आक्रमण कर दिया और उसे विजय कर लिया। दूसरी ओर एक सेना ने पूर्व दिशा में बढ़ कर भोंसला राज्य के उड़ीसा प्रान्त पर अधिकार कर लिया। यह देखकर भोंसला बहुत भयभीत हुआ, वह सोचने लगा कि कहीं अंगरेज नागपुर भी न ले लें। इसलिये उसने चुपचाप दिसम्बर १८०३ ई० में देवगाँव के स्थान पर

अंगरेजों से सन्धि कर ली। उसने सहायक सन्धि की सब शर्तें स्वीकार कर लीं और वचन दिया कि वह भविष्य में निज़ाम के राज्य में लूट-मार न करेगा। इसके अतिरिक्त उड़ीसा प्रान्त उसे अंगरेजों को देना पड़ा।

सिन्धिया से साम्राज्यव्यापी युद्ध :—जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है—बेलेज़ली ने सिन्धिया के समस्त साम्राज्य में एक साथ युद्ध छेड़ने की योजना बनाई थी। इसलिये लार्ड लेक को सिन्धिया के उत्तरी साम्राज्य पर आक्रमण करने के लिये नियत किया गया था। युद्ध-घोषणा होते ही वह अवध से रवाना हुआ और अलीगढ़, देहली, आगरा और उनके निकटवर्ती समस्त प्रदेश पर विजय प्राप्त करता वह अलवर पहुँचा। यहाँ सिन्धिया तथा लार्ड लेक की सेनाओं में लासबाड़ी के स्थान पर घोर संग्राम हुआ जिसमें सिन्धिया हार गया। भड़ौच और बुन्देलखंड में भी उसकी सेनायें परास्त हो चुकी थीं। भौसला के संधि करने के कारण उसका नाहस भी कुछ कम हो गया था। अंगरेज भी सन्धि करने के लिये उत्सुक थे क्योंकि वह भी लड़ाई से थक गये थे और निरन्तर लड़ाई के खर्च ने उनका आर्थिक दशा शोचनीय कर दी थी।

सिर्जी अर्जुन गाँव की संधि :—दिसम्बर १८०३ ई० में सिन्धिया ने सिर्जी अर्जुन गाँव के स्थान पर अंगरेजों से सन्धि कर ली। उसने सहायक सन्धि की सब शर्तें मान लीं। सिन्धिया राज्य के जो प्रान्त अंगरेज जीत चुके थे, कम्पनी के राज्य में मिला लिये गये।

तीसरा मरहटा युद्ध :—जिस समय अंगरेज सिन्धिया तथा भौसला के साथ युद्ध को दैयारा कर रहे थे इस समय उन्होंने अनेकों सूटे वायदे कर जसवन्तराव होल्कर को अपनी ओर मिला लिया था। इन वायदों का अर्थ केवल इतना ही था कि होल्कर सिन्धिया और भौसला से न मिले। अदूर-दर्शी होल्कर अंगरेजों की इस चाल को न समझ सका। सिन्धिया और भौसला पर विजय प्राप्त करते ही जब अंगरेजों ने एकाएक जसवन्तराव की ओर अपना बर्ताव कठोर किया तो उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। फिर भी उसने जनरल लेक को लिखा कि द्वितीय मरहटा-युद्ध के आरम्भ में गवर्नर जनरल ने जो उससे वायदे किये, वह पूरे किये जावें। जिसके उत्तर में गवर्नर जनरल ने लिखा कि जसवन्तराव होल्कर ने कुल की गद्दी पर बलात् अधि-कार जमा रक्खा है। यह काशीराव होल्कर के अधिकारों का अमानुषिक

अपहरण है। इसलिये उससे किया हुआ कोई समझौता न्यायसंगत नहीं हो सकता। जसवन्तराव को यह पत्र भेज वेलेज़ली ने लार्ड लेक को युद्ध की तैयारी का आदेश दिया। तैयारी का समय प्राप्त करने के लिये उसने होल्कर से पत्र-व्यवहार जारी रखा। होल्कर ने भी अपने वायदे पूरा कराने के लिये अपना एक वकील लार्ड लेक की सेवा में भेजा।

युद्ध की घोषणा :—जब वेलेज़ली अपनी पूरी तैयारी कर चुका त, उसने घोषित किया कि जसवन्तराव होल्कर ने काशीराव होल्कर को गद्दी से उतार इन्दौर की गद्दी पर अधिकार कर रखा है। काशीराव को इस प्रकार उसके न्यायोचित अधिकार से वंचित रखना उसके अधिकार का बलात् अपहरण है। अंगरेज कम्पनी अपने मित्र मरहटों के राज्य में इस प्रकार का अनुचित व्यवहार सहन नहीं कर सकती। इसलिये वह जसवन्तराव होल्कर के विरुद्ध युद्ध घोषित करती है।

युद्ध :—होल्कर से युद्ध आरम्भ हो गया। जनरल वेलेज़ली ने कर्नल मरे को, जो उस समय गुजरात में था, लिखा कि वह अपनी ओर से गायकवाड़ की सहायक सेना ले होल्कर की राजधानी इन्दौर पर आक्रमण करे। और स्वयं चान्दोर का घेरा डालने के लिए आगे बढ़ा, परन्तु दोनों को कोई सफलता न मिली। दूसरी ओर होल्कर ने बुन्देलखंड स्थित अंगरेज सेना पर आक्रमण कर दिया और उसे बुरी तरह परास्त किया। यह देख लार्ड लेक तथा जनरल वेलेज़ली की स्थिति की गम्भीरता का पता चला। अब उन्होंने तीन ओर से होल्कर पर आक्रमण करने की योजना बनाई। सबसे मुख्य सेना उत्तर में जनरल लेक के अधीन, दूसरी सेना दक्षिण में कर्नल वेलेस के अधीन तथा तीसरी गुजरात में कर्नल मरे के अधीन होल्कर पर आक्रमण करने के लिये तैयार की गई। जनरल लेक ने एक सुव्यवस्थित सेना कर्नल मानसन के नेतृत्व में होल्कर राज्य पर आक्रमण करने के लिये भेज दी। इसी समय कर्नल मरे ने गुजरात की ओर से उज्जैन पर चढ़ाई कर दी; परन्तु रसद समाप्त होने के कारण मरे को गुजरात वापिस लौटना पड़ा। और मानसन को होल्कर ने कोटा से लगभग तीस मील दक्षिण में ऐसी बुरी तरह हराया कि अंगरेजों के ढक्के छूट गये। सहस्रों जानें नष्ट हो गईं। मानसन स्वयं घबरा कर रणस्थल से भाग निकला। जनरल लेक ने उसकी सहायतार्थ सेना भेजी, परन्तु वह फिर

परास्त हुआ। यह देख कर लार्ड लेक को बड़ा दुःख हुआ। विजय का एकमात्र कारण यह था कि होल्कर सेना में अंगरेजों का अमोघ अस्त्र रिश्वत व फूट न चल सका था। उक्त पराजय से अंगरेजों का बड़ा अपयश फैला और होल्कर की प्रसिद्धि बहुत बढ़ गई।

विराट सैन्य आयोजन :—होल्कर की सफलता ने वेल्लेज़ली को चकित कर दिया और वह अंगरेजी सेनायें अपनी सरहद से बाहर निकाल चुका था। अब डर था कि कहीं वह कम्पनी के अधिकृत दोआब प्रदेश पर आक्रमण न कर दे इसलिये वेल्लेज़ली ने दिल्ली, आगरा, मथुरा में सेनायें बढ़ाईं और इन स्थानों तक पहुँचने के मार्गों की रक्षा का विशेष प्रबन्ध किया। परन्तु होल्कर इन सब सेनाओं को चीरता मथुरा आ पहुँचा और कम्पनी की सेना को परास्त कर उस पर अधिकार कर लिया। जब होल्कर इधर बढ़ रहा था तब गुजरात से कर्नल मरे मालवा में तथा कर्नल वेल्लेस होल्कर राज्य के दक्षिणी भाग में विजय प्राप्त कर रहे थे। मथुरा पर अधिकार प्राप्त करने के बाद होल्कर दिल्ली पर अधिकार करने के लिये चला, परन्तु दिल्ली की रक्षा का बहुत अच्छा प्रबन्ध कर और उसे योग्य सेनापतियों के अधीन छोड़ लेक स्वयं होल्कर का पीछा करने के लिये मथुरा की ओर चला आया था। जब होल्कर को यह पता लगा तो वह दिल्ली छोड़ सहारनपुर की ओर चला गया। यहाँ उसे सुसरू की वेगम आदि देशी नरेशों से सहायता की आशा थी परन्तु वह पूरी न हुई; क्योंकि इन्हें पहले ही अंगरेजों ने खरीद लिया था। जब यहाँ होल्कर का किसी ने साथ न दिया तो वह भरतपुर की ओर चला और डीग के किले में दाखिल हो गया। लेक अपनी सेना लेकर डीग पहुँचा और किले का घेरा डाला। परन्तु इससे पहले, कि अंगरेजी सेना किले पर अधिकार करे, होल्कर एक दूसरे मार्ग से अपनी सेना सहित भरतपुर पहुँच गया। अंगरेजों ने भरतपुर के राजा रणजीतसिंह से कहा कि वह होल्कर को उसके हवाले कर दे। राजा के स्वाभिमान ने इसकी आज्ञा न दी, इसलिये लेक भरतपुर पहुँचा और उसने किले का घेरा डाल दिया।

भरतपुर का घेरा :—भरतपुर का किला अत्यन्त सुदृढ़ बना हुआ था। अंगरेजी सेना ने बार-बार भरतपुर में प्रवेश करने का प्रयत्न किया, परन्तु असफल रही। अब राजा रणजीतसिंह को धन का प्रलोभन दे अपनी

और मिलाने का प्रयत्न किया गया, परन्तु वह भी निष्फल रहा। लाचार हो लेक ने भरतपुर से सन्धि की प्रार्थना की, परन्तु लेक के जोर देने पर भी उसने होल्कर को अंग्रेजों के हवाले करना स्वीकार न किया। अन्त में लेक ने भरतपुर का घेरा उठा लिया और अंग्रेजों तथा भरतपुर के राजा रणजीत-सिंह में सन्धि हो गई।

होल्कर का भरतपुर से निकलना :—भरतपुर व अंग्रेजों में सन्धि होने के बाद होल्कर भरतपुर से चलकर सिंधिया से आ मिला। इन दोनों बलवान नरेशों के मिलने से वेलेज़ली को बहुत घबराहट हुई, उसने लेक को सिंधिया का पीछा करने के लिए लिखा। परन्तु लेक भी युद्ध से थक चुका था। कम्पनी की आर्थिक कठिनाइयाँ बढ़ती जा रही थीं। इसलिए लेक पीछा न कर सका। इसी बीच लार्ड वेलेज़ली को इंग्लैण्ड वापिस बुला लिया गया और उसकी जगह दोबारा लार्ड कार्नवालिस को भारत का गवर्नर जनरल बनाकर भेजा गया। वेलेज़ली ने अपने समस्त शासन-काल में कोई ऐसा कार्य न किया था कि कोई भारतवासी उसे प्रेम अथवा कृतज्ञता से याद करता। इंग्लैण्ड की पार्लियामेंट में उसके विरुद्ध मुकदमा चलाया गया, जिसमें कुछ स्पष्टवादी सदस्यों ने वेलेज़ली की नीति का सच्चा रूप प्रदर्शित किया, परन्तु अन्त में वेलेज़ली की सराहना का एक प्रस्ताव पास कर यह मुकदमा उठा लिया गया। भारत में अंगरेजी राज्य के प्रत्येक संस्थापक पर उसके कुकृत्यों के कारणों से उनके ही देश में मुकदमा चलाया जाना उनकी अनुचित नीति का प्रबल प्रमाण है।

सोलहवां अध्याय

शांति का युग (१८०५-१३ ई०)

लार्ड कार्नवालिस, सर जार्ज वॉलर्न तथा लार्ड मिंटो

कार्न वालिस तथा मरहठे :—कम्पनी की आर्थिक कठिनाइयों तथा पराजय के नूतन चित्र ने कार्नवालिस को विवश कर दिया कि वह तुरन्त मरहठों से सन्धि कर ले। उसने लार्ड लेक को लिखा कि वह सिंधिया तथा होल्कर से सन्धि के लिए पत्रव्यवहार करे। अभी पत्रव्यवहार चल ही रहा था कि भारत में आने के केवल तीन महीने बाद अक्टूबर १८०५ ई० में लार्ड कार्नवालिस का देहान्त हो गया।

सर जार्ज बालो तथा सिंधिया से संधि :—लार्ड कार्नवालिस की मृत्यु के पश्चात् गवर्नर जनरल की कौंसिल का प्रमुख सदस्य सर जार्ज बालो भारत का गवर्नर जनरल नियुक्त हुआ। देश की परिस्थिति तथा कंपनी की आर्थिक कठिनाइयाँ इस समय युद्ध स्थगित कर होल्कर और सिंधिया से सन्धि करने को बाध्य कर रही थीं। इसलिए बालो ने कार्नवालिस की नीति का अनुसरण कर इन राजाओं से सन्धियाँ कर लीं। इस नई सन्धि ने १८०३ ई० को सिर्जी अर्जुनगाँव की सन्धि को रद्द कर दिया। सहायक संधि का जुआ उसकी गर्दन से हटा लिया गया। गोहद का प्रांत और ग्वालियर का किला उसको वापिस दे दिया गया। जयपुर, जोधपुर, उदयपुर, कोटा आदि राजपूतानों को रियासतें सिंधिया की अधिकृत रियासतें स्वीकार की गईं, और अंगरेजों ने वचन दिया कि वह इन रियासतों तथा सिंधिया की अधिकृत अन्य रियासतों से कोई पृथक् सन्धि न करेंगे। दोआब में सिंधिया के जिन ज़िलों पर अंगरेजों ने अधिकार कर रखा था, उनमें से कुछ सिंधिया को वापिस दे दिये गये और शेष के बदले में अंगरेजों ने ४ लाख रुपया वार्षिक सिंधिया को देने का वचन दिया। चम्बल नदी सिंधिया के राज्य की सीमा स्वीकार कर ली गई। सिंधिया के लिए सन् १८०३ ई० की सन्धि की अपेक्षा यह सन्धि कहीं अधिक सम्मानपूर्ण थी।

होल्कर का प्रयत्न :—इसके बाद सर जार्ज बालो ने जसवन्तराव होल्कर से सन्धि प्रस्ताव रखा। उसने सन्धि करने से इन्कार कर दिया। यद्यपि वह बहुत समय से अपने देश से निर्वासित था। अपनी सेना के देने के लिए उसके पास धन की भी कमी थी। फिर भी उसका साहस न टूटा। वह अभी तक उत्तरी भारतीय नरेशों को मिलाकर अंगरेजों को भारत से निकालने की सोच रहा था। १८०३ ई० के आरम्भ में वह अपने रहे-सहे साथियों को लेकर अजमेर से पंजाब की ओर बढ़ा। लार्ड लेक ने उसका पीछा किया। व्यास नदी के किनारे दोनों सेनाओं की मुठभेड़ हुई। परन्तु कोई निर्णायक युद्ध न हो सका। लार्ड लेक को डर था कि कहीं महाराजा रणजीतसिंह होल्कर का साथ न दे दे। परन्तु अंगरेजों के प्रभाव से अथवा किसी अन्य कारणवश जब जसवन्तसिंह होल्कर ने महाराजा रणजीतसिंह से भारतवर्ष के नाम में सहायता की प्रार्थना की तो उसने सहायता देने के बदले उससे प्रार्थना की कि वह अंगरेजों से सन्धि कर ले। पंजाब में अब

तक एक किंवदन्ती प्रसिद्ध है कि “जसवन्तराव ने महाराजा रणजीतसिंह को लांछना देते हुए कहा कि यदि अपने एक विपत्तिग्रस्त अतिथि और देश-वासो की ओर आपका यही धर्म-पालन है तो स्मरण रहे कि मेरे कुल में राज्य रह जायेगा, किन्तु आपके कुल की सत्ता का शीघ्र अन्त हो जायेगा।” यदि यह किंवदन्ती सच है तो होल्कर की यह भविष्यवाणी सत्य सिद्ध हुई। होल्कर-कुल में राज्य अब तक चलता रहा, जब कि रणजीतसिंह का वंश शीघ्र ही समाप्त हो गया।

होल्कर से सन्धि :—महाराजा रणजीतसिंह का यह व्यवहार देख होल्कर को सन्धि स्वीकार करनी पड़ी। २४ दिसम्बर सन् १८०५ ई० को सन्धि हो गई, जिसके अनुसार ताप्ती तथा गोदावरी के दक्षिण का होल्कर का वह सारा राज्य, जिस पर अंगरेजों ने अधिकार कर लिया था, होल्कर को वापिस कर दिया गया और जसवन्तराव को अपने पूरे राज्य का स्वाधीन नरेश स्वीकार कर लिया गया।

बेलौर का ग़दर :—सर जार्ज के गवर्नर काल की दूसरी मुख्य घटना बेलौर का ग़दर था। उस ग़दर का एकमात्र कारण भारत में ईसाई-मत प्रचार का उत्साह था। धीरे-धीरे यह उत्साह इस सीमा तक पहुँच गया कि भारतीय सेना को आज्ञा दी गई कि वह कोई सिपाही छूट्टी पर या वर्दी पहने हुए अपना धार्मिक चिन्ह धारण न करे—जैसे तिलक आदि लगाना। इस पर जौलार्ड सन् १८०६ ई० की रात को बेलौर की छात्रनी के हिन्दुस्तानी सिपाही बिगड़ खड़े हुए। उन्होंने अपने कमांडिंग अफसर को मार दिया। बग़ावत शान्त कर दी गई और विद्रोहियों को कठोर दण्ड दिया गया। टीपू सुल्तान के बेटे और उसके घर के अन्य लोग उस समय बेलौर में कैद थे। कहा गया कि उनका विद्रोह से अवश्य सम्बन्ध है, इसलिए उन्हें बेलौर से हटाकर बंगाल भेज दिया गया।

लार्ड मिन्टो का आगमन :—सन् १८०७ ई० में सर जार्ज वालो मद्रास का गवर्नर बना दिया गया और उसकी जगह लार्ड मिन्टो गवर्नर बनरल होकर आया।

लार्ड मिन्टो (१८०७-१८१२ ई०)

कम्पनी की स्थिति :—लार्ड मिन्टो के आगमन के समय कम्पनी

दशा अत्यन्त शोचनीय थी। निरन्तर युद्ध के कारण राजकोष खाली हो चुका था। तीसरे, मरहटा-युद्ध की असफलता के कारण अंगरेजों की कीर्ति को भी धक्का पहुँचा था। अंगरेजी राज्य के अन्दर प्रजा दुखी एवं असन्तुष्ट थी और डर था कि असन्तुष्ट प्रजा अपने विदेशी शासकों के विरुद्ध विद्रोह न कर बैठे। देश के अन्दर होल्कर, सिंधिया तथा भौसला जैसे प्रबल नरेशों के होते हुए इसकी और भी आशंका थी। सन् १८०७ ई० में यूरोप में टिलसिट के स्थान पर रूस के सम्राट् और नैपोलियन के बीच सन्धि हुई, जिसमें इन दोनों सम्राटों ने भारत पर आक्रमण करने तथा उसे जीतकर आपस में बाँटने का निश्चय किया। इस प्रकार लार्ड मिण्टो के सामने बड़ी विकट परिस्थिति थी। मिण्टो ने इस परिस्थिति का धैर्यपूर्वक सामना किया, उसने सर्वप्रथम विदेशी संकट की ओर ध्यान दिया।

लार्ड मिण्टो तथा ईरान व अफगानिस्तान :—रूस तथा फ्रांस के भारत पर आक्रमण करने के दो ही मार्ग हो सकते थे। ईरान से होते हुए अथवा अफगानिस्तान के द्वारा। इसलिए इंग्लैंड के मन्त्रियों ने रूस तथा फ्रांस के प्रयत्न को विफल करने के लिए जोन्स को इंग्लैंड का राजदूत नियुक्त करके ईरान भेजा। लार्ड मिण्टो ने सर जान मैलकम को उसकी सहायता के लिए रवाना किया। जोन्स के प्रयत्न से ईरान तथा इंग्लैंड में सन्धि हो गई। इसी बीच एक दूसरे राजदूत के प्रयत्न से, जिसका नाम एल्फिंस्टन था और जो अफगानिस्तान भेजा गया था, अफगानिस्तान तथा अंगरेजों के बीच में सन्धि हो गई; जिसके अनुसार एक-दूसरे ने एक-दूसरे को संकट के समय सहायता देने का वचन दिया।

सिन्ध से सन्धि :—अफगानिस्तान तथा ईरान के अतिरिक्त लार्ड मिण्टो ने सिन्ध तथा पंजाब में अपने राजदूत भेजे। यह देश भी रूस तथा फ्रांस के जल तथा स्थल मार्ग में पड़ते थे। इसलिए इनसे मित्रता करना भी आवश्यक था। १३ अगस्त सन् १८०९ ई० को कम्पनी और सिन्ध के अमीरों के बीच एक सन्धि हो गई जिसके अनुसार दोनों सरकारों के बीच रूस के साथ मित्रता तथा एक दूसरे के साथ व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित हो गया। यह भी तय हुआ कि सिन्ध का एक राजदूत अंगरेजों के यहाँ तथा अंगरेजों का राजदूत सिन्ध में रहा करे। और फ्रान्सीसियों को सिन्ध में

रहने की आज्ञा न दी जाये। इस प्रकार सिन्ध में अंगरेजी एजेन्सी की स्थापना हो गई, जो शीघ्र ही अमीरों को ले डूबी।

लार्ड मिण्टो और महाराजा रणजीतसिंह :—सतलज नदी के उस पार महाराजा रणजीतसिंह का राज्य था। वह नाम को कानुल के बाद-शाह का सामन्त था। रणजीतसिंह अनपढ़ किन्तु वीर और योग्य सेनापति था। उसमें दूरदर्शिता तथा नीतिज्ञता की कमी थी। अंगरेज लोग पंजाब की सरहटा राज्य तथा अफगानिस्तान के बीच एक स्वतन्त्र राज्य रखना चाहते थे, जिससे दोनों के विरुद्ध उसे समयानुकूल प्रयोग किया जा सके। रणजीतसिंह स्वयं भी एक छोटे से स्वतन्त्र साम्राज्य का स्वामी बनना चाहता था। सन् १८०८ ई० में लार्ड मिण्टो का दूत सर चार्ल्स मेटकाफ रणजीतसिंह से जा मिला। उसने महाराजा को समझाया कि फ्रान्सीसी पंजाब और अफगानिस्तान पर आक्रमण करना चाहते हैं। इसलिए उसे अंगरेजों से संधि कर लेनी चाहिए। प्रारम्भ में संधि-वार्ता सफल न हो सकी, क्योंकि रणजीतसिंह सतलज और जमुना के मध्य स्थित सिक्ख रियासतों को अपने आधिपत्य में लेना चाहता था, जब कि अंगरेज इसका विरोध कर रहे थे। परन्तु जब अंगरेजों ने महाराजा को यह लोभ दिया कि वह अफगानिस्तान पर आक्रमण कर उत्तर और पश्चिम की ओर अपना साम्राज्य बढ़ा ले और इसके बदले सतलज और जमुना के बीच का प्रदेश छोड़ दे तो उसकी समझ में आ गया। अतः १८०९ ई० में रणजीतसिंह और अंगरेजों के बीच संधि हो गई। इस प्रकार अपनी बाह्य स्थिति दृढ़ कर लार्ड मिण्टो देश के आन्तरिक संकट की ओर आकृष्ट हुआ।

मिण्टो तथा सरहट्टे :—१८०८ ई० में जसवन्तराव होल्कर बीमार पड़ा और एकाएक पागल हो गया। तुरन्त होल्कर दरबार में दो दल खड़े हो गये। अन्त में अंगरेजों के प्रयत्न से यह तय हुआ कि जसवन्तराव की उन्माद की अवस्था में उसकी रानी तुलसीबाई के नाम में अमीरखाँ, जो अंगरेजों का मित्र तथा होल्कर का विश्वासपात्र था, राज्य का समस्त कार-बार करे। थोड़े दिनों बाद जसवन्तराव की मृत्यु हो गई और उसका दत्तक पुत्र मल्हारराव होल्कर गद्दी पर बैठा। तब भी राज्य की बागडोर अमीर-खाँ के हाथ में ही रही। इस प्रकार अंगरेजों के सौभाग्य से होल्कर की ओर से स्वतः ही अंगरेजों का भय दूर हो गया।

मिरटो की वापसी :—सन् १८१३ ई० में लार्ड मिरटो वापस बुला लिया गया और उसकी जगह लार्ड हेस्टिंग्स भारत का गवर्नर जनरल बनाकर भेजा गया।

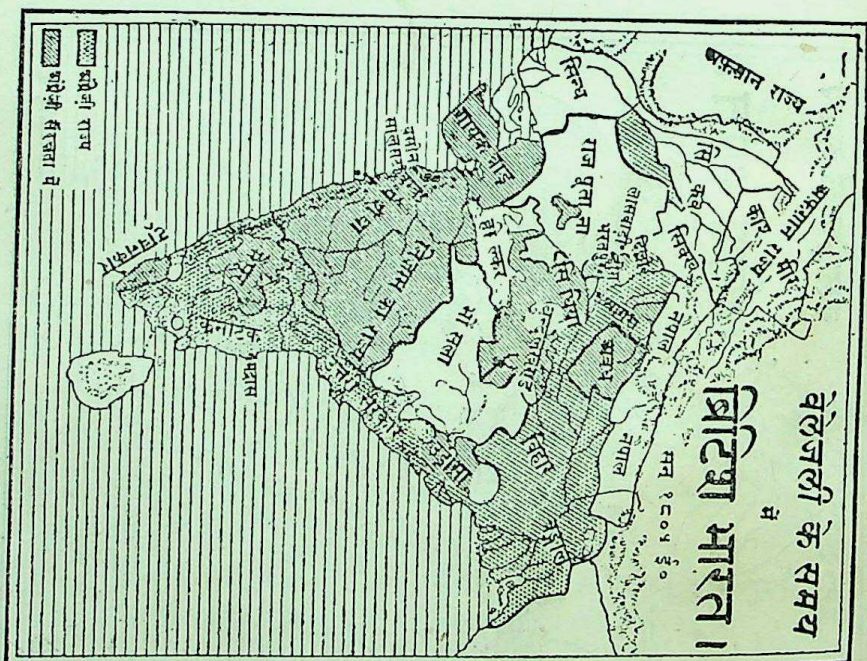
सत्रहवाँ अध्याय

साम्राज्य वृद्धि का द्वितीय युग

लार्ड हेस्टिंग्स (१८१३ ई०—१८२३ ई०)

सन् १८१३ ई० का चार्टर :—कम्पनी के अधिकारों को जारी रखने के लिये पार्लियामेंट को हर बीस वर्ष बाद नया कानून पास करना पड़ता था जिसे चार्टर ऐक्ट कहते थे। १८१३ ई० में पिछले चार्टर को बीस वर्ष हो चुके थे इसलिए सन् १८१३ ई० में पार्लियामेंट ने एक नया आज्ञापत्र प्रकाशित किया जिसे १८१३ ई० का चार्टर कहते हैं। कई वर्ष से नैपोलियन के कॉण्टिनेण्टल सिस्टम (Continental System) के कारण इंग्लैंड की वस्तुओं के लिये योरोप का बाजार बन्द हो गया था इसलिये इस बात की आवश्यकता हो रही थी कि इस साल के लिये बाजार तलाश किया जावे। भारतवर्ष से अच्छी और कौन जगह हो सकती थी। इसलिये इंग्लैंड की गवर्नमेंट ने नवीन चार्टर से समस्त अंगरेज व्यापारियों को भारत से व्यापार करने की आज्ञा दे दी परन्तु चीन के व्यापार का ठेका अगले २० वर्ष तक और ईस्ट इण्डिया कम्पनी को दे दिया गया। इस आज्ञापत्र से लाभ उठाकर इंग्लैंड के व्यापारियों ने अपने देश का अच्छा व बुरा सब माल भारत में खपाना चाहा। इस चार्टर के अनुसार कम्पनी को एक लाख रुपया वार्षिक भारत में शिक्षा के लिये खर्च करना भी अनिवार्य हो गया।

भारतीय उद्योग-धंधों का नाश :—अंगरेजों के भारत आने से हजारों वर्ष पूर्व भारत के बने हुए कपड़े और अन्य माल भारतवर्ष के बने हुए जहाजों में लदकर चीन, जापान, लंका, अरब, कम्बोडिया, मिश्र, इटली आदि सब देशों में जाते थे। उद्योग-धन्धों की दृष्टि से उस समय भारत संसार का सबसे उन्नत देश था। अपनी समृद्धि के कारण वह संसार में सोने की चिड़िया पुकारा जाता था।



१६ वीं शताब्दी के प्रारम्भ तक हिन्दुस्तान का बना हुआ तरह तरह का माल विशेषकर कपड़ा इंग्लैंड में जाकर बिकता था, परन्तु १८१३ ई० के चार्टर के बाद अंगरेज चाहते थे कि भारत इंग्लैंड को कच्चा माल दे और उसके बदले वहाँ का बना हुआ माल खरीदा करे। इसका अर्थ था भारतीय उद्योग-धन्धों पर वज्रपात और इंग्लैंड के धन्धों का प्रोत्साहन, वास्तव में यही हुआ। जो जो मुख्य उपाय इस नीति को सफल बनाने में उपयोग किये गये उन्हें संक्षेप में इस प्रकार कहा जा सकता है। इंग्लैंड के बने हुए माल को नाममात्र महसूल पर या बिना महसूल भारत में आने दिया जाय, इंग्लैंड में भारत के बने हुए माल पर इतना महसूल लगाया जावे कि वह वहाँ इंग्लैंड के बने हुए माल से सस्ता न बिक सके।

भारत के अन्दर चुंगी के नियमों तथा चुंगी की दर में इस प्रकार परिवर्तन किया जाये कि रुई इत्यादि कच्चा माल इंग्लैंड भेजने में आसानी हो और उसे भारतवासियों को बेचने में कठिनाई हो जिससे भारत का बाजार भी भारत व्यापार के लिये वन्द हो जाय। अंगरेज व्यापारियों और कारीगरों को भारत में रहने और काम करने के लिये धन की सहायता और अन्य सुविधायें दी जाँय, और भारतीय कारीगरों पर हर प्रकार का दबाव डालकर उनकी कारीगरी के रहस्यों का पता लगाया जावे।

उपरोक्त साधन इस कठोरता से प्रयोग में लाये गये कि धीरे-धीरे भारतीय उद्योग-धन्धों का सर्वनाश हो गया। श्रीसुन्दरलाल जी ने “भारत में अंगरेजी राज्य” प्रसिद्ध पुस्तक में भारतीय धन्धों के सर्वनाश का इतना स्पष्ट वर्णन दिया है कि पाठक के रोमांच खड़े हो जाते हैं और वह अंगरेज व्यापारियों के चरित्र पर आश्चर्य चकित हो दांतों तले अंगुली दबा लेता है। कहा जाता है कि माल पर चुंगी की दर ६० या ७० प्रतिशत से ६०० प्रतिशत तक कर दी गई। व्यापार-क्षेत्र में वीभत्स से वीभत्स अत्याचार की दैनिक क्रियायें हो गईं। फल यह हुआ कि भारतवर्ष के सब उद्योग-धन्धे सर्वथा चौपट हो गये। क्या कपड़ा, क्या जहाजों का उद्योग, क्या लोहे के उद्योग धन्धे, क्या कागज का व्यापार तथा क्या अन्य भिन्न-भिन्न धन्धे—सब का मलियामेट हो गया। और उन के सर्वनाश पर हुआ—संसार में सभ्य कहलाने वाले इंग्लैंड के उद्योग-धन्धों का उत्थान—जिसके परिणामस्वरूप सौ वर्ष के अन्दर ही धन-धान्य-पूर्ण भारत संसार का सबसे निर्धन देश हो गया।

नैपाल युद्ध :—लार्ड हेस्टिंग्स के शासन-काल का एक मुख्य कार्य नैपाल का युद्ध था। बहुत दिन से अंगरेजों की अभिलाषा थी कि अन्य देशों की भाँति भारत में भी अपने उपनिवेश बनायें, इसके लिये वे हिमालय की रमणीक घाटियों को सबसे उपयुक्त स्थान समझते थे। इसलिये देहरादून, कुमायूँ, गढ़वाल के प्रदेश पर बहुत दिनों से उनके दाँत थे। यह जिले नैपाल के स्वाधीन राज्य के अन्तर्गत थे। हेस्टिंग्स चाहता था कि किसी प्रकार वह नैपाल के राजा के इन जिलों को प्राप्त कर ले। परन्तु वह यह भी जानता था कि नैपाल बिना युद्ध के उन्हें नहीं छोड़ सकता। इसलिये हेस्टिंग्स गोरखों से छेड़-छाड़ करना चाहता था। परन्तु उसने युद्ध का प्रगट कारण दूसरा ही बनाया। सारन और गोरखपुर जिलों में भाग्य और नैपाल की सरहद मिलती थीं। १८१३ ई० के अन्त में सरहद की कुछ भूमि कम्पनी और नैपाल राज्य के बीच विवादग्रस्त थी। इसमें बुटवल और श्यौराज नामक गाँव मुख्य थे। इस प्रकार के विवाद जब कभी होते थे तो वह दोनों देशों के संयुक्त कमीशन के सुपुर्द कर दिये जाते थे। कमीशन का फैसला दोनों देशों को मान्य होता था। परन्तु इस बार हेस्टिंग्स ने शांति-पूर्वक मामले का निबटारा करने के बदले गोरखपुर से कम्पनी की सेना भेज कर उस भूमि पर अधिकार कर लिया। इस इलाके में कुछ थाने स्थापित कर अंगरेजी सेना वापिस चली आई। हेस्टिंग्स समझता था कि गोरखे उसकी इस अनधिकार चेष्टा को शांतिपूर्वक सहन कर लेंगे, परन्तु जब कुछ दिन बाद गोर्खा-सेना ने नये अंगरेजी थानों पर आक्रमण कर इस इलाके पर अधिकार कर लिया तो हेस्टिंग्स को माम कीले गम्भीरता का अनुभव हुआ। युद्ध के अतिरिक्त अब कोई चारा न था। दोनों राज्यों की सरहद बिहार में कोसी नदी से पञ्जाब में सतलज नदी तक लगभग ६०० मील तक मिलती थी। गवर्नर जनरल ने इस सरहद पर पाँच अलग अलग स्थानों से पाँच सेनाओं द्वारा नैपाल पर आक्रमण का प्रबन्ध किया। एक जनरल आक्टर लौनी के नेतृत्व में लुधियाने से, दूसरी मेरठ से, तीसरी बनारस से, चौथी मुर्शिदाबाद से तथा पाँचवी कोसी नदी के तट से। यह सब सेनायें काठमांडू में मिलने के लिये थीं। नैपाल दरबार ने भी उनका सामना करने के लिये बारह हजार सेना एकत्रित की; परन्तु उनके पास न इतने अच्छे हथियार थे और न इतना धन ही कि वे अधिक समय तक युद्ध संचालन कर सकते। फिर भी जिस वीरता से गोरखों ने अंगरेजों का मुकाबला

किया वह संसार में चिरस्मरणीय रहेगी। वीर बलभद्रसिंह ने मेरठ से जाने वाली सेना के देहरादून मोरचे पर दौट खट्टे कर दिये। इस सेना का सेनापति मेजर जनरल जिलेस्पी युद्ध में काम आया। अन्य तीन सेनाओं का भी यही हाल हुआ। केवल लुधियाने की ओर से जनरल आक्टर लोनी दृढ़तापूर्वक मालवाँ के प्रसिद्ध दुर्ग तक पहुँचा। यहाँ सरदार अमरसिंह ने डटकर उसका सामना किया। इसी बीच आक्टर लोनी को और सहायता प्राप्त हो गई और मालवा के किले हर अँगरेजों का अधिकार हो गया। इसी समय अवध के निकट कुमायूँ और गढ़वाल के सहायक शासक नेपाल दरबार के विरुद्ध अँगरेजों से मिल गये। इस प्रकार नेपाल साम्राज्य के दो सबसे अधिक उर्वर भाग अँगरेजों के अधिकार में आ गये। लाचार होकर १८१५ ई० में नेपाल राज्य को सन्धि करनी पड़ी जो सिंगौली की सन्धि के नाम से प्रसिद्ध है।

सिंगौली की संधि :—इस सन्धि के अनुसार नेपाल नरेश ने गढ़वाल और कुमायूँ के जिले अँगरेजों को देना स्वीकार कर लिया। तराई का बहुत बड़ा भाग भी उसने अँगरेजों के लिये खाली कर दिया। काठमांडू में एक अँगरेज रेजीडेंट रहने लगा और गोरखों ने वचन दिया कि वह भविष्य में अँगरेजों के साथ मित्रतापूर्वक वर्तान करेंगे। इस सन्धि से अँगरेजों को बड़ा लाभ हुआ। उन्हें १ करोड़ रुपया वार्षिक का प्रान्त प्राप्त हो गया। इसके अतिरिक्त प्रोथम के लिये नैनीताल मंसूरी इत्यादि रमणिक स्थान प्राप्त हो गये।

कच्छ, हाथरस, तथा मुरसान :—सिंध के दक्षिण तथा काठियावाड़ के उत्तर-पश्चिम में कच्छ, एक छोटा-सा स्वाधीन राज्य था। नेपाल-युद्ध के समय कच्छ के डाकुओं ने काठियावाड़ के किसी हिस्से में डाका डाला। काठियावाड़ के राजा अँगरेजों के मित्र थे। हेस्टिंग्स ने मित्र-भलाई का बहाना ले कच्छ पर आक्रमण कर दिया। और उस पर विजय प्राप्त कर अपने संरक्षण में ले लिया।

इसी प्रकार हाथरस और मुरसान नामक जाट रियासतों पर अधिकार प्राप्त किया गया। इन रियासतों पर आक्रमण करने के लिये अँगरेजों के पास कोई बहाना न था। हाथरस का किला हिन्दुस्तान के प्रसिद्ध किलों में से था १८१७ ई० के प्रारम्भ में अचानक कम्पनी की सेना ने पहुँच कर चारों ओर

से हाथरस के किले को घेर लिया और राजा दयाराम से कहा गया कि वह कुछ अंगरेज अफसरों को किला अन्दर से देख लेने दे, जिससे कि भरतपुर का किला विजय करने में सहायता मिल जाये। क्योंकि हाथरस का किला भी भरतपुर के नमूने का बना हुआ था। हाथरस और भरतपुर में मित्रता थी, इसलिये राजा ने इस माँग को पूरा करने से इन्कार कर दिया। इसलिये किले पर गोलाबारी शुरू कर दी गई। जब राजा ने देखा कि किला उसके हाथ में नहीं रह सकता तो वह रात्रि को उसे छोड़कर चला गया। इस प्रकार हाथरस पर अंगरेजों का अधिकार हो गया।

मुरसान के राजा भगवन्तसिंह ने जब देखा कि हाथरस पर अंगरेजों का कब्जा हो गया है, तो उसका साहस टूट गया। इसलिये उसने बिना लड़े ही किला और राज्य कम्पनी को दे दिये।

हेस्टिंग्स और पिण्डारी :—नैपाल-युद्ध के समाप्त होने पर हेस्टिंग्स की साम्राज्य-पिपासा और अधिक बढ़ गई। और उसने मरहटा-साम्राज्य को अंगरेजी राज्य में सम्मिलित करने का दृढ़ संकल्प किया। परन्तु युद्ध घोषित करने से पूर्व उसने मरहटों की सैन्य शक्ति को कम करना चाहा। यह उनके अत्यन्त विश्वास-पात्र तथा वीर सेनानी पिण्डारियों का दमन करके हो सकती थी। इसलिये मरहटों से छेड़-छाड़ करने से पूर्व हेस्टिंग्स ने पिण्डारियों को नष्ट करना चाहा।

पिंडारियों को अंगरेजों ने डाकू और लुटेरे कह कर बदनाम किया है। वास्तव में पिंडारी दक्षिणी भारत की एक पठान जाति थी। ये लोग प्रारम्भ से ही दक्षिण के भारतीय नरेशों के यहाँ सेना में सवार होते थे। इनके पास अपने घोड़े होते थे। हजारों पिंडारी मरहटों की सेनाओं में नौकर थे और मरहटों के सबसे अधिक विश्वस्त और वीर सेनानियों में गिने जाते थे, इनकी स्वयं की पलटनें होती थीं और उनमें हिन्दू सैनिक भी भर्ती कर लिये जाते थे। इनके तीन प्रमुख सरदार थे—अमीरखाँ, करीमखाँ और चील। अमीरखाँ होल्कर के यहाँ उच्च पदाधिकारी था और जसवंतराव होल्कर की मृत्यु के बाद नावालिग राजा सत्तारराव का शासन-भार वहन कर रहा था। करीमखाँ और चील दौलतराव सिंधिया की सेना में रह चुके थे। इनका मुख्य पेशा खेतो-बाड़ी था। कम्पनी के अफसरों ने स्वयं उन्हें उकसा कर मरहटों और राजपूतों विशेषकर जयपुर इत्यादि के इलाके इनसे

लुटवाये थे। कम्पना क इलाके पर आक्रमण करने के केवल दो उदाहरण प्राप्त हैं। एक १८०८-१९ में गुजरात के किसी भाग पर, दूसरा १८१२ ई० में मिर्जापुर और शाहबाद में।

वास्तव में मरहठों की इस उच्च सैनिक शक्ति को तोड़ने के लिये अंगरेजों ने पिंडारियों को डाकू और हत्यारे कहकर दबाना चाहा। पिंडारियों से झगड़ा मोल लेने के लिये सन् १८१५ ई० में अंगरेज सेना को एक टुकड़ी ने बिना गवर्नर की आज्ञा के पिंडारियों के एक जंथे पर आक्रमण कर दिया। इससे क्रुद्ध होकर पिंडारियों ने कृष्णा नदी के किनारे २ समस्त अंगरेजी राज्य में लूट-मार प्रारम्भ कर दी। यह देख हेस्टिंग्स ने इनको दमन करने के लिये चारों ओर विशाल सैन्य संगठन प्रारम्भ कर दिये। यह सैन्य संगठन वास्तव में पिंडारियों के दमन के लिये नहीं वरन् मरहठा-साम्राज्य पर आक्रमण करने के लिये थे। पिंडारियों का दमन केवल एक बहाना था।

कई स्थानों पर पिंडारियों तथा कम्पनी की सेनाओं में मुठभेड़ हुई, अन्त में पिंडारी परास्त हुए और जो पिंडारी सरदार अपने साथियों के साथ विश्वासघात करके अंग्रेजों से मिल गये, उन्हें जागीर दे दी गई। करीमखों को रियासत टोक मिली। चील् जंगल में भाग गया, कहा जाता है वहां एक चीते ने उसे फाड़ डाला।

चौथा मरहठा-युद्ध :—मरहठा-संघ के पांच प्रमुख सदस्य थे—पेशवा, सिन्धिया, होल्कर, भोंसला और गायकवाड़। गुजरात का गायकवाड़ इस संघ से पहले ही पृथक् हो अंग्रेजों से मिल गया था। अब केवल चार रह गये थे।

सिन्धिया से नई संधि :—सिन्धिया को हेस्टिंग्स ने बिना युद्ध ही नीचा दिखाया। सन् १८०७ ई० की संधि के अनुसार यह तै पाया था कि जयपुर, जोधपुर आदि राजपूताने की रियासतें सिन्धिया की सामन्त रियासतें समझी जायेंगी, और अंग्रेजों को उनसे कोई पत्र-व्यवहार करने का अधिकार न होगा। परन्तु लार्ड हेस्टिंग्स ने इस संधि की कोई परवाह न करते हुए सन् १८१७ ई० में कर्नल टाड को मेवाड़, मारवाड़, जयपुर, कोटा और बूंदी की पांच रियासतों के लिये कम्पनी का एजेण्ट नियुक्त किया। टाड अत्यन्त कुशल राजनीतिज्ञ और विद्वान् था। उसने राजपूतों को बढ़ाकर उनके

हृदय में मरहटों और मुसलमानों के प्रति बहुत घृणा पैदा कर दी, और सिन्धिया को बिना पता दिये उसने इन रियासतों से सहायक संधि करली, परन्तु संधि को सिन्धिया से स्वीकृत कराना आवश्यक था। इसके लिये हेस्टिंग्स ने इन रियासतों में भेजी हुई सहायक सेनायें सिन्धिया-साम्राज्य के उत्तरी भाग में एकत्रित करलीं और तब सिन्धिया से इस संधि को स्वीकार करने की प्रार्थना की। इस प्रकार अपने राज्य को कम्पनी की सेनाओं से विरा देख सिन्धिया ने नये संधि-पत्र पर हस्ताक्षर कर दिये।

पेशवा का अन्त :—सन् १७६१ में दूमाजी गायकवाड़ और पेशवा बालाजीराव में एक संधि हुई थी, जिसके अनुसार उक्त गायकवाड़ ने गुजरात का आधा भाग पेशवा को दे दिया था। पेशवा ने अपने इस इलाके का मियादी पट्टा गायकवाड़ के ही नाम लिख दिया। जिसके बदले दूमाजी गायकवाड़ ने सवा पांच लाख रुपया पेशवा को दे दिया था। इस समय पट्टे की अवधि समाप्त होने वाली थी इसलिये इस पट्टे को बदलवाने तथा पिछला सब हिसाब साफ कराने के लिये बड़ौदा दरबार ने गंगाधर शास्त्री नामक एक चतुर ब्राह्मण को पूना भेजा। गंगाधर शास्त्री के पूना पहुँचते ही वहाँ के अंग्रेज रेजीडेण्ट एलफिन्सटन ने उससे मिलकर पेशवा के विरुद्ध षड्यन्त्र करने आरम्भ कर दिये। पेशवा का एक मन्त्री त्र्यम्बकजी ने उसकी चालों को सफल न होने दिया। इसलिये त्र्यम्बकजी को दण्ड देने की योजना बनाने में एलफिन्सटन रत रहने लगा। इसी बीच में एक दिन गंगाधर पेशवा के साथ तीर्थयात्रा को गया। यहाँ १४ जौलाई १८१५ ई० को कुछ अपरिचित लोगों ने शास्त्री का वध कर दिया। अंगरेजों ने पेशवा तथा उसके साथी त्र्यम्बकजी को इस हत्या का दोषी ठहराया और पेशवा से त्र्यम्बकजी को अपने हवाले करने को कहा, परन्तु पेशवा ने उसको देने से मना कर दिया। इस पर एलफिन्सटन ने पूना को घेरने की धमकी दी। पेशवा डर गया और उसने अपने प्रिय मंत्री त्र्यम्बकजी को अंगरेजों के हवाले कर दिया। त्र्यम्बकजी पहले थाने के किले में और बाद में चुनार के किले में कैद रक्खा गया। यहीं उसने बुल २ कर प्राण त्याग दिये।

त्र्यम्बकजी को इस प्रकार समाप्त करने के बाद अंगरेजों ने पेशवा का अन्त करने की सोची। उन्होंने पेशवा पर यह दोष लगाया कि

गंगाधर शास्त्री के वध में उसका स्वयं ही हाथ था। इस अपराध के बदले उससे उसके राज्य का अधिकांश उर्वर प्रान्त मांगा गया। और संगीनों के बल पर वह पेशवा से ले लिया गया। परन्तु पेशवा को विश्वास हो गया कि अंगरेज उसे समाप्त कर देने पर उतारु हैं। इसीलिये उसने सैनिक तैयारियां प्रारम्भ कर दीं। अंगरेज रेजीडेण्ट एलफिन्स्टन इस समय किर्की चला गया। बाजीराव की फौज ने रेजीडेन्सी को फूँक दिया और किर्की पर आक्रमण कर दिया। परन्तु प्रधान सेनापति बापू गोखले की वीरता तथा युद्ध-कौशल भी पराजय को न रोक सके। इसके बाद अष्टी के स्थान पर उसकी दोबारा हार हुई और बापू गोखले मारा गया। विवश होकर पेशवा को सन्धि करनी पड़ी जिसके अनुसार पेशवा-राज्य अंगरेजी-राज्य में मिला लिया गया और बाजीराव को आठ लाख रुपया वार्षिक पेंशन देकर कानपुर के निकट बिटूर नामक स्थान पर रहने की आज्ञा हुई।

हेस्टिंग्स और भौंसला राज्य :—दूसरे मरहटा-युद्ध के समय रावोजी भौंसला नागपुर का राजा था। नागपुर के रेजीडेण्ट ने बार बार जोर डाला कि वह कम्पनी के साथ सव्सीडियरी सन्धि करले। परन्तु रावोजी ने जीते जी कम्पनी के साथ इस प्रकार का सम्बन्ध स्वीकार न किया। १८१६ ई० में रावोजी की मृत्यु हो गई उसके बाद उसका पुत्र पुरुषाजी नागपुर की गद्दी पर बैठा। वह कुछ कमजोर था जिसके कारण वह शासन-कार्य के चलाने के अयोग्य था। इसलिये रावोजी भौंसला ने मरते समय अपने एक भतीजे अप्पा साहब को शासन कार्य चलाने के लिये नियुक्त किया था। फल-स्वरूप अप्पा साहब ने समस्त शासन-कार्य संभाल लिया। अब हेस्टिंग्स ने अंगरेज रेजीडेण्ट जेनकिन्स को लिखा कि वह किसी न किसी प्रकार अप्पा साहब को सव्सीडियरी सन्धि के जाल में फँसाने का प्रयत्न करे। २४ अप्रैल सन् १८१६ ई० को ठीक आधी रात के समय किसी प्रकार अप्पा साहब को घेर और डरा कर उससे पुरुषाजी की ओर से सहायक सन्धि पर हस्ताक्षर करा लिये। सन्धि के अनुसार अप्पा साहब ने राजा की अधिकांश सेना को भंग कर कम्पनी को सहायक सेना रखना स्वीकार कर लिया और उसके खर्चे के लिये २० लाख से ३० लाख रुपया वार्षिक तक देने का वचन दिया। इस समय नागपुर में दो दल थे—एक दल भौंसला सन्धि पर और पेशवा में मेल करवाना चाहता था, दूसरा अंगरेजों की अध्यक्षता में अप्पा साहब को

साने करके इस मित्रता का विरोध कर रहा था। प्रथम दल अप्पा साहब द्वारा की गई सहायक सन्धि के विरुद्ध था; क्योंकि इस दल की संख्या प्रति-दिन बढ़ती जा रही थी। इसलिये अंगरेजों को डर हुआ कि कहीं किसी दिन यह दल इस सन्धि को रद्द कराने का प्रयत्न करे। इसी बीच फरवरी सन् १८१७ ई० को, जब अप्पा साहब किसी कार्य दश नागपुर से बाहर गया हुआ था, पुरुषाजी अपने विस्तरे पर मरा पाया गया। यद्यपि समस्त नागपुर में चर्चा फैल गई कि हत्या का अपराधी रेजीडेन्ट जेन्किन्स है तो भी गवर्नर जनरल ने इसकी कोई परवाह न की।

पुरुषाजी की मृत्यु के बाद अप्पा साहब नागपुर की गद्दी पर बैठा परन्तु अब उसे स्वयं सहायक सन्धि का बोझ असह्य प्रतीत हुआ क्योंकि राज्य की कुल आय ६० लाख रुपया थी। इस सन्धि के अनुसार ३० लाख रुपया कम्पनी की सहायक सेना को देना निश्चित हो गया था। उसने गवर्नर जनरल को सन्धि संशोधन करने को लिखा परन्तु हेस्टिंग्स ने कोई परवाह न की। इसके बदले सैनिक तैयारियाँ प्रारम्भ कर दीं। यह देख अप्पाजी ने रेजीडेन्सी पर आक्रमण कर दिया। अंगरेजों ने बाल-बच्चों सहित सीता-बल्दी की पहाड़ी पर शरण ली। भौसला की सेना के एक भाग ने वहाँ भी उनका पीछा किया। परन्तु इसी समय अंगरेजों की सहायता के लिये और अंगरेजी फौज आ गई और भौसला सेनाएँ परास्त हुईं। नागपुर के पास दूसरी लड़ाई में भी अप्पा साहब की हार हुई और उसने आत्म-समर्पण कर दिया। उसे राज्य से उतार दिया गया और भौसला राज्य का लगभग आधा अत्यन्त ऊँचाऊ भाग कम्पनी ने अपने राज्य में मिला लिया और शेष भाग राघोजी भौसले के एक वंशज को दे दिया गया जो अभी दूध पीता बच्चा ही था। उसकी नाबालगी में राज्य का शासन रेजीडेन्ट के सुपुर्द कर दिया गया। अप्पा साहब पर पुरुषाजी की हत्या का दोष लगाया गया और फैसला किया गया कि उसे इलाहाबाद के किले में कैद रक्खा जाये। परन्तु जब वह इलाहाबाद ले जाया जा रहा था, तो राचूरी नामक स्थान पर अपनी गारद की आंख बचा कर वह भाग निकला और बहुत दिन तक इधर उधर फिरता रहा। अन्त में वह जोधपुर पहुँचा और शेष जीवन जोधपुर नरेश के अतिथि रूप में व्यतीत किया। यद्यपि अंगरेजों ने उसे बार बार मांगा परन्तु जोधपुर के महाराजा ने उसे देने से इन्कार कर दिया। यहीं पर उसकी मृत्यु हो गई।

हेस्टिंग्ज और होल्कर :—जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है जसवंतराव होल्कर की मृत्यु के बाद मल्हारराव होल्कर इन्दौर की गद्दी पर बैठा था और अंग्रेजों का विश्वासपात्र अमीरखाँ शासन का सारा कार्य करता था। अंग्रेजों की तोड़-फोड़ की नीति से इन्दौर में दिन प्रति दिन कुशासन और अराजकता बढ़ती जा रही थी। एक दिन अफ़ग़ान सरदारों ने जसवंतराव होल्कर की रानी तुलसी बाई का वध कर दिया इससे व्यवस्था और भी खराब हो गई। ऐसी दशा में लार्ड हेस्टिंग्ज ने होल्कर राज्य पर आक्रमण कर दिया। दिसम्बर सन् १८१७ ई० में महीदपुर नामक स्थान पर राजा की सेना और कम्पनी की सेना में युद्ध हुआ। होल्कर सेना अत्यन्त वीरता से लड़ी परन्तु सेनापति अब्दुलग़फ़ारखाँ के विश्वासघात के कारण परास्त हुई और माण्डेश्वर के स्थान पर मल्हारराव होल्कर की ओर से कम्पनी के साथ सहायक सन्धि कर ली गई और होल्कर का बहुत-सा राज्य अंग्रेजी राज्य में मिला लिया गया। अब्दुलग़फ़ारखाँ को अपनी सेवा के बदले मालवा में जाओरा की रियासत मिली।

मरहठा-साम्राज्य के पतन के कारण :—मरहठा राज्य के पतन का प्रथम कारण यह था कि उन्होंने सैन्य-संचालन व संगठन की ओर ध्यान देना बन्द कर दिया। उन्होंने यह देखने का कभी प्रयत्न न किया कि संसार का विज्ञान नये शस्त्र बना कर प्रगतिशील देशों को शक्तिशाली बना रहा है और इसीलिये वे भी यदि दूसरे समकालीन देशों की बराबरी करना चाहते हैं तो उन शस्त्रों से अपने को सुसज्जित करें। पेशवा बाजीराव प्रथम ने जब पुर्तगाली लोगों से बेसीन का प्रदेश जीता था, वहाँ पुर्तगालियों ने तोप, बन्दूक बनाने के कारखाने बना रखे थे। यद्यपि मरहठों ने यह सब देखा तो भी उनकी आँखें न खुलें कि संसार के उन्नत देश किस प्रकार युद्ध के शस्त्र बनाकर अपने आपको सबल बनाने का निरन्तर प्रयत्न कर रहे हैं। नये कारखाने खोलना तो अलग रहा, उन कारखानों को भी जो उन्हें बेसीन में मिले, वह जारी न रख सके। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि सैनिक विज्ञान की ओर से मरहठे कितने उदासीन थे।

बाबर ने भारतवर्ष को तोपखाने के बल पर जीता, योरोपीय जातियों भी तोपखाने का प्रयोग भली भाँति जानती थीं। इसकी सहायता से उन्होंने अपनी शक्ति और व्यापार संसार के समस्त देशों में अत्यन्त शीघ्रतापूर्वक

बढ़ाया। मरहटों ने यह सब देखा, परन्तु फिर भी तोप बनाने की कला की ओर वे सर्वथा उदासीन रहे। सहादाजी सिन्धिया जैसे योग्य पुरुष और नाना फड़नवीस जैसे योग्य राजनीतिज्ञों ने भी क्यों इस ओर ध्यान नहीं दिया? समझ में नहीं आता। ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ निर्मूल धार्मिक व जातीय बन्धनों ने इन्हें इस ओर प्रवृत्त होने से रोका है। क्योंकि मशीन पर काम करना, इंजन चलाना इत्यादि ऐसे कार्य हैं जिन्हें कुछ निम्न समझा जाता था। इस प्रकार युद्ध के एक प्रबल शस्त्र के लिये वे विदेशियों पर ही निर्भर रहते रहे। चूँकि मरहटों का गुरिल्ला-युद्ध तोप-खाने व पैदल पलटन के सम्मुख सफलता प्राप्त न कर सका था, इस कारण लोप हो गया और चूँकि कोई अन्य युद्ध-कला उसकी स्थानपूर्ति को न आई, इसलिये मरहटे अशक्त होते चले गये। पेशवाओं ने पूना में विज्ञान के प्रभाव से तोपखानों की स्थापना की, परन्तु उनका यह प्रयत्न असफल रहा। क्योंकि पर्याप्त संख्या में मरहटे पैदल फौज में भरती न हो सके, जिससे तोपखाने का सफल प्रयोग किया जा सके और उनकी जगह पर यह प्रबल अस्त्र विदेशियों के हाथों में दे दिया गया जो सदैव अपने महा-द्वीप के लोगों से (अर्थात् यूरोपीय लोगों से) सहानुभूति रखते रहे। यह सब देख कर एक दूरदर्शी पुरुष कह सकता था कि अपनी वीरता के होते हुए भी मरहटे अंग्रेजों के विरुद्ध अन्त में सफलता प्राप्त नहीं कर सकेंगे।

मरहटे प्रकृति से ही नियन्त्रण पसन्द नहीं करते। सामूहिक प्रयत्न के प्रति भी वे उदासीन रहे, सफल सैनिक के लिये नियन्त्रण और सामूहिक प्रयत्न की कितनी आवश्यकता है, वर्णन नहीं की जा सकती। यदि सैनिक अपनी-अपनी स्वतन्त्र योजना पर काम करें और अपने सेनापति की आज्ञा की अवहेलना करें तो कितनी ही वीर सेना क्यों न हो अधोगति को प्राप्त होगी। पानीपत की तीसरी लड़ाई तथा अन्य युद्धों पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होगा कि जब भी मरहटे किसी भी युद्ध में पराजित हुए तो इसका मूल कारण उनका सैनिक नियन्त्रण में न रहना व विभक्त सैन्य-संचालन था। मरहटा शासन-प्रणाली इस दोष के लिए उत्तरदायी है। जागीरदारी प्रथा से वे इतने स्वच्छन्द और स्वतन्त्रता-प्रिय तथा स्वार्थी हो गये कि वह दोष की सीमा पर पहुँच गया, जिससे कि जब कभी समस्त मरहटा-साम्राज्य पर भी संकट आया तो वे एक न हो सके। पेशवा, सिन्धिया, होल्कर कभी अंग्रेजों के विरुद्ध एक सम्मिलित योजना न बना सके।

फलस्वरूप एक के बाद दूसरा परास्त होता चला गया। यशवन्तराय होकर सदैव अकेला ही रहा और अन्त में जब अंग्रेजों ने सिंधिया और भोंसला को परास्त कर उस पर आक्रमण किया तो उसकी आँखें खुलीं और उसने मरहटा सगदरों को एक होने व अंग्रेजों के विरुद्ध सामूहिक कार्य-वाही करने की प्रार्थना की, परन्तु यह विलम्बपूर्ण था और अब कुछ न हो सकता था।

समय का कुछ ऐसा चक्कर आया कि इस समय मरहटा-संघ में योग्य नेताओं का सर्वथा अभाव हो गया। महादाजी सिंधिया अगस्त १७६५ ई० में संसार से चल बसे। दूसरी ओर माधवराव नारायण का देहान्त अक्टूबर १७६५ ई० में हो गया। नाना फड़नवीस १८०० ई० के आरम्भ काल में देहान्त कर गये। इनके पश्चात् मरहटों की ओर कोई योग्य अनुभवी पुरुष न रहा। जब कि अंग्रेज लोगों में एक से एक योग्य व्यक्ति जैसे लार्ड वैलेज़ली व उसका भाई सर आर्थर वैलेज़ली, लार्ड लेक इत्यादि इस समय भारत में आये।

उपरोक्त कारणों के साथ-साथ हम यह भी देखते हैं कि मरहटा सैनिक शक्ति, राजनीति और बाह्यज्ञान में अंग्रेजों से बहुत कम थे। प्रथम युद्ध में ही अंग्रेजों को मरहटा राज्य की पूर्ण सूचना थी। उनका गुप्तचर विभाग मरहटों की सेना, उनके पारस्परिक सम्बन्ध, उनके पारिवारिक संबंध और भिन्न-भिन्न जागीरदारों की स्थिति की पूर्ण सूचना अंग्रेजों को दे चुका था। अंग्रेज हर एक सूचना प्राप्त करने और उससे लाभ उठाने के लिये सदैव तैयार रहते थे। इसके प्रतिकूल मरहटों को अंग्रेजों की किसी बात का भी पता न था। उन्हें इंगलैंड, वहाँ के शासन-प्रबन्ध, अंग्रेजों के उपनिवेश, उनके चरित्र, विचार और युद्ध-सामग्री इत्यादि की कुछ भी सूचना न थी। इस सूचना के बल पर अंग्रेज अपनी पूर्ण तैयारी कर सकते थे, जब कि मरहटे सदैव अन्धकार में रहते थे। उपरोक्त कारणों से मरहटा-सत्ता शीघ्र ही भारत में समाप्त हो गई।

हेस्टिंग्स की वापसी :—इस प्रकार मरहटा-शक्ति को क्षीण कर सन् १८२३ ई० में हेस्टिंग्स इंगलैंड वापस गया। कम्पनी के डाइरेक्टरो ने उसे मरहटा-विजय के उपलक्ष्य में ६० हजार पौंड इनाम दिये।

अठारहवाँ अध्याय

ब्रह्मा-विजय का सूत्रपात

लार्ड एमहर्स्ट (१८२३-२७)

एमहर्स्ट और ब्रह्मा की पहली लड़ाई, १८२४-२६ ई० :—
हेस्टिंग्स के बाद लार्ड एमहर्स्ट गवर्नर जनरल नियुक्त हुआ। अपने आने के कुछ ही महीने बाद उसने ब्रह्मा से युद्ध आरम्भ कर दिया। सर जान शोर के शासन-काल तक ब्रह्मा के राजा और अंग्रेजों के बीच किसी प्रकार का झगड़ा नहीं हुआ और भारतीय तथा अंग्रेज व्यापारी सहर्ष रंगून में व्यापार करते रहे। इसके पश्चात् दोनों में वैमनस्य बढ़ने लगा। लार्ड वेल्लेजली के शासन काल में लगभग तीस सज़ार ब्रह्मा-निवासी अराकान से भाग कर चटगाँव में बस गये। ब्रह्मा के राजा ने अंग्रेजों से उनके लौटा देने को लिखा, परन्तु उन्होंने ऐसा करने से मना कर दिया। लार्ड मिण्टो के शासन-काल में चटगाँव के निवासियों ने किंग बैरिंग (King Rerring) अंग्रेज के नेतृत्व में कई बार अराकान पर आक्रमण किया और बहुत-सा सामान लूट कर ले आये। ब्रह्मा के राजा ने लार्ड मिण्टो से इसकी शिकायत की, परन्तु उसने कोई ध्यान न दिया। किंग बैरिंग की मृत्यु के बाद भी यह आपत्ति समाप्त न हुई, उसके स्थान पर अब उसी तरह के और लोग खड़े हो गये और ब्रह्मा की प्रजा पर बराबर धावे मारते रहे। इस पर ब्रह्मा नरेश क्रोधित हुआ और उसकी आज्ञा से रंगून में कुछ अंग्रेजी जहाज पकड़ लिये गये। लार्ड मिण्टो के लिखने पर ब्रह्मा-नरेश ने उन्हें मुक्त कर दिया। सन् १८१२ ई० में ब्रह्मा के राजा ने आसाम के स्वतन्त्र राज्य को जीतकर अपने राज्य में मिला लिया। परन्तु सीमा पर आसाम के निर्बल शासक की जगह वीर और बलवान् जाति के शासक को अंग्रेज सहन न कर सके। ब्रह्मा और अंग्रेजी राज्य की सीमा एक होने के कारण प्रतिदिन समस्याएँ खड़ी रहने लगीं। लार्ड हेस्टिंग्स के शासन-काल के अन्तिम वर्ष अर्थात् सन् १८२३ ई० में अंग्रेजों ने शाहपुरी द्वीप पर जो अराकान के निकट ही स्थित है, बलात् अधिकार कर लिया। इससे युद्ध का टलना असम्भव हो गया। इसीलिए लार्ड एमहर्स्ट ने सिलहट और मनी-पुर के बीच एक छोटी-सी स्वतन्त्र रियासत कच्छप से सन्धि करके वहाँ अपनी सेनाएँ एकत्रित करनी आरम्भ कर दीं और शीघ्र ही युद्ध की घोषणा कर दी।

लार्ड एमहर्स्ट ने तीन सेनायें ब्रह्मा पर आक्रमण करने को भेजीं, दो स्थल-मार्ग से और एक जल-मार्ग से। ब्रह्मा की सेनाओं का प्रधान सेनापति महाबुन्देला एक विशाल सेना के साथ गवर्नर जनरल को बन्दी करने के लिए सोने की जंजीर लेकर आसाम के मार्ग से आगे बढ़ा। अंग्रेजों की स्थलीय सेनाओं को परास्त कर दिया। सम्भव था कि वह आसाम होता हुआ बंगाल में आ पहुँचता यदि ब्रह्मा का राजा उसे दक्षिण की ओर न भेजता; परन्तु तीसरी सेना ने, जो आर्कबोल्ड की अध्यक्षता में मद्रास से आई थी, रंगून पर अधिकार कर लिया। रंगून-निवासी पहले ही सब सामान ले नगर छोड़ कर भाग गये थे, इसलिए इस सेना को रसद इत्यादि भी प्राप्त न हो सकी और चारों ओर पराजय के चिन्ह दृष्टिगोचर होने लगे। जिनकी सूचना से कलकत्ते तक में तहलका मच गया। इसी बीच बैरकपुर हत्याकाण्ड ने सेना में और सनसनी पैदा कर दी, परन्तु गवर्नर ने स्थिति पर विजय प्राप्त कर सेनाओं पर सेनायें ब्रह्मा भेजनी प्रारम्भ कर दीं और ब्रह्मा में प्रवेश करके दोनाबू के स्थान पर युद्ध किया। ब्रह्मा-सेनापति महाबुन्देला इस क्षेत्र में सैन्य-संचालन कर रहा था। वह उत्तर में अंग्रेजी सेनाओं को परास्त कर के दक्षिण की ओर चला आया था। ब्रह्मा के सैनिक ऐसी वीरता तथा साहस से लड़े कि अंग्रेजों के छक्के छूट गये, परन्तु उनके सौभाग्य से सन् १८२५ ई० में गोली लग जाने से महाबुन्देला धराशायी हुआ और उसकी सेना रणक्षेत्र से भाग गई। अंग्रेजों ने पूर्णतया अराकान पर अधिकार कर लिया। इसके पश्चात् अंग्रेजी बेड़ा कई नगरों तथा कस्बों को जीतता हुआ यान्दाबू तक पहुँच गया। यहाँ से ब्रह्मा की राजधानी आत्रा केवल चालीस मील की दूरी पर थी। इसलिए ब्रह्मा के राजा ने अंग्रेजों से सन्धि कर ली। यान्दाबू के स्थान पर जनवरी सन् १८२६ ई० में अंग्रेजों और ब्रह्मा के राजा में सन्धि हो गई। अंग्रेजों को आसाम, अराकान, टिब्बासिम के देश मिले। युद्ध के खर्चे की पूर्ति के लिए ब्रह्मा के राजा ने एक करोड़ रुपया दिया और एक अंग्रेज रेजीडेंट भी अपने दरबार में रक्खा। कहने को तो इस युद्धमें सब प्रकार से अंग्रेजों को ही लाभ हुआ; परन्तु वास्तव में उनकी हानि भी बहुत हुई थी। इस युद्ध के कारण कम्पनी पर दस करोड़ रुपये का ऋण हो गया था। सैकड़ों सैनिक भी पेचिश, बुखार तथा अन्य रोगों से पीड़ित होकर मर गये थे।

बैरकपुर हत्याकाण्ड :—उस समय हिन्दुस्तानी सिपाहियों के

स्वरूप एक घोड़ा गाड़ी भेजी है, जिसे केवल जल-मार्ग से ही पंजाब भेजा जा सकता है। इस बहाने इस योजना को सफल बना सिन्ध नदी और पंजाब के जल-मार्ग का ठीक ठीक अन्वेषण किया गया।

महाराजा रणजीतसिंह और बैटिक का मिलन :—उक्त उपहार के साथ बैटिक ने महाराजा रणजीतसिंह से मिलने की प्रार्थना की। उपहारों से प्रसन्न होकर रणजीतसिंह ने प्रार्थना स्वीकार कर ली। फलस्वरूप सन् १८३१ ई० में रोपड़ के स्थान पर बड़े ठाठ-बाट के साथ विलियम बैटिक और महाराजा रणजीतसिंह की भेंट हुई। इस भेंट के अवसर पर यह तै हुआ कि पदच्युत अफगान बादशाह शाहशुजा को आगे करके पहले सिन्ध पर और फिर अफगानिस्तान पर आक्रमण किया जाय और इन्हें आपस में बाँट लिया जाय। १८३३ ई० में शाहशुजा ने पहले सिन्ध पर और फिर कन्धार पर आक्रमण किया, परन्तु काबुल के बादशाह दोस्त मुहम्मद ने उसे परास्त कर निकाल दिया और १८३४ ई० में उसे फिर लुधियाने आश्रय लेना पड़ा।

आर्थिक सुधार :—लार्ड एमहर्स्ट के शासन-काल में ईस्ट इण्डिया कम्पनी की आर्थिक दशा बहुत शोचनीय हो गई थी, इसलिए कम्पनी के संचालक बार बार लार्ड विलियम बैटिक को लिखते रहे कि वह कम्पनी की आर्थिक दशा को दृढ़ करने की ओर विशेष ध्यान दे। स्थिति सुधारने के लिए बैटिक ने सर्वप्रथम सेना तथा माल-विभाग के अपव्यय में कमी की। उसने नियम बना दिया कि कलकत्ते से चार सौ मील की परिधि में ठहरी हुई सेना को केवल आधा भत्ता मिलेगा। इससे सेना में बहुत असन्तोष फैला, परन्तु कम्पनी के संचालक खर्च में कमी चाहते थे, इसलिए असन्तोष के होते हुए भी बैटिक अपने इस परिवर्तन पर अटल रहा। दूसरे माल-विभाग में बहुत-सी माल गुजारी लोगों के नाम कई २ वर्ष से शेष पड़ी थी। बैटिक ने हिसाब की जाँच करा शेष वसूल कराया। तीसरे कुछ जमींदारों की भूमि की मालगुजारी माफ़ थी, वह इस अधिकार से लाभ उठा कर प्रायः अपनी सम्पूर्ण भूमि पर मालगुजारी न देते थे। बैटिक ने उनके कागजों की जाँच-पड़ताल कराई और वह ज़मीन जो मालगुजारी से मुक्त थी अलग कर उनकी शेष भूमि पर मालगुजारी निश्चित कराई। उसने राबर्ट बर्ड से संयुक्त प्रान्त का बन्दोबस्त कराया और यहाँ तीस वर्षीय बन्दोबस्त तथा मद्रास में रैयतवाड़ी बन्दोबस्त का आयोजन किया, जिससे समय २ पर भूमि की

जाँच-पड़ताल होती रही, इसी समय अलाहाबाद में माल-समिति (Board of Revenue) स्थापित की। मालवा की अफीम पर टैक्स लगा उसने राजकीय आय में विशेष वृद्धि की। उसने माल-विभाग के कर्मचारियों का वेतन कम कर दिया और स्वयं प्रधान सेनापति की पदवी धारण कर उसने वेतन की वचत की। उसने आसाम तथा कछार में चाय की खेती करानी प्रारम्भ कर दी। इस प्रकार उसने कम्पनी की आर्थिक स्थिति दृढ़ करने का सफल प्रयत्न किया।

शासन-सम्बन्धी सुधार :—लार्ड विलियम बैंटिक ने कार्नवालिस द्वारा स्थापित की हुई प्रान्तीय दौरा तथा अपील की अदालतें तोड़ दीं, क्योंकि इससे न्याय में बड़ी रुकावट पैदा हो गई थी। प्रथम तो मुकदमे तै होने में बड़ी देर लगती थी, दूसरे इसका खर्च बहुत था, तीसरे लोगों को सन्तोष नहीं होता था। उसने दीवानी अपीलों का कार्य सदर अदालतों को तथा सेशन की अदालतों का काम कमिश्नरों को दे दिया, परन्तु जब यह व्यवस्था भी सन्तोषजनक सिद्ध न हुई तो प्रत्येक जिले के डिस्ट्रिक्ट जजों को यह कार्य दे दिया गया। अब तक अदालत की सब कार्यवाही फारसी भाषा में होती थी इससे साधारण वर्ग को बड़ी कठिनाई होती थी बैंटिक ने आसानी के लिये उर्दू को अदालती भाषा घोषित कर दिया। लार्ड कार्नवालिस ने भारतीय लोगों के लिए उच्चपदों का द्वार बन्द कर दिया था। यद्यपि उसकी इस आज्ञा का पूर्णतया पालन नहीं किया गया तो भी इसका यह प्रभाव अवश्य पड़ा कि उच्चपद प्रायः अंग्रेज लोगों को मिलते रहे। लार्ड विलियम बैंटिक ने इस प्रतिबन्ध को हटा कर भारतीय लोगों के लिए उच्च नौकरियों का द्वार खोल दिया। इससे आर्थिक लाभ भी हुआ, क्योंकि यूरोपीय अधिकारियों को भारतीयों की अपेक्षा अधिक वेतन देना पड़ता था। लार्ड विलियम बैंटिक से पहले कलक्टर और मैजिस्ट्रेट अलग २ होते थे। उसने इन दोनों पदों को एक कर दिया, जैसा कि अब तक चला आता है। इससे वचत भी हुई।

सामाजिक सुधार :—अंग्रेजों ने भारतवासियों के धार्मिक और सामाजिक रीति-रिवाजों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं किया था। राजनीति के साथ धर्म का मेल करके पुर्तगालियों की तरह वह अंग्रेज जाति को संकट में डालना नहीं चाहते थे। अंग्रेजों ने पुर्तगालियों के व्यवहार से

शिक्षा ग्रहण की, परन्तु उनके लिए असम्भव था कि सती, बाल-हत्या आदि अमानुषिक प्रथाओं के विरुद्ध जो भाव धीरे २ जागृत हो रहा था, उसकी उपेक्षा करते। सती-प्रथा का मूल कारण हिन्दू स्त्रियों का पतिव्रत धर्म था। प्रारम्भ में विधवा हिन्दू स्त्रियाँ अपने मृत पति के साथ चिता में जल कर प्राण दे देती थीं; परन्तु पीछे आकर यह प्रथा बहुत कठोर हो गई थी और स्त्रियाँ ब्रज्जात चिता में जलने के लिए बाध्य की जाने लगीं। लार्ड बैंटिक ने इस भीषण प्रथा का अन्त कर देने का संकल्प किया। राजा राममोहनराय आदि शिक्षित भारतीय भी सती-प्रथा के विरुद्ध थे इससे प्रोत्साहित होकर लार्ड बैंटिक ने दिसम्बर सन् १८२६ ई० में एक प्रस्ताव पास किया, जिससे सती का रिवाज कानून के विरुद्ध बतलाया गया। नये कानून के अनुसार सती होने में सहायता देना कल के अपराध के बराबर ठहराया गया। बंगाल में इस कानून का विरोध हुआ। कट्टर लोगों ने गवर्नर जनरल की नीति के विरुद्ध प्रिवी कौंसिल में अपील की, परन्तु वह सफल न हुई।

अन्य कुरीतियों ने भी गवर्नर जनरल का ध्यान आकर्षित किया। उड़ोसा के खोन्द लोगों में नर-बलि की प्रथा प्रचलित थी। राजपूताना, अजमेर, खानदेश आदि कुछ स्थानों में स्त्रियों का व्यापार होता था। राजपूताना तथा काठियावाड़ में राजपूतों में शिशु-हत्या का प्रचार था। गवर्नर जनरल ने इन प्रथाओं को रोकने के लिए योग्य अफसर नियुक्त किये और कई वर्ष के घोर परिश्रम के पश्चात् यह प्रथायें बन्द हुईं। सन् १८३२ ई० में एक दूसरा कानून पास हुआ जिससे गुलामी की प्रथा उठा दी गई।

ठगी :—ठगों के समूह में सभी जातियों तथा धर्मों के लोग थे। ये लोग मनुष्यों को लूटते, मारते तथा उनका वध कर देते थे। ये अधिकतर मध्य-भारत में पाये जाते थे। अपने इस कार्य को पूरा करने के लिए पहले वे यात्रियों के साथ हो जाते। उनके हृदय में पूर्ण विश्वास पैदा कर लेते थे, परन्तु निर्जन वन में पहुँच कर वे उनके गले में छोटा सा कपड़ा कस कर उनका गला घोट देते थे और उन्हें मार देते थे। उन्होंने अपनी स्वयं की भाषा बना रखी थी, जिसे उनके अलावा और कोई न समझ सकता था। ये अपने दिल की बात किसी से न कहने की शपथ लेते थे। वे काली माई की पूजा करते थे। लार्ड विलियम बैंटिक ने मेजर स्लीमेन की अध्यक्षता में इसके लिए एक अलग विभाग खोला। उनमें से अधिकतर पकड़े गये। उन्हें

फाँसी पर चढ़ा दिया गया। उन लोगों की प्रवृत्ति बदलने के लिए जबलपुर में एक दस्तकारी का स्कूल खोला। वे वहाँ पर दस्तकारी सीख कर अच्छे कारीगर हो गये और अपनी जीविका ईमानदारी से कमाने लगे।

शिक्षा :—सन् १८१३ ई० के आज़्ञापत्र में भारतीयों की शिक्षा की व्यवस्था की गई और कम्पनी के संचालकों ने इसके लिए एक निश्चित धन-राशि का स्वीकृति दी। राजा राममोहनराय की सहायता से कलकत्ते में सन् १८१६ ई० में हिन्दू कालिज तथा सन् १८१८ ई० में सीरामपुर में एक कालिज पाश्चात्य-शिक्षा अर्थात् अंग्रेजी शिक्षा की उन्नति के लिए खोला गया। सन् १८८० ई० में एक कालिज कलकत्ते में खोला गया। इसी बीच में भारतीय पण्डितों तथा पाश्चात्य विद्वानों में भाषा-सम्बन्धी प्रश्न उठ गया। भारतीय लोग भारतीय भाषाओं पर परन्तु पाश्चात्य विद्वान् अंग्रेजी भाषा पर जोर दे रहे थे। वे भारतीय लोगों की उन्नति के लिए अंग्रेजी भाषाओं को सर्वश्रेष्ठ समझते थे। राजा राममोहनराय आदि एक भारतीय वर्ग भी पाश्चात्य विद्या के पक्ष में था। सन् १८३५ ई० में लार्ड मैकाले ने जो गवर्नर जनरल की कौंसिल का मैम्बर था एक मसविदा तैयार किया। अंग्रेजी शिक्षा के पक्ष का समर्थन जोर से किया गया। पूर्वी भाषा तथा साहित्य की निन्दा की गई। ७ मार्च सन् १८३५ ई० के प्रस्ताव द्वारा शिक्षा के लिए दी जाने वाली रकम केवल अंग्रेजी भाषा पर ही खर्च की जाने लगी। इस प्रकार शिक्षा में बहुत अधिक परिवर्तन हो गया। संस्कृत तथा अरबी के स्कूल भी रहे, परन्तु उनसे लोग उदासीन होते चले गये। जन-साधारण में शिक्षा प्रचार न हो सका। विदेशी भाषा शिक्षा का माध्यम हो जाने से अध्ययन में विचार-स्वतन्त्रता और मौलिकता का विशेष अभाव रहा।

१८३३ ई० का चार्टर :—जब इंग्लैंड की पार्लियामेंट ने देखा कि कम्पनी की जिम्मेदारियाँ तथा उसका राज्य भारत में बढ़ता जा रहा है, परन्तु इतना होते हुए भी उसकी दशा बहुत शोचनीय हो रही है और उसका दिवाला निकल रहा है, तो वह निरन्तर भारतीय शासन में हस्तक्षेप करने लगी तथा कम्पनी पर नियन्त्रण रखने लगी। १८३३ ई० का आज़्ञापत्र, जो लार्ड विलियम बैंटिक के समय में कम्पनी के पास आया, इसका द्योतक है। यह आज़्ञापत्र फिर २० वर्ष के लिए जारी किया गया। इस समय इंग्लैंड की व्यवसायी क्रान्ति के कारण इंग्लैंड के व्यापारियों को बाहर के देशों में

अपने माल के बेचने की बड़ी आवश्यकता थी। अतः इस बात पर विचार करके कम्पनी से चीन के व्यापार का ठेका छीन लिया गया। कम्पनी को केवल भारत में शासन करने की आज्ञा दी गई। यह परिवर्तन इस लिए भी किया गया कि कम्पनी राज-व्यवस्था पर अधिक ध्यान दे सके। गवर्नर जनरल की कौंसिल में ला-मेम्बर और बढ़ा दिया गया। इस प्रकार अब उसकी कौंसिल में चार मेम्बर हो गये। मैकाले प्रथम ला-मेम्बर नियुक्त हुआ। गवर्नर जनरल को ब्रिटिश भारत के नये कानून बनाने की आज्ञा मिल गई। कौंसिल को इस नये कानून का भार सौंपा गया। बम्बई तथा मद्रास के अहाते पूर्ण रूप से गवर्नर जनरल के अधीन कर दिये गये। यूरोपीय लोगों को भारत में अपनी बस्तियाँ बनाने की आज्ञा दी गई।

सबसे अधिक महत्वपूर्ण घोषणा, जो इस पार्टी द्वारा पार्लियामेण्ट ने की, वह यह थी कि कोई भी भारतीय जो ब्रिटिश भारत का निवासी है, अपने धर्म, जन्म, स्थान तथा वंश और रंग के कारण किसी पद या नौकरी से वंचित नहीं किया जायेगा। उन्हें नौकरी बेरोक-टोक मिलेगी।

बीसवाँ अध्याय

अफगान-समस्या

लाड आकलैंड तथा लार्ड वर्गलनबरा (१८३८—४४)

सर चार्ल्स मेटकाफ :—सन् १८३४ ई० में लार्ड विलियम बैंटिक विलायत लौट आया और एक वर्ष पश्चात् लार्ड आकलैंड गवर्नर जनरल नियुक्त होकर आया। इस बीच में कलकत्ता-कौंसिल का प्रमुख सदस्य सर चार्ल्स मेटकाफ गवर्नर जनरल का कार्य करता रहा। अपने थोड़े से शासन-काल में मेटकाफ ने प्रेस तथा समाचार-पत्रों से प्रतिबन्ध हटा दिये। कम्पनी के संचालक उसके इस सुधार से बहुत अप्रसन्न हुए और उसके स्थान पर लार्ड आकलैंड को गवर्नर जनरल नियुक्त करके भेजा।

अफगानिस्तान में अंग्रेजी मिशन :—रणजीतसिंह से सन्धि करने तथा सिन्ध नदी का अन्वेषण करने के पश्चात् अल्कजेण्डर 'बर्नर्स' नामक एक चतुर अंग्रेज लैफ्टिनेण्ट १८३२ ई० में मध्य एशिया की ओर भेजा गया। इसका कारण यह बताया गया कि अंग्रेजों को रूस के आक्र-

मरण का डर है। इसलिये भारत और मध्य एशिया के बीच की शक्तियों को कम्पनी की ओर करने के लिए बनर्स को भेजा जा रहा है। बनर्स की पार्टी सबसे पहले अफ़गानिस्तान पहुँची। एक साल तक मध्य एशिया में घूमने में बाद सन् १८३३ ई० में अनेक पत्रों, मानचित्रों तथा लाभदायक सूचना सहित ये लोग भारत वापिस आये।

सन् १८३६ ई० में बनर्स को दूसरी बार व्यापारी मिशन पर काबुल भेजा गया। इस मिशन का उद्देश्य यह भी था कि अफ़गानिस्तान को रूस के विरुद्ध अपने पक्ष में कर लिया जाय, परन्तु इसमें सफलता प्राप्त न हो सकी और बनर्स तथा उसके साथियों को शीघ्र ही भारत लौटना पड़ा।

अफ़गानिस्तान के दो प्रभावशाली वंश :—अफ़गानिस्तान में उस समय दो प्रभावशाली वंश थे। एक दुर्रानी और दूसरा बारकजाई। अहमद-शाह अब्दाली, जिसने मरहटों के विरुद्ध पानीपत के तृतीय युद्ध में सफलता प्राप्त की थी, प्रथम वंश से था और उसके मन्त्री बारकजाई वंश से थे। धीरे-धीरे मन्त्रियों की शक्ति बढ़ती गई और अहमदशाह अब्दाली के पोते जमानशाह के शासन-काल में उनकी शक्ति इतनी बढ़ गई कि उनमें से एक ने जिसका नाम फतहख़ाँ था, उसे कैद कर लिया और उसकी आँखें निकलवा लीं। जमानशाह का छोटा भाई शाहशुजा कई वर्ष तक अपने भाई के नाम से युद्ध करता रहा, परन्तु असफल ही होता रहा और अन्त में उसे अपना देश छोड़ लुधियाने में रणजीतसिंह और अंग्रेजों की शरण लेनी पड़ी। उधर १८२६ ई० में फतहख़ाँ की मृत्यु के पश्चात् उसका भाई दोस्तमुहम्मदख़ाँ गद्दी पर बैठा, जिसके शासन-काल में बनर्स मिशन अफ़गानिस्तान पहुँचा। इस समय अफ़गानिस्तान की स्थिति अच्छी न थी। इसके पूर्वी भाग पर महाराजा रणजीतसिंह का दाँत था। पेशावर के उपजाऊ प्रांत पर तो उसने अधिकार ही कर लिया था। पश्चिम की ओर फ़ारिस का बादशाह रूस की सहायता से हिरात-विजय करने की चेष्टा कर रहा था। इसलिये जब बनर्स दूसरी बार काबुल पहुँचा और रूस के विरुद्ध अफ़गानिस्तान को अपने पक्ष में करना चाहा तो दोस्त मुहम्मदख़ाँ ने उनसे उनके मित्र रणजीतसिंह से अपना पूर्वी प्रदेश वापस दिलाने की माँग की। इसे अंग्रेजों ने स्वीकार न किया। उधर अभी बनर्स काबुल में ही था कि फ़ारिस ने हिरात का घेरा डाल लिया। अतः अंग्रेजों की सन्धि से किसी भी ओर के संकट से मुक्ति

की सम्भावना न देख दोस्त मुहम्मद रूस को अपनी ओर मिलाने का प्रयत्न करने लगा। उसने रूस के राजदूत की बड़ी आवभगत को और बनर्स की ओर से बित्तकुल उदासीन हो गया। इंगलैंड के प्रधानमंत्री एमहर्स्टन को जब इसकी सूचना मिली तो उसने आकलैंड को युद्ध करने की आज्ञा दी। २ अप्रैल सन् १८३८ ई० में बनर्स वापिस बुला लिया गया और लार्ड आकलैंड शाहशुजा तथा रणजीतसिंह को सहायता से युद्ध की तैयारी करने लगा।

अफ़गानिस्तान की पहली लड़ाई :—दो सेनायें अफ़गानिस्तान-विजय के लिये तैयार की गईं। एक पंजाब में दूसरी बम्बई में। बम्बई की सेना सिंध और बिलोचिस्तान से होती हुई और पंजाब की सेना खैबर के रास्ते से अफ़गानिस्तान पहुँची। शाहशुजा भी इनके साथ था। थोड़े ही दिनों में इस सेना ने बहुत-से अफ़गान सरदारों को शाहशुजा की ओर कर काबुल पर अधिकार कर लिया। कंधार, ग़जनी तथा जलालाबाद भी अंग्रेजों के अधिकार में आ गये। शाहशुजा काबुल का अमीर घोषित कर दिया गया। वह अंग्रेज रेजीडेंट मेकनाटन की संरक्षता में शासन करने लगा। दोस्तमुहम्मद को कैद करके कलकत्ते भेज दिया गया, परन्तु युद्ध इतनी शीघ्रता से समाप्त होने वाला न था। इस प्रारम्भिक सफलता का एकमात्र कारण केवल यह था कि अंग्रेजों ने अफ़गानिस्तान के अनेकों सरदारों को झूठे-सच्चे वायदे कर अपनी ओर मिला लिया था। सत्ता प्राप्त करने के बाद एक ओर तो अंग्रेजों ने अपने वायदों को पूरा करने की कोई चेष्टा न की, दूसरी ओर मीर जाफ़र के शासन की भाँति वे छोटे-छोटे कार्यों में भी हस्तक्षेप करने लगे। इसलिये वीर तथा आत्माभिमानि अफ़गानों को उनकी उपस्थिति असह्य हो उठी, और वे अंग्रेजों से बदला लेने को उद्यत हो गये। उन्होंने समझ लिया कि उनकी आपत्तियों का मूल कारण शाहशुजा है। इसलिये वे दोस्तमुहम्मदखाँ के पुत्र अकबरखाँ के झण्डे के नीचे एकत्रित हुए और विद्रोह कर दिया। शाहशुजा को जब यह पता लगा तो उसने काबुल से भागकर फिर भारत में आश्रय लेने का विचार किया। परन्तु इससे पहले कि वह इस विचार को क्रियात्मक-रूप दे, एक अफ़गान ने उसके जीवन का अन्त कर दिया। इसके कुछ दिन बाद दिन में ही कुछ अफ़गानों ने अंग्रेज राजदूत बनर्स के टुकड़े-टुकड़े कर दिये।

अब अफगानिस्तान के सरदारों ने मेकनाटन का वध करना चाहा, मेकनाटन इसी बीच अकबरखाँ और उसके विश्वासपात्र अमीरों में फूट डालने का प्रयत्न कर रहा था, परन्तु उसका भेद खुल गया, जिससे अफगान बहुत क्रोधित हुए और उन्होंने एक दिन मेकनाटन को मौत के घाट उतार दिया। अपने नेताओं की इस प्रकार हत्या से अंग्रेजी सेना घबरा उठी। उनके सेनापतियों ने भी अकबरखाँ से प्रार्थना की कि हमें भारत लौटने की आज्ञा दी जाये और वचन दिया कि हम यहाँ से जाते ही दोस्त-मुहम्मदखाँ को अफगानिस्तान लौटा देंगे। अकबरखाँ ने उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली परन्तु मार्ग में असंख्य अफगानों और बिलोचियों ने इस पर आक्रमण कर दिया और १६००० की सेना में से केवल एक डाक्टर ब्राइडन इस हत्याकांड की सूचना देने जनरल सेल के पास जलालाबाद पहुँचा।

इस समाचार को सुनकर लार्ड आकलैंड के होश उड़ गये। उसने तुरन्त एक सेना जलालाबाद भेजी; परन्तु उसे कम्पनी के संचाजकों ने वापस बुला लिया और उसके स्थान पर लार्ड ऐलिनबरो (१८४२-४४) को गवर्नर जनरल बनाकर भेजा।

लार्ड ऐलिनबरो :—लार्ड ऐलिनबरो ने आते ही जनरल पोलक को एक विशाल सेना सहित अफगानिस्तान भेजा। काबुल पहुँचकर इस सेना ने नगर को खूब लूटा, परन्तु शीघ्र ही स्थिति फिर बिगड़ने लगी इसलिये लार्ड ऐलिनबरो ने अकबरखाँ से सन्धि कर ली। दोस्तमुहम्मदखाँ को मुक्त कर दिया गया और उसे फिर अफगानिस्तान का अमीर स्वीकार कर लिया गया और सब अंग्रेजी सेनायें अफगानिस्तान छोड़कर चली आईं।

सिन्ध के अमीर सन् १८४३ ई० :—अफगान-युद्ध की पराजय से अंग्रेजों की बड़ी अपकीर्ति फैली। योरुप में भी अंग्रेजों के शत्रुओं ने उनकी खूब खिल्ली उड़ाई। इसलिये मान-मर्यादा को बनाये रखने के विचार से इंग्लैंड के शासक और लार्ड ऐलिनबरो ने तै किया कि किसी बड़े देश को विजय करके अंग्रेजी साम्राज्य में मिलाया जाय। दूसरे अफगान युद्ध में खर्च भी बहुत हुआ था। उसकी पूर्ति के लिये धन की भी बड़ी आवश्यकता थी। विलियम बैंटिक के समय से अंग्रेज व्यापार तथा युद्ध-सम्बन्धी कार्यों के लिये सिन्ध नदी पर अधिकार करना चाहते थे। इन सब बातों को ध्यान

में रखकर ऐलिनबरो ने सिन्ध जीतने की सोची। सिन्ध के अमीरों और अंग्रेजों के बीच युद्ध होने का यही वास्तविक कारण था। यह कहा गया कि अमीर अंग्रेजों के विरुद्ध षड्यन्त्र रच रहे थे और वह प्रगटतया अफगान-युद्ध के समय अफगानों से सहायुभूति रखते थे, परन्तु यह दोषारोपण झूठ था। अंग्रेज इतिहासकारों ने भी स्वीकार किया है कि सिन्ध के अमीरों ने अंग्रेजों का कुछ नहीं बिगाड़ा था और उनके देश पर अधिकार करने में लार्ड ऐलिनबरो का सरासर अन्याय था।

सिंध :—अमीर बिलोची जाति के थे और बिलोचिस्तान से आकर भारत में आ बसे थे। सन् १८३२ ई० में उन्होंने अंग्रेजों से सन्धि करके एलेग्ज़ेण्डर बनर्स को सिंध नदी से नार्वे लेकर पंजाब तक जाने की आज्ञा दे दी थी। सन् १८३६ ई० में अफगानों से युद्ध होने वाला था तो उन्होंने बम्बई की सेना को भी अपने देश से होकर जाने दिया था। इस प्रकार सिंध के अमीर अंग्रेजों के मित्र थे, परन्तु इन सब बातों के होते हुए भी लार्ड ऐलिनबरो ने सन् १८४३ ई० में सिन्ध-विजय करने के लिये सेना भेज दी। इसका अध्यक्ष सर चार्ल्स नेपियर (Sir Charles Napier) था। उसने मियानी और हैदराबाद की लड़ाइयों में अमीरों को परास्त करके राजकोष को स्वतन्त्रता से लूटा। एक फ्रांसोसी लेखक ने तो यहाँ तक लिखा है कि अंग्रेज पदाधिकारी अमीरों के अन्तःपुर में घुस गये और वहाँ उन्होंने बेगमों के रत्नजटित आभूषण और बहुमूल्य वस्त्र तक उतरवा लिये। सिन्ध-विजय के पूर्व नेपियर ने स्वयं एक पत्र में लिखा था—“सिन्ध पर अधिकार करना हमारे लिये उचित नहीं है। फिर भी हम इस कार्य को करेंगे, और यह धूर्तता बहुत लाभदायक उपयोगी होगी”।

ग्वालियर :—दौलतराव सिन्धिया की मृत्यु के बाद १८२७ ई० में उसकी विधवा रानी ने एक लड़के को गोद ले लिया था—यही दत्तक पुत्र अब तक गद्दी का स्वामी था, परन्तु लार्ड ऐलिनबरो के समय उसके दरबार में दो प्रतिद्वन्दी दल हो गये थे, जिनके कुचक्रों ने ग्वालियर राज्य में बहुत अराजकता उत्पन्न कर दी। इसलिये गवर्नर जनरल ने सर ह्यू गूफ़ को एक सेना सहित ग्वालियर की दशा ठीक करने के लिये भेजा। उसने २६ दिसम्बर सन् १८४३ ई० को महाराजपुर नामक स्थान पर मरहटों को पराजित किया और पनियार के युद्ध में पुनः विजय प्राप्त की। परिणाम-स्वरूप राज्य-

प्रबन्ध एक कौंसिल के हाथ में सौंप दिया गया और उसे रेजीडेण्ट के परामर्श से काम करने का आदेश दिया गया ।

एलिनबरो की वापिसी :—ग्वालियर विजय के बाद १८४४ ई० को संचालकों ने एलिनबरो को वापिस बुला लिया ।

इक्कीसवाँ अध्याय

पंजाब-विजय का सूत्रपात

लार्ड हार्डिंज (१८४४ - ४८ ई०)

आगमन :—सन् १८४४ ई० में लार्ड एलिनबरो ने शासन-भार लार्ड हार्डिंज के सुपुर्द कर दिया और इंग्लैंड लौट गया ।

महाराजा रणजीतसिंह :—अहमदशाह अब्दाली के आक्रमण के पश्चात् पंजाब में बड़ी गड़बड़ी मच गई थी । सिक्ख-संघ अर्थात् खालसा ने १८१४ ई० में लाहौर को जीत लिया और झेलम से लेकर यमुना तक के समस्त प्रदेश पर अपना अधिकार कर लिया । सिक्ख लोग बहुत-सी मिसलों में बँटे हुए थे । रणजीतसिंह का पितामह चतुरसिंह सुखेर कुचिया के मिसल का नेता था । उसने अपने पड़ोसियों की भूमि जीत कर उस पर अपना अधिकार कर लिया था । उसके पुत्र महासिंह ने भी इस कार्य को जारी रखा और अपनी शक्ति को बढ़ा लिया । उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र रणजीतसिंह उत्तराधिकारी हुआ । वह बड़ा योग्य तथा पराक्रमशाली पुरुष था ।

रणजीतसिंह का जन्म :—रणजीतसिंह का जन्म १७८० ई० में हुआ था । जिस समय उसने आस-पास के देशों पर विजय प्राप्त करनी प्रारम्भ की, वह लड़का ही था । कुछ ही वर्षों में उसने अपने लिए एक राज्य बना लिया । जमानशाह से उसने लाहौर ले लिया और १८०२ ई० में उसने अमृतसर को भी जीत लिया । अगले पाँच वर्षों में उसकी शक्ति उत्तरोत्तर बढ़ती गई । उसने सब मिसलों को अपने आधीन करके एकता के सूत्र में बांधकर एक सुदृढ़ सिक्ख राज्य स्थापित करने की चेष्टा की । वह चाहता था कि सरहिन्द के राज्यों पर भी अधिकार कर ले । ये सभी राज्य

१६४

कम्पनी की संरक्षकता में थे, इसलिये रणजीतसिंह को अंगरेजों के सम्पर्क में आना पड़ा।

अंगरेजों से सन्धि :— सन् १८०६ ई० में नैपोलियन बोनापार्ट के भय से अपनी आन्तरिक तथा बाह्य-स्थिति को सुदृढ़ बनाने के लिए अंग्रेजों ने अफ़ग़ानिस्तान, सिन्ध, बिलोचिस्तान तथा तिब्बत इत्यादि से सन्धि की। इन देशों ने अंग्रेजी राजदूत अपने यहाँ रखने का वचन दिया। यह सन्धिकार्य सर चार्ल्स मेटकालफ़ को सौंपा गया था। उसने अपनी सारी चतुराई तथा कूटनीति का उपयोग करके रणजीतसिंह से सन् १८०६ ई० में अमृतसर के महीने में अमृतसर में सन्धि-पत्र पर हस्ताक्षर करा लिये। सतलुज के इस पार का प्रदेश रणजीतसिंह ने छोड़ दिया। इस प्रकार रणजीतसिंह तथा अंग्रेजों में मैत्री-सम्बन्ध स्थापित हो गया। रणजीतसिंह ने अपनी मृत्युपर्यन्त इस मैत्री और सन्धि का पूर्णतया पालन किया।

रणजीतसिंह की शक्ति तथा सैनिक प्रबन्ध :— सन् १८०६ ई० की संधि के पश्चात् रणजीतसिंह ने अपनी शक्ति बहुत बढ़ा ली थी। उसके पास एक विशाल सेना थी, जिसमें हिन्दुस्तानी और ग़ोरे अफसर दोनों ही नियुक्त थे, जिन्होंने उसे योरुपीय ढंग की शिक्षा दे शक्तिशाली बना लिया था। उसकी सहायता से रणजीतसिंह ने सम्पूर्ण पंजाब को अपने आधीन कर लिया था। उसने सिन्धु नदी के तट पर अटक को जीत लिया था, और उसे अपने राज्य की सीमा बनाया। सन् १८१८ ई० में मुलतान उसके हाथ लगा। कुछ दिन पश्चात् उसने काश्मीर जीत लिया। इस विजयोंसब पर लाहौर और अमृतसर में तीन रात तक खूब रोशनी की गई थी। सन् १८२३ ई० में एक विशाल सेना लेकर उसने अफ़ग़ानों और पठानों को पराजित किया, और पेशावर पर अपना अधिकार कर लिया। खैबर तक उसने सारे देश को रौंद डाला और अपने शत्रुओं के हृदय में भय उत्पन्न कर दिया। उसके सेनाध्यक्ष हरिसिंह नलुआ का नाम सुनकर पठानों के हृदय कांप उठते थे। उनकी स्त्रियाँ अपने बच्चों को हरिसिंह नलुआ का नाम लेकर सुला दिया करती थी। सिन्धु नदी और सुलेमान पर्वत के बीच के प्रदेश को, जिसे देशराज कहते हैं, उसने पहले ही जीत लिया था।

लार्ड विलियम बैंटिक से भेंट तथा सन्धि :— रणजीतसिंह इस बात को अच्छी प्रकार जानता था कि उसका अंग्रेजों के साथ मैत्री-सम्बन्ध

रखने से ब्या लाभ है ? इधर लार्ड विलियम बैंटिक भी उसके साथ मैत्री सम्बन्ध बनाये रखने का इच्छुक था। फलतः सन् १८३१ ई० में रोपड़ नामक स्थान पर दोनों की भेंट हुई। गवर्नर जनरल ने बड़े आदर तथा सत्कार के साथ रणजीतसिंह का स्वागत किया और सन्धि की। यह संधि-सम्बन्ध सदा के लिये स्थापित हो गया और रणजीतसिंह ने उसे सिंध तथा सतलुज के ऊपरी भाग के किनारे व्यापार की आज्ञा दे दी।

रणजीतसिंह का शासन-प्रबन्ध :—रणजीतसिंह ने अपने समस्त राज्य को चार प्रान्तों में विभक्त कर दिया था। काश्मीर, मुल्तान, लाहौर, तथा पेशावर। ये प्रान्त परगनों में विभक्त थे। प्रत्येक प्रान्त का अधिकारी नाज़िम कहलाता था। उसके नीचे कारदार होते थे। वह योग्य मनुष्यों को उच्च-पदों पर नियुक्त करता था। उनके कार्यों की देख-भाल वह स्वयं ही करता था। किसानों की पैदावार का $\frac{1}{3}$ भाग कभी कभी $\frac{2}{3}$ भाग तक लिया जाता था। रणजीतसिंह कृषक-वर्ग के हित का खूब ध्यान रखता था। अकाल इत्यादि पड़ने पर वह तकावी आदि बांटता था। न्याय साधारण रीति से होता था। कभी २ बड़ा कठोर दण्ड दिया जाता था। ऋण वसूल करने के लिये कृषकों के माल तथा पशुओं को नीलाम नहीं किया जा सकता था। ऋण सम्बन्धी मामलों का फैसला पंचों की सहायता द्वारा स्थानीय कारदार करते थे। दीवानी आदि के मुकद्दमों का फैसला पंचायतों में होता था। फौजदारी के कानून बहुत कड़े थे। यदि किसी चोर या डाकू का पता किसी गाँव विशेष में लगता था तो समस्त ग्राम उसका उत्तरदायी होता था। जुर्माना तथा अंग-भंग ही साधारण दण्ड थे। प्राण-दण्ड नहीं दिया जाता था। कभी २ अपराधी के मस्तक को खूब गर्म करके उसके ऊपर लोहे से दाग दिया जाता था। कभी २ उन्हें काला मुँह करके गधे पर बिठलाकर घुमाया जाता था। रणजीतसिंह बहुत मितव्ययी था, इसलिये उसने बहुत-सा धन अपने यहाँ इकट्ठा कर लिया था।

सैनिक प्रबन्ध :—रणजीतसिंह की सेना में पैदल, घुड़सवार तथा तोप खाना सम्मिलित थे। सेना को योरुपियन युद्ध-प्रणाली की शिक्षा दी गई थी। जाट तथा सिक्ख अधिक भर्ती किये जाते थे। उन्हें जमीन दी जाती थी। और साल में दो बार फसल कटने के समय कुछ रुपया भी दिया जाता था। वेतन देने तथा तरक्की देने का कोई विशेष नियम न था।

महाराजा रणजीतसिंह को घोड़ों का खूब शौक था। उसकी अश्वशाला में सभी प्रकार के घोड़े रहते थे। उसके कठोर नियन्त्रण में रहकर सिक्ख-सेना ने बहुत उन्नति की और अंग्रेजों के साथ युद्ध में अपनी वीरता का परिचय दिया।

रणजीतसिंह की मृत्यु :—कठिन परिश्रम करने के कारण रणजीतसिंह का स्वास्थ्य खराब हो गया था। सन् १८३९ ई० में रणजीतसिंह पर लकवा गिरा और बहुत ओषधियों तथा उपचार करने पर भी वह स्वस्थ न हो सका। सन् १८३९ ई० में उसका देहान्त हो गया। उसकी मृत्यु के समय सिक्खों का राज्य उत्तर में लद्दाख और तिब्बत तक और दक्षिण की ओर खैबर दर्रे से लेकर सिन्ध तक फैला हुआ था। पूर्व की ओर सतलुज नदी उसकी सीमा थी।

रणजीतसिंह का चरित्र :—महाराजा रणजीतसिंह ने उस कार्य को सफलता की उच्चतम श्रेणी तक पहुँचाया जिसे गुरु अर्जुन तथा गोविन्दसिंह ने प्रारम्भ किया था। उसका कूद ५ फीट ६ इंच था। रणजीतसिंह बड़ा वीर और निर्भीक सिपाही था, उसे घोड़े की सवारी करने तथा आखेट खेलने का बड़ा शौक था। उसमें दृढ़-प्रतिज्ञा का विशेष गुण था। युद्ध करने में उसे आनन्द आता था। वह वीर-पुरुषों का सत्कार करता था। उन्हें पुरस्कार देता था। सेनापति के रूप में वह अपने सिपाहियों का प्रेम-पात्र बन गया था। वे उसकी प्रतिज्ञा का पालन करते थे और उसके लिये प्राणों की बलि देने को तैयार रहते थे। वह अपना कार्य नियत समय पर करता था। स्वयं कट्टर सिक्ख होते हुए भी वह किसी धर्म या सम्प्रदाय के लोगों से घृणा नहीं करता था। उसने किसी को सिक्ख धर्म स्वीकार करने के लिये बाध्य नहीं किया। यद्यपि उसके व्यवहार से प्रसन्न होकर बहुत से लोगों ने सिक्ख-धर्म स्वीकार कर लिया। इन्हीं सब गुणों के कारण वह अस्त-व्यस्त सिक्ख जाति को एक सूत्र में बाँधकर तथा उसे योरुपियन-ढंग की शिक्षा देकर एक सुदृढ़ सिक्ख-राज्य स्थापित करने में सफल हुआ। अपने समय के अधिकांश राजाओं और बादशाहों की तरह उसे शराब पीने तथा ऐश-आराम का जीवन व्यतीत करने का काफी शौक था। इतना होते हुए भी विलास में पड़कर उसे कभी अपने कार्य की हानि नहीं होने दी। वह स्वयं पढ़ा लिखा न था, परन्तु वह विद्वानों का आदर-सत्कार करता था। वह

शिक्षा के महत्व को समझता था। उसकी बुद्धि बड़ी तीव्र थी और नई बातों को जानने के लिये वह सदा उत्सुक रहता था। वह इतिहास तथा साहित्य-प्रेमी था। युद्ध में वह बड़ा निर्भीक था। वह अपने भाग्य का निर्माता स्वयं था। यद्यपि उसकी एक आँख चेचक में जाती रही थी और चेहरे पर दाग होने के कारण उसकी आकृति बहुत ही भद्दी हो गई थी तो भी उसका लोगों पर तथा अपने कर्मचारियों पर बड़ा रोब रहता था।

रणजीतसिंह के बाद पंजाब की दशा :—महाराजा रणजीतसिंह की मृत्यु के पश्चात् सिक्ख-साम्राज्य में अराजकता फैलने लगी, सिक्ख-सेना ने एक के बाद दूसरे राजवंशज को गद्दी पर बैठाया। अन्त में दलीपसिंह गद्दी पर बैठा। अल्पायु होने के कारण उसकी माता रानी फिन्दा राज्य-कार्य करने लगी। रानी की संरक्षकता में प्रधान-मन्त्री राजा लालसिंह, जो रानी का विशेष कृपापात्र था, अधिक प्रभावशाली हो गया। प्रभाव तथा पद ने लालसिंह की आकांक्षायें प्रज्वलित कर दीं। इसकी ओर सिक्ख-सेना का प्रभाव निरन्तर बढ़ता जा रहा था, जिसके कारण उस पर नियंत्रण रखना दिन पर दिन कठिन समस्या होती जा रही थी। अंग्रेज पंजाब की इस स्थिति को गम्भीरता-पूर्वक देख रहे थे। इससे लाभ उठाने के लिये उन्होंने प्रधान-मंत्री लालसिंह तथा प्रधान-सेनापति तेजसिंह से पत्र-व्यवहार करना आरम्भ किया। और सैनिक-तैयारियाँ भी आरम्भ कर दीं। फीरोज़पुर, लुधियाना, अम्बाला, तथा मेरठ की छावनियों में सैनिक संख्या तथा युद्ध सामग्री में विशेष वृद्धि की गयी। इस प्रकार तैयारी करने के बाद लार्ड हार्डिंज उचित अवसर की प्रतीक्षा करने लगा, जो शीघ्र ही प्राप्त हो गया।

सतलुज नदी के इस पार कुछ प्रदेश महाराजा पटियाला आदि कई सिक्ख नरेशों का था। यह सब राजा अंग्रेजों के संरक्षण में थे। इनके अतिरिक्त थोड़ा भूभाग लाहौर दरबार का भी था, जिसका अंग्रेजों से कोई सम्बन्ध न था। महाराजा रणजीतसिंह के साथ जो संधि की गयी थी, उसमें तै हुआ था कि अंग्रेज इस प्रदेश में कोई हस्तक्षेप न करेंगे। कनिंघम लिखता है कि मार्च सन् १८४५ ई० के लगभग कुछ सिक्ख सवार इस प्रदेश-स्थित एक नगर की रक्षा के लिये भेजे गये गवर्नर जनरल के एजेण्ट मेजर ब्राडफुट ने इसका अर्थ यह लगाया कि सिक्ख सेना, जिसका यह सवार एक

अंश-भाग है, अंग्रेज-प्रदेश पर आक्रमण करने के लिये आ रही है। इस लिये जब उन सवारों ने फिरोजपुर के निकट सतलुज पार करके टकपुरा नामक उक्त नगर में पहुँचना चाहा, तो मेजर ब्राडफुट ने उन्हें सतलुज पार करने के बदले वापस जाने की आज्ञा दी। यद्यपि उन्होंने मेजर को अपना उद्देश्य पूर्णतया स्पष्ट कर दिया, फिर भी उसने उन्हें सतलुज पार करने की अनुमति न दी। लाहौर-दरबार इससे अत्यन्त क्रुद्ध हुआ। अपनी सरहद के निकट अंग्रेजों की सैनिक-तैयारियों को भी वह ध्यान-पूर्वक देख रहा था, और समझ गया था कि अंग्रेजों का विचार शांति-भंग करने का है। इसलिये उन्हें सिक्ख सैनिकों को इस प्रकार सतलुज पार करने से रोकना युद्ध की प्रारम्भिक छेड़-छाड़ प्रतीत हुई। वीर-सिक्ख अपने इस अपमान तथा अनुचित हस्तक्षेप का बदला लेने के लिए क्रोधान्ध हो उठे, परन्तु उन्हें ज्ञान न था कि अंग्रेज-कूटनीति के शिकार उनके प्रधान-मन्त्री तथा प्रधान-सेनापति गुप्त-रूप से उन्हें पतन के अंध-कूप की ओर ले जा रहे थे।

अंग्रेजों की सैनिक तैयारियाँ पूरी हो चुकी थीं। सिक्ख-समुदाय में वह विश्वासघात का बीज बो चुके थे। अब वह उचित बहाने की प्रतीक्षा कर रहे थे। स्थिति की गम्भीरता का अनुभव कर लार्ड हार्डिंज़ ने कलकत्ते से पंजाब की सरहद के लिये प्रस्थान कर दिया। लाहौर-दरबार को जब इसकी सूचना मिली, तो उसका धैर्य तथा शान्ति जाती रही। इसलिये जब लालसिंह तथा तेजसिंह ने सिक्ख-सेना को सतलुज पार कर अंग्रेजी सरहद पर आक्रमण करने का आदेश दिया तो उन्होंने इसका सहर्ष स्वागत किया। उन्हें बिल्कुल ज्ञात था कि लालसिंह तथा तेजसिंह ने यह आज्ञा अंग्रेजों की इच्छानुकूल ही दी है।

नवम्बर सन् १८४५ ई० के मध्य में लालसिंह के आधीन सिक्ख-सेना लाहौर से चल पड़ी। अंग्रेजों को युद्ध का बहाना मिल गया और दिसम्बर १८४५ को गवर्नर जनरल ने महाराजा दलीपसिंह के साथ युद्ध-घोषणा कर दी।

मुद्की का संग्राम :—दिसम्बर सन् १८४४ ई० को मुद्की में दोनों ओर की सेनाओं के बीच घमासान युद्ध हुआ। अंग्रेज इतिहास-लेखकों का कथन है कि सिक्खों ने अत्यन्त वीरता के साथ अंग्रेजों का सामना किया, जिसके कारण अंग्रेजों को भारी हानि उठानी पड़ी। परन्तु

मैदान अंग्रेजों के हाथ रहा। कहा जाता है कि मुदकी की पराजय का कारण अंग्रेजी सेना की वीरता नहीं, वरन् लालसिंह तथा तेजसिंह का विश्वासघात था। क्योंकि उन्होंने बारूद तथा छुरों तक में मिश्रण कर उसे बेकार कर दिया था।

मुदकी की लड़ाई के बाद फीरोजपुर में घोर संग्राम हुआ, जिसमें प्रथम बार विजय सिक्खों की रही; अंग्रेजों की भयंकर क्षति को देखकर लार्ड हाडिंग इतना घबरा उठा कि उसी दिन उसने अंग्रेज अफसरों तथा उनके बाल-बच्चों को पीछे हटा लेने का प्रबन्ध कर लिया। यदि पूरी सिक्ख-सेना उस समय आगे बढ़ जाती तो उस दिन का संग्राम ही निर्णायक सिद्ध होता। नहीं कहा जा सकता कि सिक्ख नेताओं ने क्यों ऐसी आज्ञा न दी। इतिहास-लेखक विलियम एडवर्ड्स लिखता है कि अवश्य ही लालसिंह का विश्वासघात उसका उत्तरदायी था। वह किसी प्रकार नहीं चाहता था कि उसकी सेनाएँ विजय प्राप्त करें।

इसका परिणाम यह हुआ कि उसने अंग्रेजों को युद्ध-सामग्री तथा सेना माँगने का अवसर प्रदान कर दिया, इसलिए जब दूसरी बार उसी स्थान पर युद्ध हुआ तो विजय अंग्रेजों के हाथ ही रही। परन्तु गवर्नर जनरल सिक्ख वीरता को देख चकित रह गया। फीरोजशहर की लड़ाई में अनेक बड़े २ अंग्रेज अफसरों तथा सैनिकों की मृत्यु हो चुकी थी। इसलिए गवर्नर जनरल को यह भय हुआ कि कहीं अंग्रेज परास्त न हो जायँ। उसे यह भी डर हुआ कि कहीं पटियाला का राजा सिक्ख सेना की बागडोर संभाल, उन्हें संगठित कर अंग्रेजों के उद्देश्य को असफल न कर दे। इस आशंका को दूर करने के लिए उन्होंने पटियाला-नरेश को वचन दिया कि यदि उसने कम्पनी का साथ दिया तो युद्ध के बाद उसका पद सतलुज के उस पार की सब रियासतों में ऊँचा कर दिया जावेगा और विजय के बाद जो प्रदेश कम्पनी को मिलेगा, उसका एक भाग भी उसे दे दिया जावेगा।

इस प्रकार अपनी स्थिति को दृढ़ कर अंग्रेज-सेना सतलुज पार कर लाहौर की ओर बढ़ी। अलीवाल के स्थान पर एक छोटी-सी लड़ाई हुई, जिसमें अंग्रेज-सेना ने एक सिक्ख दस्ते पर गोली चला कर उसे भगा दिया।

मुदकी, फीरोजशहर और अलीवाल की पराजय के बाद सिक्ख

सेना को विश्वास हो गया कि लालसिंह, तेजसिंह और कुछ अन्य नेता अंग्रेजों के साथ मिले हुए हैं। इसलिए उन्होंने जम्मू के राजा गुलाबसिंह को अपना नेता चुना; परन्तु उसे भी अंग्रेजों ने अपनी ओर तोड़ लिया। फल यह हुआ, उसने सिक्ख-सेना को सतलुज नदी के किनारे सुबराव नामक ऐसे स्थान पर पहुँचा दिया, जहाँ नदी को पार कर सकना असम्भव था। वहाँ अंग्रेज-सेना ने उसे चारों ओर से घेर लिया। समस्त सिक्ख-सेना कटकर मर गई और सतलुज नदी लाशों से भर गई। नदी का पानी रक्त-वर्ण हो गया। इस प्रकार लालसिंह, तेजसिंह तथा गुलाबसिंह के विश्वास-घात से अजेय सिक्ख जाति का सर्वनाश हुआ।

लाहौर की सन्धि :—सुबराव की लड़ाई के बाद फरवरी सन् १८४६ ई० में हार्डिंग लाहौर पहुँचा और अंग्रेजों तथा सिक्खों में सन्धि हो गई, परन्तु शीघ्र ही बदलकर भैरोंवाल के स्थान पर एक दूसरी सन्धि हुई। गुलाबसिंह को उसके देश-द्रोह के पारितोषिक रूप काश्मीर का विशाल राज्य, शेख इमामुद्दीन से छीनकर एक करोड़ रुपया लेकर दे दिया गया। परन्तु कहा जाता है कि लालसिंह ने गुलाबसिंह के काश्मीर पर कब्जा करने में बाधाएं डालीं, इसलिए लालसिंह की सत्ता समाप्त कर दी गई। बाद में उसे कैद करके देहरादून भेज दिया गया। रानी फिन्दाँ को १५००० पौंड वार्षिक की पेन्शन देकर राज्य-प्रबन्ध से वंचित कर दिया गया। दलीपसिंह के नाबालिग रहने के समय तक के लिए आठ सरदारों की एक कौंसिल बना दी गई। तेजसिंह उस कौंसिल का एक सदस्य रहा और यह ते कर दिया गया कि यह कौंसिल अंग्रेज रेजिडेण्ट के आदेशानुसार समस्त राज्य-प्रबन्ध करे। युद्ध के दण्ड रूप एक बहुत विशाल धन-राशि लाहौर दरबार से वसूल की गई। दरबार की सेना का एक बड़ा भाग तोड़ दिया गया और उसकी जगह कम्पनी की सेना पंजाब में नियुक्त की गई, जिसका खर्च लाहौर दरबार पर डाला गया।

सिक्ख-युद्ध के बाद लार्ड हार्डिंग के शासनकाल में कोई महत्वपूर्ण घटना नहीं हुई। जनवरी १८४८ ई० में वह इंग्लैण्ड वापस चला गया।

5000
b
5228
024
05

बाइसवाँ अध्याय

साम्राज्य-वृद्धि का तीसरा काल

लार्ड डलहौजी

(१८४८-५६)

आगमन :—१८४८ ई० में लार्ड डलहौजी भारत का गवर्नर जनरल होकर आया। उसके आगमन से भारत में साम्राज्य-वृद्धि का तीसरा युग प्रारम्भ होता है। इंग्लैंड का मन्त्रिमण्डल तथा कम्पनी के संचालक उसकी साम्राज्यवादी नीति से सर्वथा सहमत थे। इससे डलहौजी को और भी प्रोत्साहन मिला। फलतः यह हुआ कि उचित, अनुचित, न्याय-अन्याय किसी का ध्यान न कर वह अपने शासनकाल पर्यन्त साम्राज्य-वृद्धि में निरन्तर संलग्न रहा और भारत में रहे-सहे देशी राज्यों का अन्त करना आरंभ कर दिया। सर्वप्रथम पंजाब लार्ड डलहौजी की साम्राज्यवादी का शिकार हुआ।

द्वितीय सिक्ख युद्ध :—प्रथम सिक्ख-युद्ध के बाद भैरोंवाल की सन्धि में पंजाब का प्रबन्ध करने के लिए एक कौंसिल बना दी गई थी, जिस को आदेश दिया गया था कि वह पंजाब में अँग्रेजी रेजिडेण्ट की सलाह से कार्य करे। संधि की इस धारा से लाभ उठाकर सामयिक अँग्रेजी रेजिडेण्ट सर फ्रेडरिक करी ने पंजाब की स्वाधीनता का अपहरण करने की भूमिका बाँधनी आरम्भ कर दी। उसने प्रत्येक उच्च पद से देशवासियों को निकालकर उनकी जगह अँग्रेज भरती करने आरम्भ कर दिये। इससे पंजाबियों में असन्तोष बढ़ने लगा।

भैरोंवाल की सन्धि के बाद मुलतान में दो अँग्रेज कमिश्नर रक्खे गये थे और मुलतान का वार्षिक कर बढ़ा दिया गया था। मुलतान का दीवान मूलराज इस वृद्धि से सन्तुष्ट न था, इसलिए जब मुलतान के अँग्रेज पदाधिकारियों ने उसके शासन में अनुचित हस्तक्षेप करना आरम्भ कर दिया तो वह बहुत चुन्ध हुआ और अपने पद से इस्तीफा देने के लिए तैयार हो गया। पंजाब के रेजिडेण्ट करी ने काहनसिंह नामक एक सिक्ख सरदार को दो अँग्रेज अफसर तथा सेना सहित मुलतान का उचित प्रबन्ध

२०२

करने को भेजा। मूलराज पदच्युत कर दिया गया और उसकी जगह काहन-सिंह मुलतान का दीवान नियुक्त हुआ। नगर में शान्ति तथा सुरक्षा रखने के लिए अंग्रेज अफसरों ने उक्त अवसर पर मुलतान के सब नगर-द्वारों पर अंग्रेज गारद नियुक्त कर दी, परन्तु मुलतान की सेना में इस घटना से बड़ा असन्तोष फैला। उन्हें मुलतान का शासन सिक्खों के हाथों से अंग्रेजों के हाथों में जाता हुआ प्रतीत हुआ। इससे क्रुद्ध होकर मुलतानियों ने दोनों अंग्रेज अफसरों का वध कर डाला। इस दुर्घटना का कारण मुलतानियों की स्वाधीनता पर आक्रमण प्रतीत होता है पर रेज़ीडेण्ट करी ने मुलतान-विद्रोह को संगठित विद्रोह घोषित किया और महाराजा दलीपसिंह की फिन्दाकौर तथा मूलराज दोनों को इसका उत्तरदायी ठहराया। करी के इस अभियोग की बिना जाँच-पड़ताल किये ही महारानी फिन्दाकौर बन्दी बना कर बनारस भेज दी गई। समस्त पंजाब, विशेषतया सिक्ख जाति महारानी को माता-तुल्य समझती थी। इसलिए उसके साथ इस व्यवहार को देखकर समस्त सिक्ख जाति में असन्तोष की आग भड़क उठी और उसकी सहानुभूति दीवान मूलराज तथा मुलतान के विद्रोही सिपाहियों की ओर हो गई।

एक अन्य घटना ने सिक्ख जाति को युद्ध के लिए बाध्य कर दिया। लाहौर कौंसिल के प्रसिद्ध राजा शेरसिंह का पिता सरदार चतरसिंह अटारी वाला पंजाब के हज़ारा प्रान्त का शासक था। वह अत्यन्त स्वतन्त्रता-प्रिय तथा निर्भीक व्यक्ति था। उसकी पुत्री की सगाई महाराजा दलीपसिंह के साथ हुई थी। परन्तु विवाह सम्पन्न होते समय रेज़ीडेण्ट करी ने चतरसिंह को लिखा कि बिना उसकी स्वीकृति के विवाह नहीं हो सकता। चतरसिंह का आत्मसम्मान अपने व्यक्तिगत मामलों में अंग्रेजों के इस अनुचित हस्तक्षेप को सहन न कर सका। वह पहले ही से अंग्रेजों को कूटनीति से अप्रसन्न था। इसलिए वह तथा राजा शेरसिंह देश, धर्म तथा खालसा राजपू की रक्षा के लिए कटिबद्ध हो गये और अंग्रेजों के विरुद्ध युद्ध-घोषणा कर दी।

घटनायें :—गवर्नर जनरल के आदेशानुसार लार्ड गफ ने नवम्बर १८४८ ई० में रावी नदी को पार किया। चुनाव के तट पर राय नगर के स्थान पर युद्ध हुआ, इसमें किसी पक्ष की विजय न हुई। सायुल्लापुर के संग्राम में सिक्खों को बहुत क्षति हुई। जनवरी १८४९ ई० में विलपानवाला

में घोर संग्राम हुआ। यद्यपि सिक्ख-सेना अंग्रेज-सेना से कम थी, फिर भी अंग्रेज खुरी तरह परास्त हुये। उनके अनेक अफसर खेत रहे और बहुत-से सिपाही काम आये, परन्तु इसी समय शेरसिंह तथा अन्य सिक्ख सरदारों में मतभेद उत्पन्न हो गया। जिससे लाभ उठा कर अंग्रेजी सेना ने २२ फरवरी सन् १८४६ ई० को गुजरात के संग्राम में ही पंजाब की स्वाधीनता तथा सिक्खों की राजसत्ता दोनों का अन्त हो गया। उधर मुलतान में भी ६ महीने तक वीरता से मुकाबला करने के बाद दीवान मूलराज ने आत्मसमर्पण कर दिया। कहा जाता है कि किसी विश्वास-घातक ने उसके मैगज़ीन में आग लगा दी जिसने उसे हतोत्साह कर दिया और वह आत्म-समर्पण के लिये बाध्य हो गया।

युद्ध का अन्त :—गुजरात-विजय के पश्चात् द्वितीय सिक्ख-युद्ध समाप्त हो गया। महाराजा दलीपसिंह को गद्दी से उतार दिया गया। उससे एक पत्र पर हस्ताक्षर करवा लिये गये, जिसमें लिखा था 'वह तथा उसके वंशज सदैव के लिये पंजाब अंग्रेजों के सुपुर्द करते हैं'। उसे २०००० पौंड को वार्षिक पेन्शन और राजकुमार की उपाधि मिली। बाद में वह इंग्लैंड चला गया जहाँ उसने ईसाई धर्म स्वीकार कर लिया। मूलराज पर मुकदमा चलाया गया और उसे प्राणदंड दिया गया। पंजाब को अंग्रेजी राज्य में सम्मिलित करना सर्वथा अनुचित था। महाराजा दलीपसिंह अल्पायु था, इसलिये पंजाब प्रान्त के खगड़ों के लिये उसे दोषी ठहरा, उसके राज्य तथा सम्पत्ति का अपहरण करना अत्यन्त अन्यायपूर्ण था। पंजाब के खगड़ों का प्रबन्धकारी वर्ग ही दोषी कहा जा सकता था। जिसमें अंग्रेज पदाधिकारी भी सम्मिलित थे। इस प्रकार निरपराध दलीपसिंह को राज्य से वंचित करना पूर्णतया अनाधिकार चेष्टा थी, जिसे किसी प्रकार न्यायसंगत नहीं ठहराया जा सकता।

पंजाब का शासन-प्रबन्ध :—पंजाब का प्रबन्ध करने के लिये 'लॉर्ड डलहौसी' की स्थापना की गई। सर हैनरी लारेन्स तथा उसका सहायक सर जेम्स लारेन्स व मैसेल इसके सदस्य नियुक्त हुये। सिक्खों के हितों का ध्यान रखा गया। सिक्ख सरदारों की जायदादें जम्त कर ली गईं। पंजाब में खेती बढ़ाई गई। कुछ दीवानी तथा फौजदारी सुधार किये। अंगरेजों ने उक्त बोर्ड ने दंड स्थगित कर दिये गये। भूमि का उचित प्रबन्ध, दलितों के कठोर श्रम करने के लिये किसान

तथा जमींदारों के अधिकार की जांच कराई गई और उपज का चौथाई भाग भूमि-कर नियुक्त किया गया। कृषि की उन्नति के लिये सिंचाई की योजना बनाई गई। उक्त बोर्ड ने शिक्षा तथा सामाजिक सुधार की ओर भी ध्यान दिया। सन् १८५३ ई० में यह बोर्ड तोड़ दिया गया और सर जान लारेन्स को प्रथम चीफ कमिश्नर नियुक्त कर पंजाब का सूबा उसके सुपुर्द कर दिया गया।

बर्मा का दूसरा युद्ध :—प्रथम बर्मा-युद्ध के पश्चात् पाँडाबू के सतर्क के अनुसार ब्रिटिश कम्पनी को बर्मा में पैर जमाने का अवसर मिल गया था। बहुत-से अंग्रेज व्यापारी बर्मा के दक्षिणी समुद्र तट पर बस गये। यह व्यापारी नित्य नई सुविधाओं के इच्छुक रहने लगे, इनकी बहुत-सी अनुचित माँगों को बर्मा के शासक ने स्वीकार करने से मना कर दिया। इस अस्वीकृति का एक कारण अंग्रेजी व्यापारियों का देशी लोगों के साथ अनुचित व्यवहार भी था। इन व्यापारियों ने गवर्नर जनरल से रँगून के शासक की शिकायत की। लार्ड डलहौजी ने बर्मा के बौद्ध राजा को लिखा कि वह रँगून के शासक को उचित व्यवहार का आदेश दे तथा उसके अनुचित व्यवहार से हुई हानि की पूर्ति करे। इस पत्र की प्राप्ति पर महाराजा ने रँगून के गवर्नर को बदल दिया और आदेश दिया कि नया गवर्नर अंग्रेज व्यापारियों के साथ न्याय-संगत व्यवहार करे, परन्तु व्यापारियों ने इस नये गवर्नर की शिकायत की। गवर्नर जनरल ने बिना छानबीन किये, व्यापारियों की शिकायत को सत्य मान लिया। उसने फिर बर्मा के महाराजा को लिखा कि वह तुरन्त इन व्यापारियों की शिकायतों को दूर करें और एक लाख पौंड बतौर हर्जाने के दे अभी महाराजा उत्तर भी न देने पाया था कि अग्रेल सन् १८५२ ई० में अंग्रेज युद्ध पोतों ने एक ब्रह्मी दे. को पकड़ लिया और जब ब्रह्मी रत्नों ने उसकी वापसी की प्रार्थना जहाँ. होने रँगून और ढाका के तटों पर गोलाबारी आरम्भ कर दी; बस की तो उ. ने गया।

युद्ध आरम्भ

अंग्रेजी सेना ने मर्तबान पर अधिकार कर लिया और

युद्ध :—

रँगून के बौद्ध मंदिरों का बर्मा की जनता का खूब संहार किया गया और बर्मा युद्ध के दिनों में निरपराध. त पीगू महाराजा से छीन कर कम्पनी के का सबसे अधिक उपजाऊ प्रा.

राज्य में मिला लिया गया। इसके बाद युद्ध का अन्त हो गया। इसके फलस्वरूप बंगाल की खाड़ी का सम्पूर्ण समुद्र-तट कुमारी अन्तरीप से मलाया प्रायद्वीप तक अंग्रेजों के अधिकार में आ गया।

लैप्स की नीति :—सम्पूर्ण पंजाब तथा ब्रह्मा के अधिकतर भाग को विजय द्वारा अंग्रेजी साम्राज्य में सम्मिलित करने के बाद लार्ड डलहौजी ने आठ अन्य देशी राज्यों का अन्त कर उन्हें ब्रिटिश राज्य में विलीन कर लिया। इनमें से सात एक विशेष नीति के अन्तर्गत जिसे अंग्रेजी में लैप्स की नीति कहते हैं, साम्राज्य में सम्मिलित हुये। लैप्स की नीति का अर्थ था कि जिन देशी नरेशों ने कम्पनी के साथ मित्रता की सन्धि कर रखी थी या जो अंग्रेजों के अधीन थे, उनके यदि कोई पुत्र न हो तो वे बिना अंग्रेजों की अनुमति के किसी को गोद न ले सकते थे, यदि वे अथवा उनकी रानी इस नियम का उल्लंघन कर किसी को गोद ले तो वह बालक रियासत का अधिकारी नहीं हो सकता था वरन् केवल राजा की व्यक्तिगत जायदाद का अधिकारी हो सकता था। यह नियम यद्यपि पहले से लागू था, लार्ड डलहौजी ने इसका बड़ी कठोरता से पालन किया और भारतीय नरेशों को गोद लेने की आज्ञा न दे, बहुत-से राज्यों का अस्तित्व मिटा डाला।

सतारा :—सबसे पहला भारतीय राज्य जिसका इस नीति के अनुसार अन्त हुआ, सतारा था। यहाँ के राजा शिवाजी के वंशज थे। इन्हीं राजाओं की सहायता से अंग्रेजों ने पेशवा बाजीराव का अन्त किया था। सन् १८४८ ई० में वहाँ के राजा अप्पासाहब के निधन पर लार्ड डलहौजी ने विधवा महारानी को पुत्र गोद में लेने की आज्ञा न दी। तदनुसार सतारा अंग्रेजी राज्य में विलीन कर लिया गया। सन् १८५७ ई० की क्रान्ति के बाद यद्यपि महारानी ने मल्का विक्टोरिया के नाम इस अन्याय के विरुद्ध प्रार्थना-पत्र भी भेजा तो भी कोई परिणाम न हुआ।

नागपुर का अपहरण :—नागपुर के अन्तिम राजा राघोजी भोंसला तृतीय की मृत्यु ११ दिसम्बर सन् १८५३ ई० को हुई। यद्यपि राजा अत्यन्त नेक तथा बुद्धिमान था तो भी लार्ड डलहौजी ने उस पर अनेक दोष लगा विधवा महारानी के दत्तक पुत्र को स्वीकार करने से मना कर दिया और नागपुर को अंग्रेजी राज्य में सम्मिलित करने की घोषणा कर दी।

भाँसी :—१८५३ ई० में भाँसी के राजा गंगाधरराव का देहान्त

हो गया। मृत्यु से पहले राव ने विधिवत् दामोदरराव नामक एक बालक को गोद ले लिया था परन्तु तो भी लार्ड डलहौजी ने फैसला किया कि इस दत्तक पुत्र को राज्य का कोई अधिकार नहीं। फलस्वरूप मार्च सन् १८५४ ई० में झाँसी अंग्रेजी राज्य में मिला ली गई। इस अन्याय के प्रतिशोध-स्वरूप ही १८५७ ई० के स्वतन्त्रता-समर में झाँसी की प्रसिद्ध रानी लक्ष्मीबाई ने शस्त्र धारण कर अंग्रेजों के विरुद्ध सैनिक मोर्चा खोला।

इसी नीति के अन्तर्गत सम्बलपुर तथा जैतपुर का अपहरण कर उन्हें अंग्रेजी राज्य में सम्मिलित कर लिया गया।

उपाधियों का अन्त :—लार्ड डलहौजी ने उपरोक्त नीति को उपाधियों पर भी लागू किया। उसने घोषित किया कि यदि अंग्रेजों के अधीनस्थ किसी व्यक्ति को राजा की उपाधि प्रदान की गई है और उसके कोई पुत्र नहीं है तो उसका दत्तक पुत्र बिना उनकी अनुमति के उपाधि को धारण नहीं कर सकता। इस नियम के अन्तर्गत तंजौर के राजा तथा कर्नाटक के नवाब की उपाधियाँ छीन ली गईं। इसी प्रकार १८५३ ई० में पेशवा बाजीराव द्वितीय की मृत्यु के बाद उसके दत्तक पुत्र नाना साहब को पेशवा की स्वीकृत ८ लाख रुपया वार्षिक पेंशन बन्द कर दी गई। यही नहीं वरन् लार्ड डलहौजी ने यह भी प्रस्ताव किया कि अन्तिम मुगल सम्राट् बहादुर-शाह की मृत्यु के पश्चात् उसके उत्तराधिकारियों को सम्राट् की पदवी धारण करने की आज्ञा न दी जाय, किन्तु डाइरेक्टरों ने इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया। फिर भी मुस्लिम वर्ग में इससे अत्यन्त क्रोध फैला, जो १८५७ ई० की क्रान्ति में प्रकट हुआ।

अवध का विलीनीकरण :—साम्राज्य-प्रिय डलहौजी की आँखें बहुत दिन से अवध पर लगी हुई थीं। सन् १८५१ ई० में उसने लखनऊ के रेजीडेण्ट कर्नल स्लीमैन से अवध के शासन-प्रबन्ध के विषय में रिपोर्ट माँगी, जिससे उसे कोई बहाना मिल जावे तो वह अवध की स्वतन्त्रता का अपहरण कर सके। स्लीमैन ने अपनी रिपोर्ट में अवध के कुप्रबन्ध तथा नवाब वाजिदअलीशाह के चरित्र का अत्यन्त अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन दिया।

डलहौजी को उचित बहाना मिल गया और जब १८५४ ई० में नये रेजीडेण्ट जनरल ओटरम ने भी स्लीमैन की रिपोर्ट का समर्थन किया तो वह स्वयं अवध की जाँच के लिए लखनऊ गया। वहाँ से लौट कर उसने

ओटरम को लिखा कि वह लखनऊ के अन्तिम नवाब वाजिदअलीशाह को १२ लाख रुपया को पेंशन स्वीकार करने तथा अवध का राज्य कम्पनी के सुपुर्द करने के लिए बाध्य करे। परन्तु वाजिदअलीशाह ने इस प्रकार की सन्धि करने से इन्कार कर दिया, इसपर डलहौजी के आदेशानुसार घोषणा कर दी कि अवध का राज्य अंग्रेजी राज्य में सम्मिलित कर लिया गया है। अवध का विलीनीकरण अत्यन्त अन्यायपूर्ण कार्य था। अवध के नवाब अंग्रेजों के मित्र रह चुके थे। दूसरे डलहौजी का यह कार्य १८३७ की संधि के सर्वथा विरुद्ध था।

कम्पनी का नया आज्ञापत्र (१८५३ ई०):—सन् १८५३ में कम्पनी को फिर नया आज्ञापत्र मिला, इसके अनुसार कम्पनी का अस्तित्व कायम रक्खा गया, परन्तु उसके व्यापार-सम्बन्धी सभी अधिकार छीन लिए गये। डाइरेक्टरों की संख्या २४ से घटा कर १८ कर दी गई और इसमें से छः को निर्वाचित करने का अधिकार सम्राट् को दे दिया गया। संचालकों के अधिकतर अधिकार बोर्ड आफ् कंट्रोलर को दे दिये गये। भारतीय शासन के पदाधिकारियों की नियुक्ति के लिए इण्डियन सिविल सर्विस की परीक्षा का प्रादुर्भाव हुआ। इसके अनुसार केवल योग्य व्यक्ति ही उच्च पदाधिकारी हो सकते थे। पहले की भाँति डाइरेक्टर अब अपने सम्बन्धियों को ही उक्त पदों पर आसीन न कर सकते थे। सन् १८३३ ई० में एक ला मेम्बर गवर्नर जनरल की कौंसिल का सदस्य नियुक्त किया गया था। इस आज्ञापत्र के अनुसार यह सदस्यता स्थायी कर दी गई। गवर्नर जनरल को बंगाल के शासनभार से मुक्त कर उसे सम्पूर्ण भारत के शासन-भार का उत्तरदायी किया गया। बंगाल के शासन के लिए एक लैफ्टिनेण्ट गवर्नर नियुक्त किया गया। गवर्नर जनरल की कौंसिल के सदस्यों की संख्या १२ कर दी गई। इस आज्ञापत्र द्वारा कम्पनी का ध्यान भारतवर्ष की शासन-व्यवस्था, यहाँ के निवासियों की शिक्षा, भूमि-प्रबन्ध, सेना इत्यादि की ओर केन्द्रीभूत किया गया। इसके कुछ दिन बाद सर चार्ल्स वुड ने १८५४ ई० में अपना प्रसिद्ध शिक्षा-पत्र भेजा, जिसके अनुसार शिक्षा-विभाग की स्थापना हुई तथा यूनिवर्सिटी स्थापित की गई, इस प्रकार डलहौजी के समय में आधुनिक शिक्षा-प्रणाली की नींव पड़ी।

शासन-सुधार :—लार्ड डलहौजी ने शासन-सम्बन्धी अनेक सुधार किये। अंग्रेजी साम्राज्य दो प्रकार के प्रान्तों में विभक्त था। एक जिसका विकास अंग्रेज फैक्टरियों से आरम्भ होकर हुआ, यह प्रेजीडेन्सी कहलाये।

२०८

दूसरे वह सूबे जो नये ब्रिटिश राज्य में मिले, वह नान रेग्यूलेशन प्रान्त कहलाये। इनके शासन में पुराने सूबों की अपेक्षा स्थानीय लोगों को कहीं अधिक स्वतन्त्रता प्रदान की गई। लार्ड डलहौजी ने सैनिकों के आराम और स्वास्थ्य की ओर विशेष ध्यान दिया। उसकी सलाह से गोरखे और सिक्खों की नई पलटनें बनाई गईं तथा योरोपीय सेना में वृद्धि की गई। उसने सार्वजनिक निर्माण-कार्य के लिये सार्वजनिक विभाग अर्थात् Public Works Department की स्थापना की। सार्वजनिक कार्यों के लिए उसने जनता से ऋण लेने की प्रथा आरम्भ की। उसके आर्थिक सुधारों के परिणामस्वरूप भारत की आय २४५ लाख से बढ़ कर ३०७½ लाख हो गई। लार्ड डलहौजी ने भारतवर्ष में प्रथम रेलवे की स्थापना की, जो ईस्ट इंडियन रेलवे के नाम से अब तक चली आती है। डाक व तार की उचित व्यवस्था कर उसने भारत के कोने-कोने को जोड़ दिया। इन सुधारों से व्यापार को विशेष प्रोत्साहन मिला। दो पैसे के कार्ड से सूचना प्राप्त कर जनता ने विशेष सुविधा का अनुभव किया। सिंचाई के साधनों को प्रगति देने के लिए उसने गंगा की नहर निकलवाई। १८५४ ई० में सर चार्ल्स वुड के अधिकार-पत्र की प्राप्ति पर उसने भारतीय जनता की शिक्षा को ओर भी विशेष ध्यान दिया।

वापसी :— सन् १८५६ ई० में डलहौजी इंग्लैंड वापस लौट गया, वहाँ पर चार वर्ष बाद उसका देहान्त हो गया।

तेईसवाँ अध्याय

१८५७ की राज्य-क्रान्ति

फरवरी १८५६ में डलहौजी के पश्चात् लार्ड केनिंग भारतवर्ष का गवर्नर जनरल नियुक्त होकर आया। अपनी कुशाग्र बुद्धि एवं शासन-सम्बंधी योग्यता के सम्बन्ध में वह पर्याप्त ख्याति प्राप्त कर चुका था। भारत के शासन का भार सँभालने से पहले वह इंग्लैंड में पोस्टमास्टर जनरल रह चुका था। वह बड़ा परिश्रमी एवं योग्य था, परंतु डलहौजी की भाँति महत्वाकाँक्षी न था। किसी निश्चय पर पहुँचने में उसको विलम्ब तो अवश्य होता था, परन्तु इसके पश्चात् वह धैर्य तथा दृढ़ता से अपने निश्चय पर स्थिर रहता था। इसपर भी उसने अपने शासनकाल में अनेकों ऐसे कार्य किये थे,

जिनकी आलोचना किए बिना नहीं रहा जा सकता। हो सकता है कि यदि वह शान्तिकाल में गवर्नर जनरल हुआ होता, तो कदाचित् उसकी गणना सुशासकों में हो जाती।

जिस समय केनिंग भारत में आया तो ऐसा प्रतीत होता था कि उसको सर्वप्रथम मध्य एशिया की समस्या का सामना करना पड़ेगा। १८५५ ई० में तेहरान से ब्रिटिश राजदूत अपमानित करके निकाल दिया गया था। अगले वर्ष फ़ारिस की सेनाओं ने १८५४ ई० की सन्धि का उल्लंघन करके हिरात पर अधिकार कर लिया। इंग्लैंड की सरकार ने केनिंग को युद्ध की घोषणा करने का आदेश दिया। एक अंग्रेजी सेना फ़ारिस की खाड़ी में भेज दी गई, जिसने बू शहर पर अधिकार कर लिया और शत्रु को अन्य अनेकों स्थानों पर परास्त किया। अन्त में दोनों दलों में सन्धि हो गई। फ़ारिस ने हिरात को खाली करने और अफगानिस्तान की आन्तरिक व्यवस्था में हस्तक्षेप न करने का वचन दिया। इस युद्ध के परिणामस्वरूप अफगान अमीर दोस्त मुहम्मद के साथ १८५५ तथा '५७ में दो सन्धियाँ हुईं जो क्रान्ति-काल में अंग्रेजों के लिए बड़ी हितकर सिद्ध हुईं।

राज्य-क्रान्ति के कारण :—१८५७ की राज्य-क्रान्ति के सम्बन्ध में दो विचारधाराएँ हैं। एक के अनुसार यह केवल एक सैनिक विप्लव था, और दूसरी धारणा के अनुसार यह ब्रिटिश साम्राज्य को समाप्त करने के लिए एक देशव्यापी क्रान्ति थी। जान लारेंस के अनुसार क्रान्ति एक सैनिक विलप्व मात्र थी, परन्तु ऊद्गम का कहना है कि हिन्दू शासकों की शिकायतों से लाभ उठा कर मुसलमानों का यह एक षड्यन्त्र था। यथार्थ में देश को विदेशियों के चंगुल से स्वतन्त्र करने के लिए यह एक देशव्यापी आन्दोलन था जिसमें हिन्दू और मुसलमानों ने एक होकर मातृभूमि की परतन्त्रता की बेड़ियाँ काटने का बीड़ा उठाया था। इस महान् क्रान्ति के जिसमें प्रथम बार अंग्रेजी शासनकाल में सच्ची राष्ट्रीयता का आभास मिलता है, अनेकों कारण थे, जिनको चार मुख्य भागों में विभजित किया जा सकता है:— राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा सैनिक।

राजनीतिक कारण :—डलहौजी की साम्राज्यवादी नीति एवं अति प्राचीन गोद लेने की प्रथा की तिरस्कार पूर्ण अवहेलना ने देश भर में असन्तोष एवं चोभ की लहर फैला दी थी। इस अन्यायपूर्ण नीति के हिन्दू

२०८

दूसरे वह सूबे जो नये ब्रिटिश राज्य में मिले, वह नान रेग्यूलेशन प्रान्त कहलाये। इनके शासन में पुराने सूबों की अपेक्षा स्थानीय लोगों को कहीं अधिक स्वतन्त्रता प्रदान की गई। लार्ड डलहौजी ने सैनिकों के आराम और स्वास्थ्य की ओर विशेष ध्यान दिया। उसकी सलाह से गोरखे और सिक्खों की नई पलटने बनाई गई तथा योरुपीय सेना में वृद्धि की गई। उसने सार्वजनिक निर्माण-कार्य के लिये सार्वजनिक विभाग अर्थात् Public Works Department की स्थापना की। सार्वजनिक कार्यों के लिए उसने जनता से ऋण लेने की प्रथा आरम्भ की। उसके आर्थिक सुधारों के परिणामस्वरूप भारत की आय २४५ लाख से बढ़ कर ३०७½ लाख हो गई। लार्ड डलहौजी ने भारतवर्ष में प्रथम रेलवे की स्थापना की, जो ईस्ट इंडियन रेलवे के नाम से अब तक चली आती है। डाक व तार की उचित व्यवस्था कर उसने भारत के कोने-कोने को जोड़ दिया। इन सुधारों से व्यापार को विशेष प्रोत्साहन मिला। दो पैसे के कार्ड से सूचना प्राप्त कर जनता ने विशेष सुविधा का अनुभव किया। सिंचाई के साधनों को प्रगति देने के लिए उसने गंगा की नहर निकलवाई। १८५४ ई० में सर चार्ल्स वुड के अधिकार-पत्र की प्राप्ति पर उसने भारतीय जनता की शिक्षा की ओर भी विशेष ध्यान दिया।

वापसी :— सन् १८५६ ई० में डलहौजी इंग्लैंड वापस लौट गया, वहाँ पर चार वर्ष बाद उसका देहान्त हो गया।

तेईसवाँ अध्याय

१८५७ की राज्य-क्रान्ति

फरवरी १८५६ में डलहौजी के पश्चात् लार्ड केनिंग भारतवर्ष का गवर्नर जनरल नियुक्त होकर आया। अपनी कुशाग्र बुद्धि एवं शासन-सम्बंधी योग्यता के सम्बन्ध में वह पर्याप्त ख्याति प्राप्त कर चुका था। भारत के शासन का भार सँभालने से पहले वह इंग्लैंड में पोस्टमास्टर जनरल रह चुका था। वह बड़ा परिश्रमी एवं योग्य था, परंतु डलहौजी की भाँति महत्वाकांक्षी न था। किसी निश्चय पर पहुँचने में उसको विलम्ब तो अवश्य होता था, परन्तु इसके पश्चात् वह धैर्य तथा दृढ़ता से अपने निश्चय पर स्थिर रहता था। इसपर भी उसने अपने शासनकाल में अनेकों ऐसे कार्य किये थे,

जिनकी आलोचना किए बिना नहीं रहा जा सकता। हो सकता है कि यदि वह शान्तिकाल में गवर्नर जनरल हुआ होता, तो कदाचित् उसकी गणना सुशासकों में हो जाती।

जिस समय केनिंग भारत में आया तो ऐसा प्रतीत होता था कि उसको सर्वप्रथम मध्य एशिया की समस्या का सामना करना पड़ेगा। १८५५ ई० में तेहरान से ब्रिटिश राजदूत अपमानित करके निकाल दिया गया था। अगले वर्ष फ़ारिस की सेनाओं ने १८१४ ई० की सन्धि का उल्लंघन करके हिरात पर अधिकार कर लिया। इंग्लैंड की सरकार ने केनिंग को युद्ध की घोषणा करने का आदेश दिया। एक अंग्रेजी सेना फ़ारिस की खाड़ी में भेज दी गई, जिसने बू शहर पर अधिकार कर लिया और शत्रु को अन्य अनेकों स्थानों पर परास्त किया। अन्त में दोनों दलों में सन्धि हो गई। फ़ारिस ने हिरात को खाली करने और अफगानिस्तान की आन्तरिक व्यवस्था में हस्तक्षेप न करने का वचन दिया। इस युद्ध के परिणामस्वरूप अफगान अमीर दोस्त मुहम्मद के साथ १८५५ तथा '५७ में दो सन्धियाँ हुईं जो क्रान्ति-काल में अंग्रेजों के लिए बड़ी हितकर सिद्ध हुईं।

राज्य-क्रान्ति के कारण :—१८५७ की राज्य-क्रान्ति के सम्बन्ध में दो विचारधाराएँ हैं। एक के अनुसार यह केवल एक सैनिक विप्लव था, और दूसरी धारणा के अनुसार यह ब्रिटिश साम्राज्य को समाप्त करने के लिए एक देशव्यापी क्रान्ति थी। जान लारेंस के अनुसार क्रान्ति एक सैनिक विलप्व मात्र थी, परन्तु ऊद्गम का कहना है कि हिन्दू शासकों की शिकायतों से लाभ उठा कर मुसलमानों का यह एक षड्यन्त्र था। यथार्थ में देश को विदेशियों के चंगुल से स्वतन्त्र करने के लिए यह एक देशव्यापी आन्दोलन था जिसमें हिन्दू और मुसलमानों ने एक होकर मातृभूमि की परतन्त्रता की बेड़ियाँ काटने का बीड़ा उठाया था। इस महान् क्रान्ति के जिसमें प्रथम बार अंग्रेजी शासनकाल में सच्ची राष्ट्रीयता का आभास मिलता है, अनेकों कारण थे, जिनको चार मुख्य भागों में विभजित किया जा सकता है:— राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा सैनिक।

राजनीतिक कारण :—डलहौजी की साम्राज्यवादी नीति एवं अति प्राचीन गोद लेने की प्रथा की तिरस्कार पूर्ण अवहेलना ने देश भर में असन्तोष एवं चोभ की लहर फैला दी थी। इस अन्यायपूर्ण नीति के हिन्दू

और मुसलमान दोनों शिकार बने थे। पा० ई० १८०० राबर्ट्स की दृष्टि में यह नीति क्रान्ति का कोई विशेष कारण नहीं ठहरती। उसका कहना है कि यदि चर्बी लगी कारतूसों का प्रश्न न उठ खड़ा होता तो देशी शासकों का यह रोष कुछ समय पश्चात् स्वयमेव ठण्डा हो जाता; परन्तु कर्नल स्लीमैन ने १८५३ में लिखा था, “मैं देशी राज्यों को (ब्रिटिश साम्राज्य की रक्षा के लिए) बाँध सम्भूत हूँ और जब ये सब राज्य विलीन कर दिये जायेंगे, तो हमको देशी सेना की दया पर आश्रित होना पड़ेगा, जिस पर हमारा पर्याप्त नियन्त्रण रहना सम्भव नहीं है।” स्लीमैन के यह शब्द १८५७ में अक्षरशः सत्य सिद्ध हुए। डलहौज़ी के काल में सिक्खों की महान् शक्ति का अन्त हो चुका था, अवध की मुख्य मुसलमानी रियासत अंग्रेजी साम्राज्य में विलीन कर ली गई थी। छत्रपति शिवाजी महाराज की प्रारम्भिक राजधानी सितारा तथा नागपुर को भी हड़प लिया गया था। मुगल-साम्राज्य की श्री का लगभग अन्त कर दिया गया था और जो कुछ अवशिष्ट था, उसके लिए यह निर्धारित कर दिया गया था कि बहादुरशाह के पश्चात् उसका उत्तराधिकारी उसके राजकीय भवन में सम्राटोचित शान-बान से नहीं रह सकता था। अंग्रेज अफसरों एवं कर्मचारियों को उस समय की बातों से यह सर्वथा प्रकट था कि उन्होंने न्याय एवं अन्याय के पचड़े में न पड़ कर प्रत्येक सम्भव साधन को प्रयोग करके भारत के समस्त राज्यों को समाप्त करने का निश्चय कर लिया था। उदाहरण के लिए सर चार्ल्स नेपियर ने अपने एक पत्र में लिखा था, “यदि बारह वर्ष के लिए मैं भारत का सम्राट् बन जाऊँ.....तो एक भी भारतीय नरेश न रहे। निज़ाम का नाम तक भी सुनने को न मिले, “नैपाल हमारा हो जाय”।” डलहौज़ी ने बाजीराव पेशवा के दत्तक पुत्र नाना साहब की पेंशन बन्द कर दी थी। क्योंकि नाना साहब बाजीराव का दत्तक पुत्र था, इसलिए वह पेशवा की पदवी एवं उसके अधिकारों का दावेदार था। उसकी पेंशन बन्द कर देना नितान्त अन्याय था। परिणाम-स्वरूप नाना साहब अंग्रेजों का कट्टर शत्रु बन गया था। १८५७ के प्रारम्भिक महीनों में यही नाना साहब क्रान्ति का अग्रगण्य दूत बना।

सामाजिक कारण :—सामाजिक दृष्टिकोण से प्रत्येक देशी राज्य का अंग्रेजी साम्राज्य में सम्मिलित किये जाने का बड़ा भारी प्रभाव पड़ा था। इस प्रकार एक देशी राज्य धराने का तो अन्त ही हो जाता था, परन्तु

इसके साथ ही अनेकों मनुष्यों की जीविका का भी अन्त हो जाता था और यह एक अनुभूत कहावत है कि जीवन से जीविका प्यारी होती है। फिर तो 'मरता क्या न करता' वाली बात हुई। फिर विजित प्रान्तों में जागीरदारों एवं जमींदारों के साथ बड़ा कटुतापूर्ण व्यवहार किया गया। अंग्रेज अफसरों ने जो विजय के गर्व में उन्मत्त हो रहे थे, देशीय परम्परा तथा प्रथाओं का लेशमात्र भी ध्यान न करके मनमानी करना आरम्भ कर दिया था। बँटिङ्क के भूमि-सम्बन्धी नियमों के कारण अनेकों जमींदार निर्धन हो गये थे और उन लोगों ने क्रान्ति के आन्दोलन में सहर्ष भाग लिया। क्रान्ति से पूर्व पाँच वर्षों में बम्बई के इनाम कमीशन ने २०,००० जागीरों का अन्त कर दिया था। अवध के ब्रिटिश साम्राज्य में मिलाये जाने पर उसकी आन्तरिक व्यवस्था में जो परिवर्तन किये गये, उनके कारण प्रान्त की जनता में बड़ा भारी चोभ फैल गया था। अप्रैल १८५६ में अवध में जेम्स ऊट्रम के स्थान पर जैकसन चीफ कमिशनर नियुक्त किया गया, जिसको प्रान्त-वासियों के हितों से लेशमात्र भी सहानुभूति नहीं थी। नवाब की सेना तोड़ दी गई, जिसके कारण सैनिकों की जीविका का आश्रय जाता रहा। अवध के ताल्लुकेदारों के अधिकारों की बड़ी कड़ी जाँच की गई। जैकसन के शासन-काल में ही अवध में क्रान्ति के चिन्ह प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होने लगे थे, और यद्यपि जैकसन के स्थान पर हेनरी लारेंस को नियुक्त कर दिया गया था, जिसने चोभ को शान्त करने के प्रयत्न किये, परन्तु अवध के ताल्लुकेदारों ने क्रान्ति में महत्वपूर्ण भाग लिया। केनिङ्ग की एक घोषणा ने जिसका आगे उल्लेख किया जायगा, उनको और भी अधिक उत्तेजित कर दिया था।

धार्मिक कारण :- धार्मिक दृष्टिकोण से अंग्रेजों का आधिपत्य हिंदू और मुसलमान दोनों को ही असह्य था। फिर ईसाई बनाने की प्रथा निरन्तर जोर पकड़ती जा रही थी और अधिकांश जनता की यह धारणा थी कि केनिंग को भारतवासियों को ईसाई बनाने के लिए ही भारतवर्ष भेजा गया था। मैकाले ने जो गवर्नर जनरल की कौंसिल का सदस्य रह चुका था, हिंदू पौराणिक गाथाओं की बड़ी तिरस्कारपूर्ण 'शैवी' में आलोचना की थी। संती की प्रथा को बंद कर दिया गया था, जिसका अभाव भी उस समय सामान्य जनता पर अच्छा नहीं पड़ा था। रेल, तार आदि का प्रयोग भी ऐसे वातावरण में दानवीय एवं सर्वथा स्वार्थपूर्ण प्रतीत होता था। इन साधनों

के द्वारा जनता को ऐसा लगा कि सरकार उनको बरबस धर्म-परिवर्तन करने पर बाध्य करना चाहती है। विधवा-विवाह के लिए नियम पास कर दिया गया था और इसके साथ ही साथ यह भी नियम बना दिया गया था कि धर्म-परिवर्तन के कारण कोई मनुष्य अपनी पैत्रिक सम्पत्ति से वंचित नहीं किया जा सकता। ये सब ऐसी बातें थीं, जिनके कारण सामान्य मस्मिष्क में भय एवं संदेह पैदा होने लगे थे।

सैनिक कारण :- इस समय भारतवर्ष में २ लाख ३३ हजार भारतीय सैनिक एवं ४५ हजार ३ सौ बाईस अंग्रेज सैनिक थे। दिल्ली और अलाहाबाद में कोई अंग्रेजी सेना नहीं थी और अलाहाबाद से कलकत्ता तक केवल दोनापुर के अतिरिक्त, जहाँ अंग्रेजी सैनिकों का एक रेजिमेंट था, कोई अंग्रेजी सेना नहीं थी। इसका एक कारण तो यह था कि भारत से अंग्रेजी सेना का कुछ भाग क्रोमिया के युद्ध (१८५४-५६) में भाग लेने के लिए भेज दिया गया था। बहुत अंग्रेज सैनिक अफसर डबलहौज़ी ने शासन-प्रबन्ध के कार्य को चलाने के लिए नियुक्त कर गये थे, इसलिए भी अंग्रेजी सेना की संख्या में कमी उनकी निर्बलता का एक कारण बग गई थी। मद्रास और बम्बई की सेना की अपेक्षा बंगाल की सेना पर नियन्त्रण रखना अधिक कठिन था क्योंकि उसमें ब्राह्मण तथा राजपूत आदि सवर्ण हिंदू अधिक थे। उनका अनुशासन भी पिछले कुछ दिनों से ढीला पड़ गया था। अफगानिस्तान में जाकर सैनिक सेवा करना उनको पसन्द नहीं था और अब वे लोग वहाँ से लौट कर आये तो उनके स्वजातियों ने उन पर जातिच्युत होने का दोषारोपण किया। जैसाकि गत अध्यायों में वर्णन किया जा चुका है, १८२४ में ४७ वीं रेजिमेंट को इसलिए तोड़ दिया गया क्योंकि उसने ब्रह्मा में जाकर यद्ध करने से इन्कार कर दिया था। १८४४ में बंगाल की चार रेजिमेंटों ने सिन्ध में जाकर तब तक युद्ध करने से इन्कार कर दिया जब तक कि उनको अतिरिक्त अलाउन्स न दे दिया जाये। १८४६ में गोविन्दगढ़ में ६६ वीं देशीपैदल पलटन ने ग़दर कर दिया था और १८५२ में ३८ वीं बंगाल देशी पैदल सेना ने ब्रह्मा में युद्ध करने से इन्कार कर दिया और उनका ऐसा करना न्यायोचित था। भारतीय सेना का ऐसा करने का प्रमुख कारण यह था कि उनको अंग्रेज सैनिकों की अपेक्षा बहुत कम वेतन मिलता था और उनसे बहुत अधिक काम लिया जाता था तथा अधिक भय के स्थान पर पहले उनको ही भेजा जाता था। इसके अतिरिक्त देशी सेना में अपनी ही

शक्ति द्वारा स्वदेश को दासता की शृंखला में जकड़ने की नीति के कारण कुछ आत्म-धृणा भी हो चली थी। फिर हिंदू सैनिक समुद्र-यात्रा को धार्मिक दृष्टिकोण से त्याज्य समझते थे। १८२६ में जर्नल सर्विस एनलिस्टमेंट एक्ट (सामान्य सेना भर्ती कानून) पास किया गया, जिसके अंतर्गत किसी ऐसे व्यक्ति को सेना में भर्ती नहीं किया जा सकता था, जो जहाँ भी उसको भेजा जाय, जाने के लिए तैयार न हो। अब तक तो सचर्य हिंदू सैनिकों की समुद्र-यात्रा न करने एवं भारत से बाहर विदेशोंमें जाकर युद्ध न करने की मर्यादा का सम्मान किया जाता था; परन्तु इस कानून के द्वारा इसका अन्त कर दिया गया। परिणाम-स्वरूप हिंदू सैनिकों को इसके द्वारा बड़ी उत्तेजना मिली।

इस प्रकार देशी सेना में असंतोष की अग्नि और धीरे २ सुलग ही रही थी कि चर्बी लगी कारतूसों ने इस अग्नि को प्रचंड रूप से धधकाने में योग दिया। देशी सैनिकों को एक नये प्रकार की एनफील्ड रायफल दी गई थी; जिनमें प्रयोग की जाने वाली कारतूसों में चर्बी लगी हुई थी। यह अफ-वाह फैली कि ब्रिटिश सरकार ने हिंदू और मुसलमान दोनों को धर्मच्युत करने के लिए उनमें गाय और सूअर की चर्बी लगवाई है। यह तथ्य है, बुलविच के कारखानों में जहाँ पर ये कारतूस तैयार की गई थीं, इनके बनाने में चर्बी का प्रयोग किया गया था। सैनिकों के रोष का ठिकाना न रहा। उनको सनमाने का प्रयत्न किया गया; परन्तु जितना ही अधिक प्रयत्न किया जाता उतना ही अधिक इनका रोष बढ़ता जाता। इस वातावरण में मार्च १८५७ में बरकपुर (बंगाल) में एक देशी रेजिमेंट को तोड़ दिया गया। फिर अप्रैल में मेरठ में जब एक अंग्रेज कर्नल ने देशी अश्वारोहियों को एक रेजिमेंट को परेड के अवसर पर उन कारतूसों को प्रयोग करने को कहा तो उन्होंने इन्कार कर दिया। कोर्ट मार्शल के द्वारा उनको दस २ वर्ष के कारावास का दण्ड दिया गया। ६ मई को सबके सामने उनकी सैनिक वर्दी उतार कर और उनके हाथों में हथकड़ी डालकर उनकी मान-हानि की गई। इस समय तो उन्होंने कुछ नहीं किया, क्योंकि उनके सामने गौरों की एक पल्टन भरी हुई बन्दूकें और नज़्दी तलवारें लिए खड़ी थी और वे सब निःशस्त्र थे; परन्तु जब उनको जेल की ओर ले जाया जा रहा था, तो उनको, उनके साथियों को बुरा-भला कहते और अपने कसांडिंग अफसर को गाली देते सुना गया था।

क्रान्ति की प्रगति तथा दमन :—१० मई १८५७ को रविवार के दिन मेरठ छावनी की तीन देशी पलटनों ने विद्रोह का झण्डा ऊँचा किया। अपने अफसरों को मारकर कारावास से अपने साथियों को मुक्त करके उन्होंने दिल्ली की ओर कूच किया। दूसरे दिन प्रातःकाल को स्वतन्त्रता के ये अग्र दूत दिल्ली जा पहुँचे और वहाँ के सैनिक भी अपने अंग्रेज अफसरों का वध करके उनसे आ मिले। फिर ये सब मिलकर लाल किले में घुसे और बहादुरशाह को जो अब तक अंग्रेजों के हाथ की कठपुतली बना हुआ था, भारत का वास्तविक मुगल सम्राट् घोषित किया। अंग्रेजों के सौभाग्य से लगभग तीन सप्ताह तक क्रान्ति ने कोई उग्र रूप धारण नहीं किया, क्योंकि मेरठ के सैनिकों ने आवेश में आकर नियत तिथि से पहले ही विद्रोह कर दिया था। यदि ऐसा न होता और जैसी सुव्यवस्थित योजना बनाई गई थी उसके ही अनुसार कार्य होता तो सम्भवतः भारतवर्ष सौ वर्ष पहले ही स्वतन्त्र हो गया होता और उसका अङ्ग भारत तथा पाकिस्तान में भंग न होता। तीन सप्ताह के अवकाश में अंग्रेजों ने अपनी स्थिति को बहुत कुछ संभाल लिया था। उनको इस समय अफगानिस्तान के अमीर दोस्तमुहम्मद और पंजाब के सिक्खों से बड़ी सहायता मिली। दोस्तमुहम्मद १८५५ और ५७ की सन्धियों के अनुसार तटस्थ बना रहा और सिक्ख पलटनों ने अपने देशवासियों का साथ न देकर अंग्रेजों का साथ दिया। लाहौर में देशी पलटनों को तोड़ दिया गया और जॉन निकलसन की अध्यक्षता में एक चल दस्ता व्यवस्थित कर दिया गया।

इस समय अंग्रेजों को सबसे अधिक चिंता दिल्ली पर फिर से अधिकार करने की थी। केनिंग और जान लारेंस कमाण्डर-इन-चीफ एन्सन पर दिल्ली की ओर कूच करने के लिए जोर दे रहे थे; परन्तु आवश्यक सामग्री और युद्ध-सामग्री-वाहिनी गाड़ियों के अभाव में वह ऐसा करने को तैयार नहीं था। इसी बीच अवध, रुहेलखण्ड और मध्य भारत के अनेकों प्रान्तों में भी विद्रोह की आग भड़क उठी। २६ मई से ५ जून तक नसीराबाद राजपूताना में, नीमच (ग्वालियर राज्य) में, बरेली में और लखनऊ, बनारस—तथा कानपुर में क्रान्तिकारियों का प्रभुत्व छा गया था। उधर बुन्देलखण्ड में, झाँसी की रानी लक्ष्मी बाई पथ-प्रदर्शिका बनी हुई थी। चारों ओर से इन क्रान्तिकारियों के दल दिल्ली की ओर अग्रसर हो रहे थे; परन्तु अवध में, विशेषतया कानपुर में नाना साहब से सैनिकों को जो पाँच जून को दिल्ली

के लिए प्रस्थान कर चुके थे, रोका और अंग्रेजी ठिकाने का घेरा डाल दिया। उधर लखनऊ में भी सैनिकों ने दिल्ली न जाकर रेज़ीडेन्सी के ऊपर आक्रमण करना ही अधिक ठीक समझा। परन्तु अवध के विद्रोह का वर्णन करने से पहले हम दिल्ली की ओर चलते हैं।

एम्सन ने अम्बाला से दिल्ली की ओर कूच किया, परन्तु २७ मई को करनाल में हैजे के कारण उसका देहान्त हो गया। उसके पश्चात् हैनरी बर्नार्ड कमाण्डर बना और ४ जून को मेरठ से विल्सन भी उससे आ मिला। ८ जून को दोनों की संयुक्त सेनाओं ने क्रान्तिकारियों की एक टुकड़ी को बादलीसराय में परास्त किया। दिल्ली का घेरा डालने वाली यह सेना स्वयं वहाँ जाकर घिर गई। परन्तु अंग्रेजों के सौभाग्य से इस समय उनको पंजाब से बहुत बड़ी सहायता मिली। यद्यपि अंग्रेजों को यह आशंका थी कि सिक्ख जाति अपनी हाल ही में खोई गई स्वतन्त्रता को प्राप्त करने के लिये कहीं क्रान्तिकारियों का साथ न देने लगे, परन्तु देश का दुर्भाग्य था कि सिक्खों ने अंग्रेजों के प्रति बड़ी निष्ठा एवं स्वामी-भक्ति का परिचय दिया। पंजाब और अफगानिस्तान की ओर से सर्वथा निःशंक होकर निकलसन भी अपने चल दस्ते को लेकर दिल्ली आ पहुँचा। १४ सितम्बर को काश्मीरी दरवाजा तोड़ दिया गया। ६ दिन की घमासान लड़ाई के पश्चात् नगर अंग्रेजों के हाथ आ गया। अंग्रेज सेना ने क़िले में घुसकर बहादुरशाह को बन्दी बना लिया। बादशाह के समक्ष ही उसके दो पुत्रों को होडसन नामक एक अंग्रेज ने अपनी पिस्तौल का निशाना बनाया।

ऊपर वर्णन किया जा चुका है कि जून के प्रथम सप्ताह में समस्त अवध में क्रान्ति की ज्वाला प्रज्वलित हो चुकी थी और लखनऊ एवं कानपुर की ओर प्रान्त भर से क्रान्तिकारी उमड़े चले आते थे। कानपुर में अंग्रेजी ठिकानों का ६ जून से २६ जून तक और लखनऊ में रेज़िडेन्सी का १ जौलाई से १६ नवम्बर तक घेरा डाला गया। इन ही दोनों नगरों के इर्द गिर्द क्रान्ति के सबसे भयंकर युद्ध लड़े गये थे। अलाहाबाद में एक अंग्रेज अफसर की अध्यक्षता में एक सिक्ख सेना दुर्ग की रक्षा कर रही थी, परन्तु उसका पतन हुआ ही चाहता था कि ११ जून को नील ने अपनी सेना की सहायता से इस पर दृढ़ अधिकार स्थापित कर लिया। अब से अवध प्रान्त में अलाहाबाद अंग्रेजों की कार्यवाही का केन्द्र बना। नील के अलाहाबाद पहुँचने के १२

२१६

दिन पश्चात् हैवलोक भी फारिस के युद्ध के पश्चात् वहाँ जा पहुँचा। लखनऊ और कानपुर की रक्षा का भार हैवलोक को दिया गया। ७ जून को वह अपनी सेना लेकर कानपुर के लिए रवाना हुआ और बड़ी कठिनाई के पश्चात् कानपुर पहुँचा। उसके कानपुर पहुँचने के पूर्व ही वहाँ के अंग्रेजों ने अपनी रक्षा का कोई उपाय न देखकर नाना-साहब के सामने, जो बिठूर में बैठा हुआ क्रान्ति का पथ प्रदर्शन कर रहा था, आत्म-समर्पण कर दिया था। अंग्रेजों को नगर छोड़ कर अलाहाबाद चले जाने की आज्ञा दे दी गई थी परंतु जब वे नावों में बैठ कर चले तो दग्ध, हृदय जोशीले सैनिकों ने उन पर गोली चलाई। केवल चार अपनी जान बचाकर भाग निकले शेष को वहीं मृत्यु के घाट उतार दिया गया। नील को वहाँ पर छोड़ कर हैवलोक ने लखनऊ के लिए प्रस्थान किया, परंतु उसको लखनऊ में पदार्पण करने में सफलता प्राप्त न हो सकी और लाचार उसको फिर कानपुर आना पड़ा। इस बीच कानपुर में नील की बड़ी दयनीय दशा हो गई थी, परंतु हैवलोक कुछ समय पश्चात् अद्रम आ के जाने से कानपुर में अंग्रेजों की स्थिति फिर संभल गई। अब हैवलोक ने अपनी शक्ति को भली प्रकार सुदृढ़ करके फिर लखनऊ की ओर प्रस्थान किया और २५ सितम्बर को वह लखनऊ में घुसने में सफल हो गया। इससे पाँच दिन पहले दिल्ली पर भी अंग्रेजों का अधिकार हो चुका था।

दिल्ली के पतन और लखनऊ में हैवलोक की सहायता के पहुँचने के साथ २ क्रान्ति का प्रथम अध्याय समाप्त हो जाता है। निस्सन्देह क्रान्ति का मेरू-दण्ड टूट चुका था। परन्तु भारत को दूसरी बार विजय करने के लिए अभी अंग्रेजों को बहुत कुछ करना था। लखनऊ में हैवलोक, और ऊद्रम सहायतार्थ पहुँच भले ही गये थे, परन्तु वे स्वयं भी वहाँ जाकर घिर गये थे। उन तक इंग्लैंड से भी सहायता आ पहुँची थी और आ रही थी। सर कोलिन कैम्पबेल ने अवध और कहेल-खण्ड को और मध्यभारत को रोज नैबम्बई से चलकर फिर मे विजय किया।

१ नवम्बर को कोलिन कैम्पबेल ५००० सेना लेकर लखनऊ की ओर चला और १६ तारीख को भयङ्कर युद्ध के पश्चात् नगर में प्रवेश करने में सफल हुआ। नगर से युद्ध में भाग न लेने वाले अंग्रेजों को निकाल

कर और नगर से ४ मील बाहर आलम बाग में ऊद्गम की अध्यक्षता में ४ हजार सैनिकों को छोड़कर २७ नवम्बर को कानपुर के लिये रवाना हुआ। इस बीच तांतिया टोपी जो एक मरहटा ब्राह्मण था, अपनी विशाल सेना लेकर कालपी से कानपुर की ओर आ चुका था और उसने जनरल विंडहम को, जिसके संरक्षण में कानपुर था, बुरी तरह परास्त कर खदेड़ दिया था। परन्तु वीर तांतिया टोपी की सेना कैम्पवैल की सेना से परास्त हुई। इसके पश्चात् कैम्प वैल अवध और सहेलखंड को पुनर्विजय करनेके लिए बढ़ा। गोरखों की एक सेना नेपाल-नरेश के एक योग्य सेनापति जंगबहादुर की अध्यक्षता में उससे लखनऊ के बाहर आ मिली। पहली मार्च तक लखनऊ पर फिर से अंग्रेजों का आधिपत्य हो गया परन्तु इस समय क्रान्तिकारियों को कोई विशेष जन-क्षति नहीं उठानी पड़ी। मार्च के अन्त में लार्ड केनिङ्ग ने यह घोषणा की कि अवध के अतिरिक्त सब ताल्लुकेदारों की जायदाद जब्त कर ली गई है। इस घोषणा ने जले पर नमक का कार्य किया और अवध में क्रान्तिकारियों ने यथाशक्ति अंग्रेजी सत्ता को नष्ट करने का प्रयत्न किया; परन्तु अव्यवस्था के कारण सफलता प्राप्त न हो सकी, यद्यपि वर्ष पर्यन्त उनके छापेमार आक्रमण होते रहे। मई में कैम्पवैल ने बरेली पर अधिकार कर लिया और बड़े पैमाने पर उत्तरी भारत में युद्ध व्यवहारिक रूप से लगभग समाप्त ही हो गया।

उधर मध्यभारत तथा बुन्देलखण्ड में झांसी की रानी लक्ष्मीबाई और तांतिया टोपी की अध्यक्षता में प्रारम्भ में क्रान्ति ने अच्छी प्रगति की थी; परन्तु क्रान्ति की यह प्रगति स्थायी न हो सकी। रोज़ ने ८ जनवरी १८५८ को मऊ से चलकर रायगढ़ पर अधिकार कर लिया और फरारी में सौगढ़ को बचा लिया। मार्च में उसने झांसी को घेर लिया और देतवा के युद्ध में, जिसमें तांतिया टोपी ने उसको खूब छुकाया था, क्रान्तिकारियों को परास्त कर वह झांसी पर भी आधिपत्य जमाने में सफल हो गया। फिर कूच का भयङ्कर युद्ध हुआ। रोज़ को ऐसा लगा कि मध्यभारत को क्रान्ति को वह पूर्णतया कुचल चुका है और वह अपने पद से पृथक् भी हो चुका था कि इतने में ही एक भयङ्कर सूचना पाकर वह चौंक उठा। झांसी की रानी और तांतिया टोपी ने, जिनको चारों ओर से अंग्रेज सेनाएँ घेर रही थीं, इस आशय से कि सिन्धिया की सेना उनका साथ देगी, ग्वालियर की

और प्रस्थान किया। अपनी इस जोखिमपूर्ण आशा में उसको सफलता प्राप्त हुई। यद्यपि सिन्धिया अपनी सेना को लेकर उनसे युद्ध करने के लिये आगे बढ़ा परन्तु सेना सिन्धिया का साथ छोड़कर रानी लक्ष्मीबाई और ताँतिया टोपी से आ मिली और सिन्धिया बड़ी कठिनता से जान बचा कर आगे भाग गया। ग्वालियर पर क्रान्तिकारियों का आधिपत्य हो गया। वहाँ का कोष और गोला-बारूद भी उनके हाथ आया और पुनः नाना साहब को वहाँ का पेशवा घोषित कर दिया गया। रोज़ ग्वालियर पर क्रान्तिकारियों का आधिपत्य स्थापित होते देखकर तिलमिला उठा। वह ताँतिया टोपी से बहुत भयभीत था। उसको भय हुआ कि यदि तुरन्त ग्वालियर पर अधिकार न किया गया तो नर्वदा से दक्षिण की ओर का सारा देश ताँतिया की आवाज़ पर उसके पीछे हो जाएगा और उस समय स्थिति को काबू में रखना असम्भव होगा। वह अपनी सेना लेकर ग्वालियर पहुँचा। रानी लक्ष्मीबाई स्वयं मर्दाने वस्त्र धारण किए घोड़े की पीठ पर युद्धक्षेत्र में अपने सैनिकों को उत्तेजित करती हुई वीरगति को प्राप्त हुई। दो भयङ्कर युद्धों के पश्चात् ग्वालियर पर भी अंग्रेजों का अधिकार हो गया। रानी लक्ष्मीबाई के अदम्य उत्साह, अनुपम शौर्य और सुन्दर सेनापतित्व की उसके शत्रु अंग्रेजों ने भी मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा की है।

यद्यपि यत्र-तत्र सब भी क्रांति की अग्नि सुलग रही थी, तथापि क्रांति की प्रचंड ज्वाला पर अधिकार पा लिया गया था। क्रान्ति के कुछ वीर सेनानी अब भी सफलता की अन्तिम आशा को लिए इधर उधर भटक रहे थे। वीर ताँतिया दक्षिण-भारत तथा बुन्देलखण्ड के बीच कुछ समय तक घूमता रहा और अन्त में अप्रैल १८५६ में उसको कृतघ्न देशवासियों ने अंग्रेजों के सुपुर्द कर दिया, जिन्होंने उसको कानपुर-हत्याकाण्ड का दोषी ठहरा कैर फाँसी के तख्ते पर लटका दिया। देश को विदेशियों से स्वतन्त्र करने की मनोकामना पूरी न हो सकी। मेरठ की छावनी में निश्चित समय से पूर्व क्रान्ति का फूट पड़ना, सिक्खों और गोरखों का अंग्रेजों की सहायता करना, क्रान्ति के प्रारम्भ होने के पश्चात् यथोचित व्यवस्था न होना, सम्पूर्ण क्रान्तिकारी दलों का एक नियंत्रण एवं अनुशासन में न होना, देशी राज्यों की समयोचित सहायता न करना आदि ऐसे कारण थे जो क्रान्ति की असफलता के लिए उत्तरदायी हैं। कदाचित् देश के भाग्य में आगामी नब्बे वर्ष की दासता और लिखी थी।

अंग्रेजों की सफलता के कारण :—यद्यपि क्रान्ति एक बृहत् क्षेत्र में फैली हुई थी, तो भी उसका प्रभाव स्थानीय ही रहा। संयुक्त प्रान्त, रुहेलखंड, अवध, नर्वदा एवं चम्बल के बीच का प्रान्त तथा बंगाल और बिहार के पश्चिमी प्रांत तक ही क्रान्ति मुख्यतया सीमित रही। दोस्तमुहम्मद के अधीन अफगानिस्तान अंग्रेजों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बनाये रहा। सिंध भी शान्त रहा और जार्ज लारेंस की अध्यक्षता में राजपूताना भी अब तक स्वामिभक्त बना रहा। निस्सन्देह क्रान्ति-काल में इन लारेंस भाइयों ने इंग्लैंड की बड़ी अमूल्य सेना की। नर्वदा के दक्षिण में कोई महत्वपूर्ण आन्दोलन नहीं हुआ, यद्यपि कोल्हापुर में देशी सेना ने अवश्य विद्रोह कर दिया था। मध्य एवं पूर्वी बंगाल में निरन्तर शान्ति बनी रही और नेपाल ने तो अपूर्व स्वामिभक्ति का परिचय दिया।

भाँसी की रानी, अवध की बेगमों तथा अन्य छोटे २ शासकों के अतिरिक्त और किसी नरेश ने क्रान्तिकारियों का साथ नहीं दिया। सिंधिया और होल्कर सच्चे स्वामिभक्त रहे। यद्यपि उनकी सेनाओं ने अवश्य विद्रोह कर दिया था। सरहिन्द के सरदारों ने, जिनमें पटियाला और जींद के शासक विशेषतया उल्लेखनीय हैं, हार्दिक स्वामिभक्ति का परिचय दिया। अंग्रेजी सत्ता को भारत में इस समय सुस्थिर बनाये रखने में ग्वालियर के मन्त्री सर दिनकरराव और हैदराबाद के सर सालारजंग ने जो महान् कार्य किया उसका आसानी से मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। सिंधिया को स्वामिभक्त बनाये रखने का कार्य केवल दिनकर राव का ही था। सिंधिया के विद्रोह करते ही समस्त मरहटा-मण्डल ने क्रान्ति में भाग ले लिया होता। जनरल इनीज़ के शब्दों में “उसकी (सिंधिया की) स्वामिभक्ति ने अंग्रेजों के लिए भारत की रक्षा की।” इसी प्रकार हैदराबाद में सर सालारजंग ने, जिसका नाम राइस होल्मस के शब्दों में “प्रत्येक अंग्रेज को कृतज्ञता एवं प्रशंसा के साथ लेना चाहिए” क्रान्ति की चिनगारी को प्रज्वलित नहीं होने दिया।

भाँसी की रानी लक्ष्मीबाई और उसके पश्चात् ताँतिया टोपी तथा नाना साहब के अतिरिक्त क्रान्तिकारियों में कोई योग्य नेता भी नहीं था। उधर अंग्रेजों की ओर लोरेंस भाई, ऊट्रम, हैवलोक, निकोलसन आदि बड़े कर्तव्यनिष्ठ एवं साहसी सेनानी थे। देहली पर अंग्रेजों का पुनः अधिकार

हो जाने के कारण क्रांतिकारियों में कुछ नैराश्य भी छा गया और इसलिए रोज एवं कैम्पबैल का कार्य कुछ सरल हो गया था ।

अंग्रेज इतिहासकार केनिंग की दैनिक दया का बड़ा राग अलापते हैं और कहते हैं कि अंग्रेजों ने चिढ़ाने के लिए उसका नाम क्लीमेंसी केनिंग (दया-मूर्ति) रख लिया था । परन्तु क्रान्ति के पश्चात् अंग्रेजी शासन ने जो प्रतिशोध की भावना का परिचय दिया, उससे रोमांच हो जाता है और हृदय कम्पित हो जाता है। वृद्धों पर फाँसी लटकाई गई, जिन पर मर जाने पर भी शव लटका रहता था । जीवित मनुष्यों की खाल खिंचवाई गई और जीवित को ही 'अग्नि' में भून डाला गया । इन बेचारों का एकमात्र दोष था देश-प्रेम । सच है संसार में स्वतन्त्रता के दीवानों का ऐसा ही अभिनन्दन होता है ।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी का अन्त :—यों तो ब्रिटिश पार्लियामेंट ने १८५३ के चार्टर एक्ट में ही सिविल सर्विस की नियुक्ति प्रतियोगिता द्वारा करके और कम्पनी के डाइरेक्टर्स की संख्या २४ से १८ करके और उनमें से ६ को ब्रिटिश सम्राट् द्वारा मनोनीत करके भारत के शासन में अपनी शक्ति को बहुत कुछ बढ़ा लिया था, परन्तु १८५८ के एक्ट के अनुसार तो कम्पनी के शासन को सर्वथा समाप्त ही कर दिया । यद्यपि कम्पनी ने इस का बड़ा भारी विरोध किया और कहा कि जिस समय पार्लियामेंट अटलांटिक के दूसरी ओर अमरीका साम्राज्य को खो रही थी, उस समय ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने भारत में एक नये एवं अत्यन्त महत्वपूर्ण साम्राज्य को जन्म दिया और उसका शासन भारतवर्ष में पार्लियामेंट के किसी भी उपनिवेश के शासन से बुरा नहीं रहा है, परन्तु उसकी एक न सुनी गई और भारतवर्ष में कम्पनी के शासन का अन्त कर दिया गया । बोर्ड आफ कण्ट्रोल के प्रधान के स्थान पर भारत सेक्रेटरी की नियुक्ति की गई । उसकी सहायता के लिए १५ सदस्यों की एक कौंसिल नियुक्त की गई । प्रारम्भ में ये सदस्य जीवन-भर के लिए नियुक्त किये गये थे, परन्तु इसके पश्चात् उनकी नियुक्ति १० से १५ वर्ष के लिए होने को थी । इनमें से ८ की नियुक्ति सम्राट् करता था और ७ की कोर्ट आफ डाइरेक्टर्स । इसके पश्चात् यदि कोई स्थान रिक्त होता तो कौंसिल ही स्वयं उसकी पूर्ति कर लेती थी । यद्यपि कोर्ट आफ डाइरेक्टर्स की अधिकांश शक्ति सेक्रेटरी आफ स्टेट फार

इण्डिया के हाथ में चली गई थी, तो भी इसका कुछ प्रभाव कौंसिल में शेष रह गया था।

नये ऐक्ट के अनुसार केनिंग ही सब से पहला भारत का वाइसराय तथा गवर्नर जनरल नियुक्त किया गया और १ नवम्बर १८५८ को इलाहाबाद में उसने नये शासन-प्रबन्ध की घोषणा की। इसी समय उसने महारानी विक्टोरिया की घोषणा भी पढ़कर सुनाई, जिसमें कहा गया था कि अंग्रेजी सरकार की इच्छा भारत में ब्रिटिश साम्राज्य को और अधिक बढ़ाने की नहीं है (कम्पनी के काल में भी ऐसी घोषणाएँ अनेकों बार की गई थीं)। घोषणा में देशी नरेशों के अधिकारों तथा मान का सम्मान करने तथा धार्मिक सहिष्णुता का वचन दिया गया और कहा गया कि महारानी की यह इच्छा है कि कोई मनुष्य जाति या धर्म के कारण किसी पद से वंचित न रक्खा जाय, जिसके योग्य वह अपनी शिक्षा, योग्यता तथा ईमानदारी के कारण हो। उन सब क्रान्तिकारियों को, जो अब तक ब्रिटिश सरकार के विरोध में शस्त्र धारण किये हुए थे और जिन्होंने किसी अंग्रेज को नहीं मारा था, क्षमा करने की घोषणा की गई थी। घोषणा के अन्त में भारतीय जनता की भौतिक एवं नैतिक उन्नति के साधन जुटाने का वचन किया गया था और कहा गया था कि “उनकी समृद्धि में हमारी शक्ति, उनके सन्तोष में हमारी सुरक्षा और उनकी कृतज्ञता में हमारा पुरस्कार होगा।”

जागीरदारों और सरदारों को सनद प्रदान की गई और उनको पुत्र गोद लेने का अधिकार दे दिया गया। देशी राज्यों की सत्ता सुनिश्चित कर दी गई, परन्तु उनके अधिकार सीमित कर दिये गये। ब्रिटिश मध्यस्थ के अतिरिक्त वे किसी विदेशी शक्ति या आपस में भी एक दूसरे से कोई सम्बन्ध नहीं रख सकते थे। उनकी सैनिक शक्ति भी बहुत अधिक सीमित कर दी गई। आन्तरिक व्यवस्था में उनको स्वतन्त्रता प्रदान कर दी गई थी, परन्तु ३० अप्रैल १८६० ई० को केनिंग ने घोषणा की कि भारत की (अंग्रेजी) सरकार को प्रत्येक रियासत के आन्तरिक शासन में हस्तक्षेप करने या संपूर्ण शासन को अपने हाथ में लेने का पूर्ण अधिकार है, जब वह देखे कि ऐसा करना आवश्यक है।

शासन के इस परिवर्तन से भारत के शासन-प्रबन्ध में कोई विशेष

परिवर्तन नहीं हुआ। १८५३ के चार्टर ऐक्ट ने कानून बनाने के लिए गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी के सदस्यों की संख्या पहले ही बढ़ाकर १२ कर दी थी। १८६१ के इण्डियन कौंसिल ऐक्ट ने गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी के सदस्यों की संख्या ४ से ५ कर दी थी और लेजिस्लेटिव कौंसिल के लिए कम से कम ६ और अधिक से अधिक १२ और अतिरिक्त सदस्यों का आयोजन किया गया था, जिनमें से आधे गैर सरकारी हों और गवर्नर जनरल उनको मनोनीत करता था। दूसरे गवर्नर एवं लेफ्टिनेंट गवर्नर के प्रांतों में भी लेजिस्लेटिव कौंसिल स्थापित कर दी गई।

इस प्रकार ढाई सौ वर्ष पूर्व एलिज़ाबेथ के राज्यकाल में जिस कंपनी का भारत के साथ व्यापार करने के लिए जन्म हुआ था, विकटोरिया के काल में भारत में एक बृहत् साम्राज्य को जन्म देकर उसका अन्त हुआ। कम्पनी ने अपने काल में मुगल-साम्राज्य और मरहटा-शक्ति के उत्थान तथा पतन को देखा और अन्त में उनके भग्नावशेषों पर भारतीय धन और जन की सहायता से ब्रिटिश साम्राज्य के भव्य भवन का निर्माण किया। इस निर्माण-कला में 'अंगरेजों' की कूट नीति, चालाकी तथा साहस अपना ही था।

चौबीसवाँ अध्याय

ब्रिटिश सम्राट के आधिपत्य में भारत

केनिंग के शासन का अन्त

क्रांति के पश्चात् :—१८५७ की राज्य-क्रान्ति की भयानक एवं लोम-हर्षक घटनाओं के पश्चात् भारत में अपेक्षाकृत शान्ति का युग प्रारम्भ हुआ। इस कथन में पर्याप्त सत्य प्रकट होता है कि जब देश का शासन अच्छा होने लगता है तो इतिहास कुछ अरुचिकर होने लगता है। भ्रष्टाचार, अज्ञान तथा अन्य सामाजिक कुरीतियों पर शासनकर्ताओं और सामाजिक सुधारकों की विजय सामान्य जनता को इतनी रुचिकर नहीं प्रतीत होती, जितनी कि युद्ध-क्षेत्र में खनखनाती हुई तलवारों और धाँय-धाँय करती हुई तोपों की तुमुल ध्वनि। ऐसी विजय धीरे-धीरे प्राप्त की जाती है। १८५८ के पश्चात् दूसरा अफगान युद्ध १८७८-८०, तीसरा ब्रह्मा-युद्ध १८८५ आदि के

अतिरिक्त भारत में केवल छुट-पुट की मामूली लड़ाइयाँ ही हुई थीं। राज्य-क्रान्ति के पश्चात् का युग भौतिक, नैतिक तथा मानसिक प्रगति का युग रहा है, जिसमें यातायात के साधनों और व्यापार के क्षेत्र में उन्नति हुई। और शासन तथा वैधानिक सुधारों की ओर ध्यान दिया गया। यद्यपि ये सुधार भारतीय दृष्टिकोण से यथेष्ट तथा ऐसे नहीं थे जैसे कि होने चाहिए थे। इन सुधारों के सम्बन्ध में सरकारी कर्मचारी लोगों की यह धारणा है कि भारत के ब्रिटिश शासन में आलोचना के लिए कोई स्थान नहीं, जब कि दूसरी स्वयं एक अंग्रेज जान ब्राइट ने 15 दिसम्बर 1862 को बर्मिंघम में अपने एक व्याख्यान में कहा था कि इस तिथि से पहले ग्रेट ब्रिटेन का इतिहास “हमारे भारतीय साम्राज्य की भोली जनता के विरुद्ध 100 वर्ष के पापों की कहानी-मात्र है।” निस्सन्देह सत्य इन दोनों परस्पर विरोधी दृष्टिकोणों के बीच में कहीं पर मिल सकता है।

प्राकृतिक सीमाओं के अन्तर्गत भारत की विजय समाप्त हो चुकी थी। संरक्षित राजघरानों की स्थिति और दर्जा निश्चित हो चुका था। इन भारतीय नरेशों ने, भारतीय दृष्टिकोण से देश के साथ द्रोह करके केनिंग के शब्दों में ब्रिटिश सत्ता को राज्य-क्रान्ति के तूफान में बह जाने से बचा लिया था। और तब से ब्रिटिश साम्राज्य को सुरक्षित रखने के लिए इन नरेशों को बनाये रखना अंग्रेजी नीति का एक मुख्य अंग रहा था। अपने राज्य और गोद लेने की प्रथा की गारण्टी मिल जाने से अब इनको अपने राज्य ब्रिटिश साम्राज्य में मिल जाने का कोई भय नहीं रहा। इसलिए ब्रिटिश सरकार के साथ उनके सम्बन्धों का नया युग प्रारम्भ हुआ। अब वे और अधिक निकट सम्पर्क में आने लगे। अब ब्रिटिश सरकार भी उनकी स्थिति और शासन-प्रबन्ध के सम्बन्ध में अपेक्षाकृत अधिक रुचि लेने लगी और सतर्क रहने लगी। गवर्नर जनरल देशीय नरेशों के शुभ शासन के लिए उनको शासन-सम्बन्धी शिक्षा और सलाह देते और यदि कभी वे लोग सुशासन के मार्ग से विचलित होते, तो पहले उनको समझाने और सच्चे मार्ग पर लाने का प्रयत्न करते और अन्त में जब देखते कि इस व्यवहार से कोई लाभ नहीं हो सकता तो जीजेन्सी स्थापित करते या किसी रेज़ीडेण्ट को रख देते या फिर राजा या नवाब को पदच्युत करके उसके वंश के किसी और आदमी को स्थानापन्न कर देते थे। इस प्रकार देशीय राज्यों की स्वतन्त्रता नाम-मात्र

की थी। वास्तव में ये नरेश ब्रिटिश सरकार की इच्छा के विरुद्ध कुछ भी करने का साहस नहीं कर सकते थे; क्योंकि वे सर्वथा शक्तिहीन और गु थे।

लार्ड केनिंग, जो कम्पनी द्वारा नियुक्त किया हुआ अन्तिम गवर्नर जनरल था, सम्राट् के अधीन प्रथम वाइसराय और गवर्नर जनरल बना। १८५६ में उसको अर्ल बना दिया गया था। भयंकर प्रतिशोध के वातावरण में केनिंग ने शान्ति-स्थापना के लिए बड़ी समझदारी से काम लिया। उन भारतीय नरेशों को, जिन्होंने अंग्रेज़ी सरकार की सहायता की थी, सरकार की ओर से बड़ी २ जागीरें, उपाधियाँ और आर्थिक पारितोषिक भी दिये गये थे। निज़ाम को वह सब प्रान्त, जो १८५३ में उसने अंग्रेजों को दे दिया था, लौटा दिया गया और पाँच लाख पौंड का ऋण जो उसे कम्पनी को देना था, क्षमा कर दिया। यह ऋण उस अंग्रेजी सेना के व्यय से सम्बन्ध रखता था, जो निज़ाम की सहायतार्थ उसी के व्यय पर उसके यहाँ रखी जाती थी। अवध की सीमा पर स्थित बनो' से आच्छादित एक प्रान्त नेपाल को दे दिया गया। सिंधिया, भूपाल की वेगम, बड़ौदा के गायकवाड़ और अन्य राजपूत नरेशों को या तो जागीरें प्रदान की गईं या उनके कर में कमी कर दी गई और १८६१ में अनेकों नरेशों और भारतीय राजनीतिज्ञों को 'सर' की उपाधि से अलंकृत किया गया। ये उपाधियाँ साम्राज्यवाद के कारखाने में बनी हुई दासता की चमकने वाली बेड़ियाँ थीं, जिनको दुर्भाग्यवश भारतीय जनता अति प्रसन्न होकर धारण करती थी और जिनको प्राप्त करने के लिए बहुधा प्रयत्न करती थी। तब र राष्ट्र के दुर्भाग्य !

कार्यकारिणी :—केनिंग के काल में गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी में एक महत्वपूर्ण वैधानिक परिवर्तन हुआ। अब तक यह कौंसिल केवल एक सलाह देने वाली समिति थी। प्रत्येक समस्या पूरी कौंसिल के सामने रखी जाती और बहुमत से उस पर निर्णय किया जाता था। कानूनी मेम्बर की नियुक्ति पहले ही हो चुकी थी और कार्य-विभाजन की प्रथा का सूत्रपात हो चुका था। इसके पश्चात् इस प्रथा को इंग्लैंड से दो आर्थिक सदस्यों की नियुक्ति करके और आगे बढ़ाया गया। १८६१ के इण्डिया कौंसिल एक्ट ने गवर्नर जनरल को यह अधिकार दे दिया था कि वह कौंसिल

के किसी भी सदस्य को कोई विशेष कार्य दे सकता था और इनसे कौंसिल के सदस्यों के विभाग पृथक् २ हो गये, जिनमें वे अत्यन्त महत्वपूर्ण समस्याओं के अतिरिक्त अपने अनुसार कार्य कर सकते थे। महत्वपूर्ण समस्याएँ गवर्नर जनरल के समक्ष उपस्थित की जाती थीं और मतभेद होने पर बहुमत से उनका निर्णय किया जाता था। कार्य-विभाजन की इस प्रथा का एक अच्छा परिणाम यह निकला कि शासन-प्रबन्ध का कार्य शीघ्रता और उत्तमता से होने लगा।

आर्थिक समस्या :— १८५७ की राज्य-क्रान्ति के पश्चात् सरकार के सामने सबसे बिकट समस्या आर्थिक थी। क्रान्ति के पश्चात् चार वर्ष तक ३ करोड़ ६० लाख का घाटा रहा। इस आर्थिक दुर्व्यवस्था को ठीक करने के लिए जेम्स विल्सन को १८५६ में भारतवर्ष भेजा गया। वह अपने काल का एक महान् अर्थ-शास्त्री था और उसको अर्थ-सम्बन्धी समस्याओं का सैद्धान्तिक तथा व्यवहारिक पर्याप्त ज्ञान था, परन्तु नियुक्ति के केवल आठ महीने पश्चात् ही उसका देहान्त हो गया। उसके पश्चात् उसके कार्य को उसके उत्तराधिकारी सेमुअल लैंग ने, जो पार्लियामेंट का सदस्य था, पूरा किया। विल्सन ने सरकार को आय बढ़ाने के लिए तीन मुख्य करों का प्रस्ताव रखा था। आय-कर व्यापार तथा देशों पर लाइसेंस और देशीय तम्बाकू पर टैक्स। इनमें से केवल आय-कर ही स्वीकृत किया गया। इसके अतिरिक्त उसने दस प्रतिशत आयात-कर और नोट के चलन का भी प्रस्ताव किया। उसने सिविल और सैनिक व्यय में आवश्यक सुधार सुझाये। इन सब सुधारों को उसके उत्तराधिकारी ने पूरा किया। उपरोक्त बचत और नमक कर की वृद्धि से १८६२ तक इन दोनों योग्य मन्त्रियों ने अपने परिश्रम से आय को बढ़ा कर व्यय के बराबर कर दिया।

चाय की खेती :— केनिंग के काल में अंग्रेजी सरकार को कुछ ऐसे प्रश्नों का भी निपटारा करना पड़ा जो औपनिवेशिक दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण थे। १८५० के लगभग यह ज्ञात हुआ कि आसाम में और हिमालय के ढालों पर चाय की और नीलगिरि पर्वत पर कहवा की बहुत अच्छी पैदावार हो सकती है। इसके परिणामस्वरूप इंग्लैंड से कुछ मनुष्य चाय और कहवा का उत्पादन करने के लिए भारत आये। जिस भूमि की उनको आवश्यकता थी, उसको 'बेकार' कहते थे और वह राज्य-भूमि थी। बेकार

पड़ी भूमि के नियम बनाये गये और इन यूरोप-निवासी या अन्य लोगों को ३ हजार एकड़ तक भूमि देने का नियम बनाया गया। इस पर कोई भूमि-कर नहीं देना पड़ता था। हाँ, आरम्भ में अवश्य एक निश्चित धन देना पड़ता था।

आन्तरिक सुधार :—इस काल में कुछ और आन्तरिक सुधार भी किये गये। १८६१ में भारतीय सेना की संख्या १२०,००० और अंग्रेजी सेना की संख्या घटा कर ७६००० नियत कर दी गई। १८५७ में लन्दन विश्वविद्यालय के आदर्श पर कलकत्ता, बम्बई और सद्दास में विश्वविद्यालय स्थापित किए गये। ब्रिटिश ब्रह्मा के प्रान्त टेनासरिम, पीगू और अराकान एक चीफ कमिश्नर के अधीन व्यवस्थित किए गए। सबसे पहला चीफ कमिश्नर सर आर्थर फेयरे था जिसने भूमि का बहुत अच्छा बन्दोबस्त किया। था। डलहौजी की विजयों के पश्चात् उसने ब्रह्मा का ऐसा प्रबन्ध किया था कि वहाँ क्रान्ति-काल में ब्रिटिश सेना रखने की आवश्यकता नहीं रही थी और उस सेना को भारतवर्ष में बुला लिया गया था। प्राचीन सुप्रीम कोर्ट और सदर अदालत की प्रथा का अन्त करके प्रत्येक प्रेजीडेन्सी में एक हाई कोर्ट स्थापित कर दिया गया था। मैकाले का जाब्ता फौजदारी, जो १८३७ में तैयार किया गया था, १८६० में लागू किया गया।

भूमि-सम्बन्धी सुधार :—यह पहले ही वर्णन किया जा चुका है कि लार्ड कार्नवालिस के स्थायी बन्दोबस्त से कृषकों के अधिकारों की समुचित रक्षा नहीं होती थी। १८५८ में कम्पनी के डाइरेक्टरों ने घोषणा की थी—“बंगाल के किसानों के सब अधिकार समाप्त हो चुके हैं और अब उनको जमींदार अपनी इच्छा से किसी भी समय बेदखल कर सकते हैं।” यद्यपि १७९३ के नियमों में एक धारा में सरकार को कृषकों के अधिकारों की रक्षा करने का अधिकार दिया गया था, परन्तु १८५६ में बंगाल भूमि-कर एक्ट पास किया गया जो कि आगरा और मध्यप्रान्त में भी लागू किया गया। इस कानून से उन सब किसानों को, जो बारह वर्ष से अधिक समय से खेती कर रहे थे, मौरूसी अधिकार प्राप्त हो गये। उनका लगान जब चाहे तब इच्छानुसार नहीं बढ़ाया जा सकता था। जिन प्रान्तों में स्थायी बन्दोबस्त किया गया था, वहाँ के किसानों का लगान स्थायी कर दिया गया था, परन्तु दुर्भाग्यवश इस एक्ट के परिणाम-स्वरूप अदालतों में मुकदमों की संख्या बहुत अधिक बढ़ गई।

इस काल में एक ऐसा परिवर्तन सम्भव प्रतीत होने लगा था, जिसके फलस्वरूप समस्त भारतवर्ष में एक कृषक-क्रान्ति पैदा हो जाती। लगभग समस्त बंगाल, एक चौथाई मद्रास प्रेजीडेन्सी और संयुक्त प्रान्त के एक भाग में स्थायी बन्दोबस्त था। देश के शेष भाग में यह बन्दोबस्त बीस या तीस वर्ष में होता था। इन दोनों प्रथाओं की लाभ और हानियों पर बड़ा विवाद चलता था। स्थायी बन्दोबस्त की लाभ और हानियों का वर्णन लार्ड कार्नवालिस के अध्याय में किया जा चुका है। दूसरी प्रथा से राज्य को यह लाभ था कि वह समयानुसार भूमि का मूल्य बढ़ जाने पर नया बन्दोबस्त करके अपना भाग प्राप्त कर सकता था। इसमें भी सन्देह नहीं कि यदि भूमि की व्यवस्था सावधानी से और अधिक काल तक के लिए की जाय तो उससे भूमि की उन्नति करने और जनता की समृद्धि में कोई विशेष अड़चन नहीं पड़ती। इसके प्रतिकूल यदि समस्त देश में बंगाल की भाँति भूमि की स्थायी व्यवस्था कर दी जाती तो सरकार को समय २ पर बन्दोबस्त करने की परेशानी और व्यय न उठाना पड़ता। इसके अतिरिक्त विशेषज्ञों के अनुसार स्थायी बन्दोबस्त हो जाने पर मनुष्यों में मितव्ययता की भावना जागृत हो जाती और वे अपनी भूमि की उन्नति के लिए उसमें अधिक पूँजी लगाते और बन्दोबस्त का समय निकट आने पर भूमि-कर बढ़ जाने के भय से किसानों की अपनी खेती को कम करने की प्रथा बन्द हो जाती और इस प्रकार जनता की समृद्धि बढ़ जाने से सरकार की आय भी अन्य-कर लगा कर बढ़ जाती और इस प्रकार भूमि-कर की हानि की कमी उससे पूरी हो जाती। इतना ही नहीं, कतिपय मनुष्यों के विचार में दुर्भिक्ष-काल में मृत्यु संख्या की वृद्धि का कारण भी यह समय २ पर भूमि-व्यवस्था करना था, क्योंकि बार २ के बन्दोबस्त से किसानों का लगान बढ़ जाता था और वे इतने दरिद्र तथा क्षीण हो जाते थे कि अकाल की कठिनाइयों को सहन करना उनकी शक्ति से बाहर हो जाता था। अब इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं है कि लगान की असहनीय वृद्धि के गतकाल में अनेकों उदाहरण थे। इस तथ्य का आधार भारतीय समालोचकों का ही कथन नहीं है, चार्ल्स ईलियट, ग्रायट, रसैल और कर्नल मैकलीन आदि ने भी मध्य प्रान्त के प्रथम बन्दोबस्त के समय लगान की वृद्धि का विरोध किया था। १८७२ ई० में सर आकलैंड कोलविन ने बम्बई में लगान की अधिकता की बड़ी निन्दा की थी। १८७६ में सर विलियम हयटर ने गवर्नर जनरल की कौंसिल में कहा था,

“दक्षिणी भारत के किसानों को आराम पहुँचाने के मार्ग में सबसे प्रमुख कठिनाई यह है कि सरकार इतना अधिक भूमि-कर कृषकों से वसूल करती है कि इसको देने के पश्चात् किसान के पास इतना भोजन नहीं बचता जिससे वह अपना और अपने कुटुम्ब का पालन वर्ष भर कर सके।”

१८६१ में कर्नल.वेयर्ड स्मिथ ने यह विश्वास करके कि भूमि-व्यवस्था और दुर्भिक्ष-काल में अधिक मृत्यु-संख्या में गहरा सम्बन्ध था, (यद्यपि यह बात सर्वथा एवं सर्वत्र सत्य नहीं थी) यह प्रस्ताव रक्खा कि स्थायी बन्दोबस्त के नियम समस्त भारतवर्ष में लागू किये जाने चाहिए। उस समय के लगभग सब भारतीय राजनीतिज्ञों और बंगाल तथा उत्तरी-पश्चिमी सीमान्त प्रदेश (जो आजकल संयुक्तप्रान्त है) के लेफ्टिनेण्ट गवर्नर आदि ने इस पर अपनी अनुमति प्रकट की। २४र इंगलैंड में भी इसके समर्थकों की कमी नहीं थी। सर जान लारेन्स ने जोरदार शब्दों में इसका समर्थन किया और जौलाई १८६२ में सर चार्ल्स वुड ने, जो सेक्रेटरी आफ स्टेट था, भारतीय सरकार के नाम यह महत्वपूर्ण घोषणा की कि कैबिनेट ने समस्त भारत में स्थायी बन्दोबस्त प्रचलित करने का निश्चय कर लिया था। पाँच वर्ष पश्चात् दूसरे सेक्रेटरी सर स्टेफोर्ड नार्थकोट ने इस निर्णय की पुष्टि की और यह घोषणा की कि सरकार भूमिपत्तियों के हित तथा ब्रिटिश सरकार को (भारतवर्ष में) स्थायी बनाने के विचार से भूमि-कर के कुछ अंश का बलिदान करने के लिए तैयार थी। इस सम्बन्ध में इंगलैंड और भारत के बीच बड़ा पत्र-व्यवहार चला, परन्तु परिणाम कुछ न निकला और यह प्रस्ताव उठा कर अलमारी में बन्द कर दिया गया। इसका कारण लार्ड मेयो का विरोध बतलाया जाता है। १८८३ में निश्चित रूप से यह प्रस्ताव सदा के लिए त्याग दिया गया।

केनिंग की वापसी :—लार्ड केनिंग का स्वास्थ्य अधिक परिश्रम करने तथा अपनी पत्नी की असामयिक मृत्यु के कारण बहुत गिर गया था और १८६२ में उसने अपने पद से त्याग-पत्र दे दिया। इंगलैंड लौट जाने के तीन मास पश्चात् उसका देहान्त हो गया। अंग्रेज लोग उसकी गणना भारत के उत्तम गवर्नर जनरलों में करते हैं। मानसिक गुणों में अनेकों अंग्रेज शासक उससे बढ़-चढ़ कर थे। उसने कुछ भूलें भी कीं। भारत की राज्य-क्रान्ति के समय वह हताश हो गया था और उसमें किकर्तव्य-

विमूढ़ता तथा हिचकिचाहट पैदा हो गई थी; परन्तु शान्ति और अथक परिश्रम के कारण उसने सफलता प्राप्त की और भारत का प्रथम वाइसराय बना, उसके अथक परिश्रम ने उसको मार डाला। उसने अपने उत्तराधिकारी लार्ड एलगिन से कहा था, “भोजन के समय तक मैं (काम करते २) इतना थक जाता हूँ कि बोल भी नहीं सकता।” अपनी न्याय-प्रियता, कर्तव्य-परायणता, विशाल-हृदयता और आचरण की उच्चता के कारण सब लोग उसका मान करने लगे थे। अपने पिता केनिंग की भाँति जो इंग्लैंड का प्रधानमन्त्री था, उसने अपने कर्तव्य का पालन करते हुए परलोक-यात्रा की।

पच्चीसवाँ अध्याय

लार्ड एलगिन, लार्ड लारेन्स तथा अफगानिस्तान के साथ सम्बन्ध

लार्ड एलगिन :—लार्ड एलगिन ओक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी के क्राइस्ट चर्च कालिज में डलहौजी और केनिंग का समकालीन और मित्र रह चुका था। भारत का वाइसराय नियुक्त होने से पहले जमाइका और कनाडा का गवर्नर जनरल भी रह चुका था और इस प्रकार उसको औपनिवेशिक शासन का अच्छा ज्ञान था। १८५७ में जब वह सेना लेकर चीन जा रहा था, तो लार्ड केनिंग की प्रार्थना पर उसने अपनी सेना भारत ही उतार ली थी। १८६२ में कलकत्ता आकर उसने अपने पद का भार सँभाला, परन्तु नवम्बर १८६३ में उसका देहान्त हो गया।

सीमा-प्रश्न :—जिस समय लार्ड एलगिन का देहान्त हुआ तो उत्तरी-पश्चिमी सीमा पर स्थिति बड़ी गम्भीर हो रही थी। उसके पश्चात् लार्ड लारेन्स उसका उत्तराधिकारी बनाया गया। लारेन्स को इस प्रान्त और यहाँ के निवासियों के सम्बन्ध में अच्छा ज्ञान था। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ से ही पेशावर से उत्तर और सिन्ध नदी के पश्चिम की ओर कट्टर मुसलमान वहाबियों का एक उपनिवेश आबाद था। पटना में उन लोगों की एक एजेन्सी थी और गुप्त साधनों द्वारा समस्त भारतवर्ष में उनका प्रभाव फैला हुआ था। ब्रिटिश शासन के प्रत्येक विरोधी को इनके यहाँ शरण मिलती थी। १८५३ और १८५८ में उनको दण्ड देने के लिए सेनाएँ

भेजी गई थीं, परन्तु १८६३ में फिर उन्होंने पंजाब में विद्रोह आरम्भ करा दिया था। इस समय सर नैवाइल चैम्बरलेन को ६००० सैनिकों के साथ उनको दबाने के लिए भेजा गया परन्तु उसको १५,००० सैनिकों का सामना करना पड़ा। तीन सप्ताह तक अंग्रेजी सेना आगे न बढ़ सकी और उसको बचाव की लड़ाई लड़नी पड़ी। कलकत्ता-कौंसिल चिन्तित होकर अंग्रेजी सेना को पीछे लौटने की आज्ञा देने का विचार कर रही थी परन्तु स्थाना-पन्न वाइसराय डेनिसन और कमाण्डर-इन-चीफ रोज ने युद्ध को जारी रखना ही आवश्यक समझा। दिसम्बर में वहाबी लोग परास्त हुए। इसके तीन सप्ताह पश्चात् जनवरी १८६४ को लारेन्स ने अपना पद संभाला।

लारेन्स का परिचय :—फरवरी १८५६ से सर जान लारेन्स सेक्रेटरी आफ-स्टेट की कौंसिल का सदस्य रहा था। अंग्रेजों ने उसको 'भारत का रक्षक' तथा "विजय का संस्थापक" आदि नामों से विभूषित किया था। १८६० में उसको बम्बई का गवर्नर बनाया जा रहा था, परन्तु उसने इन्कार कर दिया। वह योग्य, दृढ़-निश्चय तथा हठो था और अपने कर्मचारियों से काम लेने में बड़ा कठोर था; परन्तु जो उसको अपने कार्य से प्रसन्न रखते थे, उनकी वह प्रत्येक समय सहायता करने को तैयार रहता था। सर जार्ज वोर्ला के पश्चात् यह नियम बना दिया गया था कि किसी भी सिविलियन को गवर्नर जनरल नहीं बनाया जायगा, परन्तु जान लारेन्स के सम्बन्ध में इस नियम का पालन नहीं किया गया और इसका कारण यह था कि उससे शासन-सम्बन्धी बड़ी २ आशाएँ की जाती थीं। यद्यपि वह उन सब आशाओं को पूरा नहीं कर सका, जिस कार्य को डलहौजी ने आरम्भ किया था; परन्तु जो राज्य-क्रान्ति के कारण बीच ही में अधूरा रह गया था, उसको पूर्ण करने का उसने प्रयत्न किया और देश में रेल, नहर आदि की ओर विशेष ध्यान दिया गया परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि लारेन्स अपने अधीन कर्मचारियों में कार्य-विभाजन की कला में निपुण नहीं था। वह स्वयं छोटी-बोटी में इतना उलझा रहता था कि सामान्य शासन-प्रबन्ध के कार्य में इससे हानि होती थी। स्वयं बहुत अधिक परिश्रमी था और प्रातःकाल ६ बजे से शाम के ५ बजे तक काम करता रहता था और इस बीच में केवल आधा घंटा खान-पान में व्यतीत करता था। उसके काल में कोई महत्वपूर्ण कार्य नहीं हुआ। निस्संदेह उसने अपने काल में एक ऐसे क्षेत्र में सफलता

प्राप्त करके दिखलाई, जिसमें उससे अधिक आशा नहीं की जा सकती थी ।

भूटान की समस्या :—उसने भूटान-राज्य को एक छोट्टे-से युद्ध के परचात् ब्रिटिश साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया था । भूटानी लोग अंग्रेजों के सम्पर्क में कूच-वितार के झगड़े से १७७२ में आये थे । १७८३ में अंग्रेजी सरकार ने एक व्यापारिक मण्डल भूटान भेजा, परन्तु उसको कोई सफलता प्राप्त नहीं हुई । १८२६ में आसाम पर अंग्रेजी आधिपत्य स्थापित हो जाने से अंग्रेज भूटानियों के और अधिक सम्पर्क में आ गये । इस समय इन भूटानियों ने आसाम में जाने वाले मार्गों पर अधिकार कर रक्खा था । आरम्भ में सन्धि की असफल बातें चलती रहीं । एक बार यह निश्चित हुआ कि द्वारों पर उनका ही अधिकार रहे और वे अंग्रेजों को वार्षिक कर दे दिया करें, परन्तु अन्त में चलकर अंग्रेजों ने इन द्वारों पर अधिकार प्राप्त कर लिया और भूटानियों को कर देने लगे । परन्तु उनके बंगाल और आसाम पर छुटपुट के आक्रमण निरन्तर जारी रहे । अंग्रेज इतिहासकारों के अनुसार अंग्रेजी सरकार ने इन आक्रमणों का विरोध किया परन्तु कुछ फल न हुआ । १८६३-६४ में भूटानियों ने लार्ड एलगिन द्वारा भेजे हुए एक एलची को बहुत अपमानित किया और उससे एक सन्धि पर, जिसमें उनको आसाम में जाने वाले द्वारों पर अधिकार दे दिया गया था, हस्ताक्षर करा लिए । भारतीय सरकार ने इस सन्धि को स्वीकार करने से इन्कार कर दिया और भूटान सरकार से उन सब ब्रिटिश प्रजाजनो को, जिनको भूटानियों ने पिछले पाँच वर्ष से बन्दी बना रक्खा था, वापस करने की माँग की । जब कोई उत्तर नहीं मिला तो अंग्रेजी सरकार ने पश्चिमी द्वारों पर आधिपत्य स्थापित कर लिया और उनके लिये, जो धन दिया जाता था, वह बन्द कर दिया । १९६५ में भूटानियों ने अंग्रेजी राज्य पर आक्रमण कर दिया और अंग्रेज सेनापतियों का सारा सामान छीन कर ले लिया गया । इस अपमान से अंग्रेजों में बड़ा तहलका मचा, परन्तु जनरल टोम्बस ने अंग्रेजी सरकार की गत-श्री को पुनर्स्थापित करने का सफल प्रयत्न किता । नवम्बर में दोनों दलों में सन्धि हो गई । सन्धि की शर्तों के अनुसार भूटानियों ने वार्षिक कर के बदले १८ द्वार अंग्रेजों के सुपुर्द कर दिये । लारेन्स की शान्तिमय नीति की उस समय कुछ उग्रदलीय अंग्रेजों ने कड़ी आलोचना की थी, परन्तु इसके द्वारा पैदा हुई स्थायी

शांति ने सिद्ध कर दिया कि लारेन्स का यह कार्य ब्रिटिश साम्राज्य के लिए दूरदर्शिता से भरा हुआ था। इसके पश्चात् अंग्रेज सरकार और भूटानियों के सम्बंध सदा बढ़े अच्छे बने रहे। १८० मील लम्बा और २० से ३० मील तक चौड़ा वह भूभाग जो भूटानियों ने अंग्रेजों को दे दिया, उससे उनको बड़ा लाभ हुआ। वह सम्पूर्ण भाग चाय के बागों से भर गया था।

कृषकोपयोगी एक्ट :—सर जान लारेन्स के सम्बन्ध में एक और प्रशंसनीय बात यह कही जाती है कि वह किसानों का पक्ष करता था। उसी के शासन-काल में कृषकों की दशा को सुधारने के लिए १८६८ में पंजाब तथा अवध टीनेन्सी-एक्ट बनाये गये। इन बिलों को पास करने के लिए उस ने भारतीय-भूमिपतियों, यूरॉपियन-जमींदारों, जिनके पास बड़े-बड़े चाय आदि के क्षेत्र थे, पत्रकारों, सेक्रेटरी आफ स्टेट तथा अपनी कौंसिल के अधिकतर सदस्यों के बृहत् विरोध का सामना किया था। पंजाब में इस एक्ट द्वारा उन सब किसानों को मौरूसी अधिकार प्राप्त हो गये, जो एक निश्चित समय तक भूमि पर खेती करते रहे थे। बंगाल के लेफ्टिनेंट गवर्नर के शब्दों में यह एक्ट “सन्तुष्ट कृषक-वर्ग की रक्षार्थ एक स्वतन्त्रता-पत्र” सिद्ध हुआ। लार्ड डलहौजी ने जब अवध को ब्रिटिश साम्राज्य में मिलाया था, तो वहाँ के ताल्लुकेदारों के साथ बड़ा कठोर व्यवहार किया गया था। राज्य-क्रांति के काल में लार्ड केनिङ्ग ने यह घोषणा कर दी थी कि जो लोग शीघ्रता से क्रान्तिकारियों का साथ छोड़ कर ब्रिटिश राज्य के वफादार हो जायेंगे, उनको क्षमा कर दिया जायगा। इस घोषणा के अन्तर्गत लगभग ६० प्रतिशत भूमिपतियों को पहले से भी अधिक अधिकार प्राप्त हो गये थे। ऐसा करने में ब्रिटिश सरकार की यह धारणा थी कि यदि ज़मींदारों और ताल्लुकेदारों के साथ अच्छा व्यवहार किया गया तो वे भारत में अंग्रेजी राज्य के स्तम्भ सिद्ध होंगे और अपने इस विचार में वे सर्वथा सत्य थे, परन्तु ताल्लुकेदारों को इतने अधिक अधिकार दे दिये थे कि किसानों की दशा अत्यन्त दयनीय हो गई थी। कृषकों की शोचनीय अवस्था को सुधारने के विचार से १८६८ का अवध-टीनेन्सी एक्ट एक प्रयत्न था। इस एक्ट के अनुसार $\frac{1}{2}$ प्रतिशत से भी कम किसानों को मौरूसी अधिकार दिये जाने चाहियें। जिन किसानों के लगान बढ़ाये गये थे, उनको कृषि की उन्नति के साधनों के लिए, जो निरन्तर प्रयोग किये जाते थे, मुआवज़ा दिया

जाना चाहिये, और बिना अदालत में प्रार्थना-पत्र दिये किसी का लगान नहीं बढ़ाया जाना चाहिए। इस कृषक-नीति का बड़ा कट्टर विरोध किया गया और कहा गया कि सरकार ने ज़मींदारों के साथ बड़ा अन्याय किया है। परन्तु हैनरीमेन और जान तथा रिचार्ड के स्ट्रेची और इंगलैण्ड में जान स्टुअर्ट मिल ने लारेंस को इस नीति का पूरा समर्थन किया। जान स्ट्रेची के शब्दों में यह सब कुछ “लार्ड लारेंस के दृढ़ निश्चय के कारण ही सम्भव हो सका था”। उसके विचार में और भी अधिक सम्पन्न किया जा सकता था।

इस प्रकार सर जान लारेंस ने पंजाब और अवध के किसानों की रक्षा वही काम किया जो केनिङ्ग ने बंगाल के कृषकों के लिए किया था। आर० सी० दत्त ने अपनी “विक्टोरिया काल में भारत” नामक पुस्तक में लिखा है—“भारत में इससे अधिक लाभदायक कानून ब्रिटिश सरकार ने पहले कभी नहीं बनाया था.....यह ऐसा कानून था जिसका आधार भारत के प्राचीन अलिखित रीति-रिवाज थे और जिसमें बड़े (जमींदारों) के अधिकारों का मान और निर्बलों की रक्षा का ध्यान रखा गया था।”

भयङ्कर दुर्भिक्ष :—लार्ड लारेंस के काल में भारतवर्ष में दो बार भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा। १८६६ के प्रथम दुर्भिक्ष ने बिहार और बंगाल में बड़ा उग्र रूप धारण किया था। प्रत्यक्ष तथा भौगोलिक विचार से इस प्रांत की स्थिति दो प्रेजीडेन्सियों के बीच बड़ी अच्छी प्रतीत होती थी, परन्तु वास्तव में यह प्रांत अपनी प्राकृतिक बनावट और यातायात के साधनों के प्रभाव में अन्य प्रांतों से सर्वथा पृथक् था। उत्तर-पश्चिम की ओर जंगलों और पहाड़ियों के कारण और पूर्व की ओर समुद्र के तट पर अच्छे बंदरगाह न होने के कारण यहाँ पर भोजन-सामग्री का पहुँचाना बड़ा कठिन कार्य था। महानदी यद्यपि पर्याप्त बड़ी है, परन्तु उसमें जहाज नहीं चलाये जा सकते। सड़कों का अभाव था और जो एक-दो सड़कें थीं भी, उन पर पहिये वाली गाड़ियाँ चल नहीं पाती थीं और उन पर केवल खच्चर या गधे चल सकते थे। ऐसे प्रांत में दुर्भिक्ष ने कैसा ताण्डवनृत्य किया होगा, इसका अनुमान सहज ही में लगाया जा सकता है। दुर्भिक्ष कमीशन ने अपनी रिपोर्ट में लिखा था—“सघन-वन, (जिसमें कोई मार्ग नहीं था) और भयानक सागर (जिसमें जहाज नहीं चल या ठहर सकते थे) के बीच

इन मनुष्यों की ऐसी (शोचनीय) दशा थी, जैसी कि उस जहाज के यात्रियों की होती है, जिनके पास भोजन-सामग्री नहीं रहती।” ऐसा बतलाया जाता है कि इस भयंकर दुर्भिक्ष में दस से बीस लाख तक मनुष्य-काल-कवलित हो गये और सरकार के करते कुछ न बना। इन मनुष्यों की मृत्यु का उत्तरदायित्व विशेषकर बङ्गाल के लेफ्टिनेंट गवर्नर सर सेसिल बीडन पर है, जिसने यह पूर्ण आश्वासन दिया था कि अन्नाभाव की कोई संकटपूर्ण स्थिति नहीं है। परन्तु लारेंस को भी इस अपराध से वंचित नहीं रक्खा जा सकता। उसने स्वयं लिखा था—“मैं स्वयं भी उनकी धारणा को उलट सकता था और कदाचित् मुझको करना चाहिए था, मैं स्वयं को ऐसा न करने के लिए अपराधी ठहराता हूँ।” दुर्भाग्य कभी अकेला नहीं आता, दुर्भिक्ष के तुरन्त पश्चात् बड़ी भयंकर तथा विनाशकारी बाढ़ आई, जिसके कारण उड़ीसा के निम्न प्रदेशों में रहने वाले मनुष्यों की दशा और भी अधिक शोचनीय हो गई। लारेंस ने लिखा था—“जो अनावृष्टि से बच गये थे, उनको अतिवृष्टि (बाढ़) ने जलमग्न कर दिया।” दूसरे दुर्भिक्ष में जो १८६८-६९ में बुन्देलखण्ड और राजपूताना में फैला, शीघ्र ही उसका प्रबन्ध करने के प्रयत्न किए गये और ब्रिटिश सरकार ने प्रथम बार यह नियम बनाया कि सरकार के कर्मचारियों का यह कर्तव्य था कि वे प्रत्येक सम्भव प्रयत्न द्वारा मनुष्यों को भूख के कारण न मरने दें, परन्तु इस नियम का पालन जैसा होना चाहिए था, कभी न हो सका। १८६२ से १८६६ तक मध्य प्रांत में रिचर्ड टेम्पल ने अच्छा शासन-प्रबन्ध किया और तीस वर्ष के लिए भूमि का बन्दोबस्त किया।

आर्थिक व्यवस्था :—सर जॉन लारेन्स के काल में भारत की आर्थिक व्यवस्था ठीक नहीं थी, परन्तु इसमें सर्वथा उसी का ही दोष नहीं था। विशेष परिस्थिति के कारण १८६६ ई० में एक व्यापारिक संकट आ पड़ा। इस समय अमरीका में गृह-युद्ध चल रहा था और उत्तरी राज्यों के जहाजी बेड़े ने दक्षिणी राज्यों के बन्दरगाहों को घेर रक्खा था, इसलिए वहाँ से लंकाशायर के पुतलीघरों को रूई नहीं आ सकती थी, इस दशा में भारतीय कपास की माँग बढ़ गई। बरार, नागपुर आदि प्रान्तों की भूमि का, जहाँ पर कपास की खेती अधिक होती है, मूल्य बढ़ गया। इन्हीं दिनों पन्दोबस्त भी चल रहा था, इसलिए अनेकों स्थानों में लगान की

दर बढ़ा कर नियत की गई। कपास के व्यापार में धड़ाधड़ी से लोगों ने पूँजी लगाई, नये बैंक भी खोले गये। परन्तु अमरीका के गृह-युद्ध के समाप्त होते ही भारतीय कपास की माँग एक दम ही गिर गई, क्योंकि अमरीका की कपास का रेशा भारतीय कपास के रेशे की अपेक्षा अधिक लम्बा होता है। ओवेरलैंड और गर्ने नामक प्रसिद्ध व्यापारिक फर्म का दिवाला निकल आगरा और बम्बई बैंकों ने भुगतान बन्द कर दिया। बम्बई बैंक सरकार के नियन्त्रण में था। यद्यपि आरम्भ में लारेंस को कंजूस कहा जाता था, क्योंकि उसने सरकारी व्यय में काट-छाँट करना आरम्भ किया था, परन्तु नेपियर, फ्रैरे तथा रोज़ आदि के कहने से सार्वजनिक भवन-निर्माण, सिंचाई के साधनों की उन्नति और यूरोपियन सेनाओं के लिए वारिंग बनवाने में उसने बहुत धन व्यय किया। यूरोपीय सैनिकों के लिए अधिकाधिक सुविधाएँ प्रदान करने और उनके लिए भव्य निवासस्थान बनाने में उसको विशेष एवं व्यक्तिगत अभिरुचि थी। उसको फ्लोरेन्स नाइटिंगेल के वे शब्द, जो उसने उस समय कहे थे, जब उसने यह सुना कि लारेंस भारत का वाइसराय होकर जा रहा है, अच्छी तरह याद थे। “अपने कार्य की अधिकता में हमको और हमारी स्वच्छता-सम्बन्धी बातों को भी याद रखना, जिन पर लाखों मनुष्यों का स्वास्थ्य एवं जीवन अवलम्बित है।” परन्तु याद रखना चाहिए कि लारेंस ने यूरोपियन सैनिकों की सुविधाओं पर ही विशेष ध्यान दिया था। सेना के ऊपर अंग्रेजी सरकार का व्यय ४५७५०००० रुपये से बढ़ कर ५ करोड़ ४५ लाख रुपया हो गया था। लारेंस ने उत्पादक साधनों के लिए ऋण की प्रथा को भी जारी किया था। उसके पाँच वर्ष के शासनकाल में उसकी आर्थिक व्यवस्था का परिणाम बजट में २५ लाख का घाटा था।

परराष्ट्र-नीति :—पंजाब के ब्रिटिश साम्राज्य में मिलाये जाने पर साम्राज्य की सीमा अफ़गानिस्तान के पर्वतों से जा मिली थी, परन्तु सीमा लाइन सुनिश्चित नहीं थी और उसमें उलट-फेर होता रहता था। दक्षिण में ब्रिलोचिस्तान से उत्तर में चित्राल तक एक ऐसा प्रान्त था—जिसमें स्वतन्त्र पठान जाति रहती थी। १८६३ तक ये लोग अफ़गानिस्तान के अमीर का नाममात्र को आधिपत्य स्वीकार करते थे; परन्तु वास्तव में थे सर्वथा स्वतन्त्र। ये लोग बड़े भयानक, झगड़ालू और लूट-मार करने वाले थे और भारतीय राज्य पर उनके लूट-मार के आक्रमण निरन्तर ही होते

रहते थे। इस कारण से पंजाब सरकार के लिए यह एक सिरदर्द बना हुआ था। उनको दण्ड देने के लिए सेनायें भेजी जाती थीं, परन्तु पर्वतीय प्रदेश होने और इन लोगों के कुशल लड़ाकू होने के कारण बड़ी-बड़ी सेनाएँ भेजनी पड़ती थीं। १८६३ में, जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, बहावियों के विरुद्ध ६००० की एक सेना भेजी गई थी और १८६८ में कृष्ण पर्वत के पठानों को पाठ सिखाने के लिए १२००० सैनिकों की एक सेना भेजी गई।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पश्चिमोत्तर सीमा की समस्या अत्यन्त असन्तोषजनक थी। इसका समुचित प्रबन्ध करने के सम्बन्ध में भी भिन्न-भिन्न विचार थे। कतिपय लोगों का विचार था कि ब्रिटिश साम्राज्य को पीछे हट कर सिंध नदी को अपनी सीमा निर्धारित करनी चाहिए। इसके विरुद्ध 'आगे बढ़ो' नीति के समर्थक थे जिनके विचार में क़बाइली प्रान्तों पर आधिपत्य करके अफ़गानिस्तान की सीमा से ब्रिटिश साम्राज्य की सीमा मिला देनी चाहिए थी। इस दल में जो और अधिक उग्र थे, उनका विचार था कि अफ़गानिस्तान का बँटवारा करना चाहिए और यदि अवसर हाथ लग जाय तो सम्पूर्ण अफ़गानिस्तान को ही विजय कर लेना चाहिए। लारेंस की नीति थी कि क़बाइलियों को स्वतन्त्र ही छोड़ा जाय और उनके साथ मैत्री सम्पादन किया जाय। अफ़गानिस्तान के सम्बन्ध में वह चाहता था कि "वहाँ के वास्तविक शासकों के साथ मित्रता रखी जाय, परन्तु उनके आन्तरिक झगड़ों में कोई हस्तक्षेप न किया जाय।" निस्सन्देह लारेंस की नीति सबसे अधिक लाभदायक एवं योग्यतापूर्ण थी। १८७८ तक आवश्यक परिवर्तनों के अतिरिक्त इसी नीति का पालन किया जाता रहा। लार्ड लिटन ने जब इस नीति में परिवर्तन किया तो उसका बड़ा विनाशकारी परिणाम हुआ, और १८८१ के पश्चात् १९१९ तक फिर इसी नीति का पालन किया गया क्योंकि यद्यपि ब्रिटिश सरकार ने अफ़गानिस्तान की सुरक्षा की गारंटी दे दी थी, परन्तु उसकी आन्तरिक व्यवस्था में कोई हस्तक्षेप नहीं किया गया।

दोस्त मुहम्मद एक शक्तिशाली एवं योग्य शासक था। ब्रिटिश साम्राज्य के साथ उसके सम्बन्ध का पहले वर्णन किया जा चुका है। १८६३ में उसका देहान्त हो जाने पर उसके सोलह पुत्रों में उत्तराधिकार

के लिए भयंकर युद्ध आरम्भ हो गया। शेरअली, जो दोस्त मुहम्मद का सर्वप्रिय पुत्र था, जैसे तैसे करके तीन वर्ष तक अमीर बना रहा। परन्तु अफ़जल ने उसको १८६६ में काबुल से और एक वर्ष बाद कन्दहार से निकाल बाहर किया और उसने हिरात में जाकर शरण ली; परन्तु १८६७ में अफ़जल का देहान्त हो गया और उसके पश्चात् उसका बड़ा पुत्र अज़ीम अमीर बना। अप्रैल १८६८ में शेरअली के पुत्र याकूबख़ाँ ने कन्दहार पर फिर अधिकार कर लिया और सितम्बर में शेरअली ने काबुल पर भी आधिपत्य कर लिया और इस प्रकार एक बार फिर शेरअली अमीर बन गया। अज़ीम और उसका बड़ा भाई अब्दुर्रहमान जनवरी १८६९ में पराजित हुए। अज़ीम फारिस भाग गया, जहाँ कुछ समय पश्चात् उसका देहान्त हो गया।

अफ़गानिस्तान के गृह-युद्ध के कारण अंग्रेजी सरकार की स्थिति बड़ी विकट हो रही थी। लारेंस ने बड़ी योग्यता से काम किया। उसने अफ़गान राजकुमारों के पारस्परिक युद्ध में भाग न लेने का निश्चय कर लिया था। उसके इस निश्चय का कारण यह भी बतलाया जाता है कि दोस्त मुहम्मद अंग्रेज सरकार का मित्र था। उसने राज्य-क्रान्तिकाल में अंग्रेजी सरकार के साथ शान्त रह कर मित्रता का परिचय दिया था और एक बार लारेंस से कहा था कि उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्रों के उत्तराधिकारयुद्ध में कोई हस्तक्षेप न किया जाय। इसलिए लारेंस की नीति थी कि जो समरभूमि में विजयी होकर अपना अधिकार स्थापित कर ले, उसको अमीर स्वीकार किया जाय। परिणामस्वरूप १८६४ में शेरअली को अफ़गानिस्तान का शासक स्वीकृत कर लिया गया। इसके दो वर्ष पश्चात् जब अफ़जल ने काबुल पर अधिकार कर लिया तो उसको काबुल अधिपति और शेरअली को कन्दहार तथा हिरात का स्वामी मान लिया गया। जब कन्दहार पर भी उसका अधिकार हो गया तो सरकार ने इसको भी मान लिया और अब शेरअली को हिरात का ही स्वामी स्वीकृत कर लिया गया। परन्तु इस नीति का एक बड़ा दुष्परिणाम यह था कि अफ़गानिस्तान की गद्दी के लिए, इससे गृह-युद्ध को प्रोत्साहन मिलता था और अफ़गान राजकुमारों की दृष्टि में अंग्रेजी स्वीकृति का कोई मूल्य न था।

रूस की समस्या :—इस बीच में रूस दक्षिण की ओर बढ़ कर

२३८

अफ़ग़ानिस्तान सीमा तक आने का प्रयत्न कर रहा था। १८६४ में उसकी सेनाएँ खोकन्द, बुखारा और खीवा तक, जो कैस्पियन सागर और पश्चिमी चीन के बीच तीन मुख्य खान रियासतें थीं, आ पहुँची थीं। इन दुर्बल एवं अव्यवस्थित रियासतों का रूसी साम्राज्य में मिलाया जाना केवल कुछ समय की ही बात थी, परन्तु रूस को यह प्रगति लारेंस के शासनकाल के अन्तिम दिनों में अधिक स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होने लगी थी। १८६५ में ताशकन्द को रूसी साम्राज्य में मिला लिया गया। १८६७ में जनरल कौफ़मेन को तुर्किस्तान का गवर्नर जनरल बनाया गया और समरकन्द पर भी, जो बुखारा का एक भाग था, एक वर्ष पश्चात् अधिकार स्थापित हो गया। इस पर सर जॉन लारेंस ने इंग्लैंड की सरकार पर रूस के साथ दोनों देशों के प्रभाव-क्षेत्रों की सुनिश्चित सीमा निर्धारित करने के हेतु जोर दिया। लारेंस के विचार में यदि प्रभाव क्षेत्रों की यह सीमा निश्चित हो जाती तो फिर रूस के भय का कोई कारण नहीं था। बुखारा, खीवा और खोकन्द पर रूसी आधिपत्य स्थापित होने में अंग्रेजों को कोई विशेष आपत्ति नहीं थी, यदि अधिक दक्षिण की ओर रूस बढ़ने का विचार न करे।

१८६८ में शेरअली के अमीर बनने पर लारेंस ने उसको बहुत-से हथियार और ६०,००० पौंड दिये, परन्तु इससे आगे और किसी कार्य के लिए अपने आपको वचनबद्ध करने से उसने इन्कार कर दिया। सर हैनरी रेलिन्सन ने, जब वह सेक्रेटरी ऑफ़ स्टेट की कौंसिल का सदस्य था, २० जौलाई १८६८ को यह प्रस्ताव रक्खा था कि भारत की अंग्रेजी सरकार को आगे बढ़कर बिलोचिस्तान में बोलान दर्रे पर क़ेटा पर अधिकार कर लेना चाहिए, अफ़ग़ानिस्तान के अमीर के साथ मैत्री-सम्पादन करके प्रत्येक वर्ष उसको कुछ धन देना चाहिए। लारेंस इस नीति का विरोधी था। इस विषय पर कि बोलान दर्रे की रक्षा पश्चिम की ओर से या पूर्व की ओर से अच्छी हो सकती थी, सैनिक विशेषज्ञों मतभेद था। इसके अतिरिक्त लारेंस को विश्वास था कि अफ़ग़ानिस्तान की आन्तरिक व्यवस्था में हस्तक्षेप करने का परिणाम युद्ध होगा और वह इस बात में भी विश्वास नहीं करता था कि शेरअली के साथ झगड़ा करके रूस को आक्सस नदी पर रोकने का प्रयत्न किया जाय। उसने कहा—रूस की कठिनाइयों को, आगे बढ़ कर ऐसे

प्रदेश में उसके साथ युद्ध करके, जहाँ सैनिक कार्यवाही ठीक नहीं हो सकती, काम करना बड़ी भारी मूर्खता होगी। उसका पूर्ण विश्वास था कि भारत में अंग्रेजी राज्य की सुरक्षा के लिए अफ़गानिस्तान के आन्तरिक झगड़ों में न फँसा जाय और अपनी सीमा पर एक सुसज्जित सेना रखी जाय। उसने एक बार कहा था कि अफ़गान लोग अपने पहले आक्रान्ताओं को अपना कट्टर शत्रु और उनके पश्चात् आने वाले शत्रुओं को अपना मित्र तथा मुक्त करने वाले समझेंगे। उपरोक्त से सर्वथा प्रकट हो जाता है कि लारेंस की नीति को “महान् अकर्मण्यता” की नीति का नाम देना निराधार था। उसने अपनी चतुर नीति से अंग्रेजों के प्रति रूस की जागरूक घृणा को मोथरा कर दिया था। उसके पश्चात् मेयो एवं नार्थवुड तथा पाँच सेक्रेट्रियों ने इसी नीति का पालन किया। जब लार्ड सेलिसवरी और लिटन ने इस नीति को बदला और उसके प्रतिकूल कार्य किया, तब उसका बड़ा भयंकर दुष्परिणाम अंग्रेजी सरकार को भुगतना पड़ा।

छब्बीसवाँ अध्याय

अफ़गान-समस्या तथा आर्थिक सुधार

लार्ड मेयो

आगमन :—जनवरी १८६६ में लारेंस वापस इंग्लैंड चला गया और वहाँ पर ब्रिटिश सरकार ने उसको लार्ड की उपाधि से विभूषित किया। उसके पश्चात् लार्ड मेयो भारतवर्ष का वाइसराय नियुक्त किया गया। इस से पहले वह तीन बार आयरलैंड का सेक्रेटरी रह चुका था।

शेरअली के साथ सम्बन्ध :—यह निश्चित किया गया था कि लारेंस इंग्लैंड वापस जाने के पहले अफ़गानिस्तान के अमीर शेरअली से मुलाकात करे, परन्तु शेरअली अपने देश की आन्तरिक व्यवस्था अच्छी न होने के कारण न आ सका और लारेंस वापस इंग्लैंड चला गया और जब मार्च १८६६ में शेरअली अम्बाला आया तो उसको लारेंस के स्थान पर उसका उत्तराधिकारी मेयो भिला; परन्तु अफ़गान-नीति में कोई परिवर्तन नहीं किया गया। क्योंकि इस सम्बन्ध में मेयो लारेंस के पद-चिन्हों पर

ही चलना चाहता था। मुलाकात के समय शेरअली ने अंग्रेजी सरकार के साथ और गहरे सम्बन्ध स्थापित करने की इच्छा प्रगट की। वह चाहता था कि अफगानिस्तान और भारत की सरकार के बीच एक सुनिश्चित सन्धि हो जाय। अंग्रेजी सरकार वार्षिक सहायता के रूप में एक निश्चित धनराशि दे और आवश्यकता पड़ने पर सेना तथा अस्त्र-शस्त्र से उसकी सहायता करे, उसके तथा उसके राजवंश के राज्याधिकार की सहायता का वचन दे और उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके बड़े पुत्र याकूबख़ाँ के स्थान पर छोटे पुत्र अब्दुल्ला जान को अफगानिस्तान का अमीर स्वीकार करे। शेरअली की इन सब बातों को लार्ड मेयो और इंग्लैंड की सरकार स्वीकृत करने के लिए तैयार नहीं थे। लार्ड मेयो के समक्ष एक बड़ी विकट समस्या थी। वह शेरअली की सब माँगों को भी स्वीकार नहीं कर सकता था और यथासम्भव शेरअली की मित्रता को स्थिर बनाये रखना चाहता था। वह अपने व्यक्तिगत सुन्दर आचरण के कारण इस कार्य में सफल हुआ।

मेयो ने शेरअली की सन्धि आदि की माँगों को स्वीकार नहीं किया; परन्तु उसने यह लिखित वचन दिया कि अंग्रेजों की नैतिक सहायता उसको सदा प्राप्त रहेगी और जब अंग्रेजी सरकार वांछनीय समझेगी तब गोला-बारूद और धन से सहायता करेगी। उसको यह भी बतलाया गया कि यदि उसको पदच्युत करने का प्रयत्न किया गया तो सरकार इस बात को बहुत बुरा मानेगी। इस मुलाकात से शेरअली को कितना सन्तोष हुआ, यह कहना तो कठिन है; परन्तु वह एक अंश तक सन्तुष्ट अवश्य था। वह लार्ड मेयो के आचरण से विशेषतया आकृष्ट था और उसके साथ उसकी मित्रता हो गई थी। उसके सम्मान में लगाये गये दरबार की तड़क-भड़क और अंग्रेजी सरकार की सैनिक शक्ति ने उसको बहुत प्रभावित किया था। उसने अपने देश में वापस लौट कर उन सुधारों के करने का भी प्रयत्न किया जो मेयो ने उसको सुझाये थे; परन्तु उनमें उसको अधिक सफलता प्राप्त न हो सकी। अंग्रेजी फैशन का भी उस पर ऐसा प्रभाव पड़ा था कि उसने काबुल के जूता बनाने वालों को अंग्रेजी ढंग का ही जूता बनाने का आदेश दिया था।

रूस के साथ सम्बन्ध :—सर जान लारेंस की अफगानिस्तान में हस्तक्षेप न करने की नीति का दूसरा आवश्यक अंग यह था कि रूस के साथ अंग्रेजों का सम्बन्ध बिल्कुल साफ रक्खा जाय। लारेंस ने स्पष्ट शब्दों में

यह घोषणा कर दी थी कि दोनों के बीच एक सुनिश्चित सीमा निर्धारित होनी चाहिए और यदि रूस उस सीमा को पार करके भारतवर्ष की ओर अग्रसर होता है तो संसार के प्रत्येक भाग में इंग्लैंड का रूस के साथ युद्ध आरम्भ हो जायगा। लारेंस की इस नीति को कार्यान्वित करने के लिए इस समय कुछ प्रयत्न भी किया गया। मेयो रूस से भयभीत नहीं था, उसका विचार था कि रूस अंग्रेजी शक्ति से अनभिज्ञ था। यूरोप में ब्रिटिश पर-राष्ट्र-सचिव क्लेरेण्डन तथा राजकुमार गोर्टशाकोफ़ के बीच सन्धि-चर्चा आरम्भ हुई और १८६६ में कलकत्ता से डगलस फोर्सेथ को भारत की सरकार का दृष्टिकोण रूसी अधिकारियों के सामने रखने के लिए सेंट पीटर्सबर्ग भेजा गया। परिणाम स्वरूप रूस ने शेरअली को आक्सस के दक्षिण में अफगानिस्तान का अमीर स्वीकार कर लिया; परन्तु एक शर्त रखी गई कि शेरअली इस नदी के उत्तर में बुखारा राज्य की सीमाओं का सम्मान करे। अभी अफगानिस्तान की उत्तरी सीमा निश्चित होनी शेष थी और इसमें बहुत समय लगा। १८७१ में रूसी लोगों का कहना था कि बदख्शाँ अफगानिस्तान के अन्तर्गत नहीं था; परन्तु १८७३ में लम्बी चौड़ी बातचीत के पश्चात् ब्रिटिश लाइन को स्वीकार कर लिया गया।

अफगानिस्तान की सीमाओं से सम्बन्ध रखने वाला अंग्रेजों और रूस का यह समझौता मध्य एशिया की राजनीति की एक अत्यन्त महत्वपूर्ण बात थी और यदि बाद में चलकर यूरोप की गुत्थियाँ इसमें हस्तचप न करतीं तो एक अत्यन्त कठिन एवं भयानक समस्या का निपटारा हो गया होता। १८७० के लगभग रूसी तुर्किस्तान के गवर्नर जनरल कौफ़मेन ने अफगानिस्तान के अमीर के साथ पत्र-व्यवहार आरम्भ किया और यद्यपि उसके पत्र सर्वथा निर्दोष थे तो भी कतिपय मनुष्यों का विचार है कि ब्रिटिश सरकार उनको बन्द करने की माँग कर सकती थी। भारत-सरकार को ऐसा करने का पर्याप्त कारण था क्योंकि रूस ने वचन दिया था कि वह अफगानिस्तान को अपने प्रभाव-क्षेत्र से सर्वथा बाहर मानेगा। शेरअली भी इस पत्र-व्यवहार से बड़ा परेशान था और वह इन सब पत्रों को गवर्नर जनरल के पास भेजता रहता था। लार्ड मेयो ने रूसी अधिकारियों को यह लिखने की बजाय कि वे अफगानिस्तान के अमीर के साथ ब्रिटिश सरकार के द्वारा पत्र-व्यवहार किया करें, अमीर को यह आश्वासन दिया कि ये पत्र केवल शिष्टाचार-सम्बन्धी थे और शेरअली की अकारण परेशानी पर उसकी भर्त्सना की।

आर्थिक सुधार :—पिछले अध्याय में हमने देखा था कि सर जाब लॉरेंस इंग्लैंड जाते समय २५ लाख का घाटा छोड़ कर गया था। इस घाटे को पूरा करने की समस्या थी। इस कार्य में सर रिचर्ड टेम्पल तथा स्ट्रेची भाइयों ने मेयो की सहायता की और उसने आय तथा व्यय को समान करके का दृढ़-संकल्प कर लिया। कमी को पूरा करने के लिए बड़ी कठोर कार्यवाही की गई। जिन प्रान्तों में नमक के ऊपर नाममात्र का कर था, वहाँ पर नमक-कर बढ़ा दिया गया और आय-कर भी पहले एक, फिर दो और अन्त में तीस प्रतिशत बढ़ा दिया गया। सर्वसाधारण और विशेषज्ञों ने भी इनका विरोध किया परन्तु सब व्यर्थ रहा। आय कर की वृद्धि को बढ़ा कठोर एवं अन्याय-पूर्ण बतलाया गया और इसके वसूल करने में भी बड़ा भारी व्यय होता था। छानबीन के पश्चात् यह पता चला कि सफल नियन्त्रण के अभाव में अधिक व्यय करने वाले विभाग धन को व्यर्थ ही मूर्खता के साथ पानी की तरह बहाते थे। उनके इस भयंकर व्यय में लगभग दस लाख प्रति वर्ष की कमी की गई। आरम्भ में इन साधनों द्वारा आर्थिक संकट को दूर करने का विचार था, परन्तु बाद में इनको स्थायी रूप दे दिया गया। अब तक तो यह प्रथा प्रचलित थी। गवर्नर जनरल अपनी कौंसिल की सलाह से प्रान्तीय कोषों को धन की स्वीकृति किया करता था। कार्य-विशेष के लिए धन-राशि नियत होती थी, जिसको और किसी कार्य में व्यय नहीं किया जा सकता था। यदि बम्बई या मद्रास के शासक अपने सुन्दर तथा मितव्ययी प्रबन्ध के कारण कुछ बचत कर लेते थे तो उनके इस प्रशंसनीय कार्य से उनको कोई लाभ नहीं होता था, क्योंकि उनसे यह आशा की जाती थी कि बचत के धन को वह साम्राज्य के कोष में जमा कर दें। शासन-प्रबन्ध का इतना अधिक केन्द्रीकरण होने के कारण मितव्ययता की ओर कोई ध्यान नहीं दिया जाता था और अन्तिम सरकारें अपने अपने प्रान्तों के लिए अधिक से अधिक धन की मांग करती थी और उसको पाई २ व्यय करने का प्रयत्न करती थीं। १८७० में रिचार्ड तथा जान स्ट्रेची के प्रयत्नों के फलस्वरूप एक महत्वपूर्ण सुधार किया गया। प्रत्येक प्रान्त को प्रतिवर्ष एक नियत धनराशि दी जाने लगी; जिनमें प्रत्येक पाँचवें वर्ष परिवर्तन हो सकता था; परन्तु उस धन को भिन्न भिन्न विभागों में व्यय करने के कतिपय परिमित अधिकार उनको दे दिये गये थे। इस प्रथा की श्री आर० सी० दत्त ने अपनी 'विक्टोरिया काल में भारत' नामक पुस्तक में कड़ी आलोचना की है। उनका कहना है कि 'इस

प्रथा के अनुसार कृषकों पर कर का भार अधिक बढ़ गया था।' परन्तु इससे इतना लाभ अवश्य हुआ कि एक भाग में व्यय होने से बचा हुआ धन दूसरे विभाग में व्यय किया जा सकता था और इसके द्वारा लारेंस के काल के घाटे को ही पूरा नहीं किया गया वरन् अब बजट में वचत भी होने लगी तथा सुप्रबन्ध, मितव्ययता और अच्छे नियन्त्रण के कारण कर का भार कुछ हल्का हो गया था।

लार्ड मेयो की मृत्यु :—ब्रिटिश काल में सर्वप्रथम लार्ड मेयो के समय में भारत को जन-संख्या के आंकड़े तैयार किये गये। उसने कृषि तथा व्यापार-विभाग भी खोले। १८७२ में जब वह अंडेमान द्वीप में जल कैदियों के निवास का निरीक्षण करके पोर्टब्लेयर में अपनी नाव की ओर जा रहा था तो एक कट्टर पठान ने, जो उसका पीछा कर रहा था, पीछे से आकर उसके शरीर में छुरा घोंप दिया और उसकी ऐहिक लीला समाप्त कर दी। वह भारत का गवर्नर जनरल रहा। उसको अपनी राजनीतिज्ञता दिखाने का पर्याप्त समय नहीं मिला। निस्सन्देह यदि वह कुछ और समय तक गवर्नर जनरल बना रहता तो अपने काल की समस्याओं को सुलझाने में सफल हो जाता। उसने अपनी महान् शक्ति और महान् कार्य-क्षमता से अपने अधीनस्थ वर्ग को प्रभावित कर दिया था। वह अकेले परराष्ट्र-विभाग से ही सन्तुष्ट नहीं था वरन् उसने सार्वजनिक कामों का विभाग भी स्वयं ही ले लिया था। रिचर्ड टेम्पल ने उसके अदम्य साहस की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है। उसके प्रभावशाली व्यक्तित्व का उन सब लोगों पर जो उसके सम्पर्क में आते थे, गहरा प्रभाव पड़ता था।

सत्ता इसवाँ अध्याय

लार्ड नौरथब्रुक तथा अफगान-समस्या

लार्ड नौरथब्रुक का परिचय :—लार्ड मेयो की हत्या के पश्चात् लार्ड नौरथब्रुक भारतवर्ष का वाइसराय नियुक्त किया गया। इससे पहले वह प्रधान मन्त्री ग्लेडस्टन का युद्ध-विभाग में अण्डर सेक्रेटरी रह चुका था। वह शासन प्रबन्ध के कार्य में बड़ा सावधान एवं गम्भीर था तथा स्वतन्त्रता पूर्वक निर्णय करने की उसमें पर्याप्त क्षमता थी; परन्तु न तो वह एक

अच्छा लेखक था और न सुवक्ता ही था। उसका चरित्र ऊँचा था और उसका हृदय दयापूर्ण भावनाओं से परिपूर्ण था, परन्तु प्रत्यक्ष रूप से वह दयालु प्रकट नहीं होता था। लारेंस की नीति की अपेक्षा उसकी नीति को “महान् अकर्मण्यता” की नीति की संज्ञा देना अधिक न्यायसंगत होगा। १८७३ में उसने स्वयं लिखा था “मेरा उद्देश्य टैक्स सटकना (एकत्रित करना) और अनावश्यक कानूनों को बन्द करना रहा है” फिर ग्यारह वर्ष पश्चात् उसने लिखा “मेरी नीति का मुख्य आशय कार्य को शान्ति-पूर्वक चलता रहने देना था—देश को आराम देना” उसका विचार था कि राज्य-क्रान्ति के पश्चात् भारत में आवश्यकता से अधिक सुधार किये जा चुके थे और अधिक सुधारों की आवश्यकता नहीं थी।

आन्तरिक व्यवस्था :—नोर्थ ब्रुक ने भारत में आते ही बंगाल के लेफ्टिनेण्ट गवर्नर कैम्पबेल के ग्रामीण म्यूनििसिपेलिटी-संस्थापन सम्बन्धी बिल को रद्द किया। आर्थिक क्षेत्र में उसने रिचर्ड टेम्पल के शब्दों में बड़ी योग्यता का परिचय दिया। दुर्भिक्ष के एक वर्ष १८७३-७४ को छोड़ कर उसके समय में भारतवर्ष में समृद्ध-काल रहा। इसके दो मुख्य कारण थे—लार्ड मेयो के आर्थिक सुधारों का प्रभाव और स्वेज़ नहर के १८६९ में खुल जाने ने सामुद्रिक व्यापार की उन्नति। इंग्लैंड में इस समय तक लगभग सब ही आयात चुंगियों को हटाकर स्वतन्त्र व्यापार की नीति को पूर्णतया अपना लिया गया था। भारतवर्ष में भी नोर्थ ब्रुक ने इस नीति को कार्यान्वित करने के लिए सफल प्रयत्न किए। १८६० तक भारत वर्ष में आयात १० प्रतिशत और निर्यात पर ३१ प्रतिशत चुंगी ली जाती थी। सर जान लारेंस ने आयात-कर घटाकर ७½ प्रतिशत कर दिया था और नोर्थ ब्रुक ने इसको घटाकर ५ प्रतिशत कर दिया। इसी समय १८७५ में उसने तेल, चावल, नील और लाख के अतिरिक्त सब निर्यात करों का अन्त कर दिया था। सिन्ध-वाटी रेल के पूर्ण हो जाने पर उसने गेहूँ के ऊपर निर्यात कर का भी अन्त कर दिया था जिसके परिणाम स्वरूप भारत से प्रचुर मात्रा में गेहूँ विदेश को जाने लगा था। यद्यपि ब्रिटिश सरकार ने उससे भारत में भी पूर्ण स्वतन्त्र व्यापार स्थापित करने को कहा था; परन्तु भारत की स्थिति-विशेष को ध्यान में रखते हुए उसने पूर्णतया इसका पालन करने से इन्कार कर दिया। अपने काल के अन्तिम

दिनों में डिजरायले की कन्जरवेटिव सरकार ने उस पर-लंकाशायर के कपड़े के ऊपर से पाँच प्रतिशत आयात-कर का भी अन्त करने के लिये ज़ोर दिया, परन्तु उसने कहा कि भारत की आर्थिक दशा इसको सहन नहीं कर सकती, इसके अतिरिक्त ऐसा करना एक भयंकर राजनीतिक भूल होगी। अपने दृष्टि-कोण को पूरा करने के लिए उसने कन्जरवेटिव सेक्रेटरी ऑफ स्टेट की भी परवाह नहीं की। वह आय-कर का पक्षपाती नहीं था और इस आधार पर उसकी आर्थिक व्यवस्था की आलोचना की जाती है। लार्ड मेथो की हत्या के पूर्व आय-कर घटा कर १ प्रतिशत कर दिया गया था, परन्तु नोर्थ ब्रुक ने उसका सर्वथा ही अन्त कर दिया। नमक-कर में कमी करने के स्थान पर उसने आय कर का अन्त कर दिया क्योंकि वह यूरोप-निवासी, बड़े व्यापारी और भूमिपतियों के हित का दीन जनता के हित की अपेक्षा अधिक ध्यान रखता था। उसकी इस नीति का रिचर्ड टेम्पल एवं जान स्ट्रेची ने ही विरोध नहीं किया वरन् आर्गिल के ड्यूक ने भी, जो इस समय सेक्रेटरी ऑफ स्टेट था, इसके विरोध में लिखा था “मेरे विचार में नमक-कर संशोधन और आय-कर के अन्त करने के झगड़े में आपने धनी वर्ग को, जो सबसे अधिक शक्तिसम्पन्न और शोर मचाने वाला है, सुक्त करने का प्रयत्न किया है।” भारतीय जनता की आवाज़ को तो कोई सुनने वाला था ही नहीं। कभी २ उसको भारतीय दीन कृषकों का भी ध्यान हो आता था क्योंकि १८८१ में उसने लार्ड लिटन को लिखा था, “मेरा सदा ही यह विचार रहा है कि लगान की दर बहुत ऊँची कर दी गई है और मैं सर्वदा स्ट्रेची की राय पर बड़ा सन्देह प्रकट करता रहा हूँ क्योंकि वह लगान को और भी अधिक करने के पक्ष में है।

दुर्भिक्षः—नोर्थ ब्रुक के काल में १८७३-७४ में बिहार और बंगाल के भागों में जहाँ पर आबादी बहुत अधिक थी, एक दुर्भिक्ष पड़ा; परन्तु इस बार नोर्थ ब्रुक और बंगाल का लेफ्टिनेंट गवर्नर कैम्पबेल इस विषय में बड़े सतर्क थे और उन्होंने संकल्प कर लिया था कि इस बार १८६५ के दुर्भिक्ष की पुनरावृत्ति नहीं होने दी जायगी। ब्रह्मा से बहुत अधिक चावल खरोदा गया। उसके लाने और भूखी जनता में बांटने के लिए व्यय की चिन्ता नहीं की गई। अनेकों स्थानों पर लुधा-पीड़ित जनता के लिए केन्द्र स्थापित कर दिये गये थे। परिणाम-स्वरूप ६५ लाख व्यय करना पड़ा। यह सत्य है कि इस धन-राशि में कुछ ऐसा भी व्यय किया गया था

जो अनावश्यक था, परन्तु नौर्य ब्रुक की आर्थिक क्षेत्र में मितव्ययता के कारण वह दुर्भिक्ष के व्यय को इसी बचत से सहन कर सका।

गायकवाड़ तथा नौर्यब्रुक :—लार्ड नौर्यब्रुक के काल में एक और अत्यन्त महत्वपूर्ण घटना घटी। एक कमीशन नियुक्त करके बड़ौदा के शक्तिशाली राना मल्हारराव पर अभियोग लगाया गया १८७० में वह बड़ौदा के सिंहासन पर आरूढ़ हुआ। उस पर यह आरोप लगाया कि सिंहासनारूढ़ होने के समय से ही उसका शासन प्रबन्ध-अत्यन्त बुरा रहा है। जो कमीशन जांच करने के लिए नियुक्त किया था, उसने १८७४ में अपनी रिपोर्ट में लिखा था कि मल्हारराव ने अपने मृत भाई के सम्बन्धियों तथा स्त्रियों के साथ बड़ा ही अमानुषिक व्यवहार किया था और बैंक वालों और व्यापारियों को लूटा था। इसके पश्चात् उसको अपना शासन-प्रबन्ध सुधारने के लिए अठारह महीने का समय दिया गया, परन्तु इस समय में उसके शासन में किसी प्रकार का कोई संशोधन नहीं हुआ। अन्त में १८७५ में उस पर ब्रिटिश रेज़िडेंट, कर्नल फेयर को विष देने का अपराध लगाकर अभियोग चलाया गया। अभियोग का निर्णय करने वालों में ग्वालियर और जैपुर के महाराजा, निज़ाम का प्रधान मंत्री दिनकरराव और तीन ब्रिटिश अफसर थे। ब्रिटिश अफसरों ने उसको दोषी ठहराया; परन्तु भारतीय न्यायाधीशों ने उसको निर्दोष ठहराया। यह बड़ी विकट स्थिति थी। लार्ड सेलिसवरी ने, जो इस समय सेक्रेटरी ऑफ स्टेट था, नौर्यब्रुक को लिखा कि मल्हारराव को कुप्रबंध के आधार पर पदच्युत कर दिया जाय और उसमें इस अपराध का कोई जिक्र तक भी न आये। ऐसा ही किया गया। अंग्रेज शासकों की साम्राज्यवृद्धि की यह एक नीति थी कि पहले किसी २ देशीय स्वतंत्र शासक पर कुप्रबंध का दोष लगाते, उसके सम्बन्ध में वीभत्स अत्याचारों की कल्पित कथाएँ प्रचरित करते और फिर उसको पदच्युत कर देते थे। मल्हारराव के पदच्युत किये जाते ही जनता चूबध हो उठी और विद्रोह का भय लगने लगा। अंग्रेजी सरकार ने शीघ्रता और गुप्त रूप से मल्हारराव को मद्रास पहुंचाया और उसके स्थान पर राजवंश के एक बालक को राजा घोषित करके सर माधवराव को, जो एक मरहटा राजनीतिज्ञ था, उसका प्रधान मंत्री नियुक्त किया। बड़ौदा राज्य पर अपने अफसरों के द्वारा नियन्त्रण स्थापित कर लिया गया।

और दिखाने के लिए, कि सरकार देशी राज्यों की सत्ता को मिटाना नहीं चाहती है, एक बालक को राजा बना दिया गया ।।

अफगान-रूस समस्या :—नौरथ ब्रुक के शासन-काल में मध्य एशिया की समस्या बड़ी विकट होती जा रही थी क्योंकि रूस निरंतर अफगानिस्तान को उत्तरी सीमा की ओर बढ़ने का प्रयत्न कर रहा था । रूस की दक्षिण की ओर यह प्रगति अनिवार्य थी । १८६४ में गोटेशाकोफ़ ने लिखा था कि रूस उसी राजनीतिक नियम से दक्षिण की ओर बढ़ने के लिए बाध्य हो रहा है जिससे अंग्रेज लोग भारत में उत्तर की ओर हिमालय तक बढ़ने के लिए लाचार हुये थे । संसार का इतिहास बतलाता है कि कोई भी शक्तिशाली राष्ट्रों के साथ स्थायी सीमा रखने के लिए सन्तुष्ट नहीं हो सकता । अंग्रेजों की व्यापारिक ईस्ट इण्डिया कम्पनी का ही इतिहास यह बतलाता है कि बार २ यह घोषणा करने पर भी कि और नवीन प्रदेशों पर अधिकार स्थापित नहीं किया जायगा, वह निरन्तर एक के पश्चात् दूसरे प्रदेश को हृदय करती चली गई । इंग्लैंड की भांति रूस ने भी अनेकों बार यह घोषणा की थी कि अब वह इस सीमा से आगे नहीं बढ़ेगा; परन्तु मध्य एशिया के निर्बल राज्यों को देखकर उसके मुँह में पानी भर आता था, या इन प्रदेशों के मनुष्य उसकी चौकियों पर आक्रमण कर बैठते थे, बस आगे बढ़ने का बहाना मिल जाता था । परन्तु अनेकों अंग्रेज राजनीतिज्ञों और भय-त्रस्त शेरअली को रूस की प्रगति ऐसी प्रतीत होती थी कि रूस ने बड़े सोच विचार के पश्चात् ऐसा करने की योजना पहले ही तैयार कर रखी थी । १८६६ में रूसियों ने कैस्पियन सागर के पूर्वी तट पर क्रानोवोड्स्क पर अधिकार कर लिया । १८७३ में खीका भी उनके अधिकार में आ गया । इसके एक महीने पश्चात् शिमला में वाइसराय और अफगान राजदूत के बीच एक कान्फ्रेंस हुई । अफगानिस्तान के अमीर का विश्वास अंग्रेजी सहायता में कम होता जा रहा था और इस कान्फ्रेंस के पश्चात् भी इस भावना में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ । सीस्तान की सीमा के सम्बन्ध में, जिसके ऊपर अफगानिस्तान और फारिस में झगड़ा चल रहा था, जो फैसला अंग्रेजों ने दिया उससे अफगानिस्तान का अमीर बड़ा हताश हुआ । कान्फ्रेंस में अफगान राजदूत ने कहा कि रूस की दक्षिण की ओर प्रगति ने अफगान जनता को बेचैन बना दिया है और उनको रूस के शान्ति

बनये रखने के आश्वासनों पर विश्वास नहीं है और इसलिये वे अंग्रेजी सरकार के साथ और घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करना चाहते हैं। नौरथ ब्रुक राजदूत की बात से प्रभावित हुआ और उसने सेक्रेटरी से इस बात की आज्ञा मांगी कि वह शेरअली को धन, जन तथा अस्त्र शस्त्र से सहायता करे यदि शेर अली पूर्ण रूप से ब्रिटिश सरकार की शिक्षा माने और उसी के अनुसार कार्य करे। यदि ऐसा वह करने के लिए तैयार हो जाता है तो अंग्रेजी सरकार आवश्यकता पड़ने पर अर्थात् जब कोई अफगानिस्तान पर आक्रमण करे तो अंग्रेजी सरकार उसकी सहायता करेगी। परन्तु इस आवश्यकता का निणय करना अंग्रेजी सरकार के ही हाथ में होगा। परन्तु ब्रिटिश कैबिनेट ने उसको यह अधिकार नहीं दिया और लिख दिया कि मेयो के अनिश्चित प्रण की ही पुनरावृत्ति कर दो। अफगान राजदूत ने कहा कि यदि रूस अफगानिस्तान पर आक्रमण करता है तो अंग्रेजी सरकार को उसको अपना शत्रु मानना चाहिए, परन्तु इसमें नौरथ ब्रुक को यह आपत्ति थी कि वह ऐसा लिखित में नहीं दे सकता था क्योंकि अभी तक रूस के साथ अंग्रेजों की मित्रता थी और ऐसा लिख देने का यह अर्थ होता था कि दोनों के बीच मनमुटाव चल रहा है। शेर अली ने ५००० राइफलें तो स्वीकार कर लीं यद्यपि उसने दस लाख रुपया, जो अंग्रेजी सरकार उसको देना चाहती थी, अस्वीकृत कर दिया था।

शेरअली के साथ कोई घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित न हो सका, यद्यपि १८६१ में तो उससे यह आशा नहीं की सकती थी कि वह अमीर बना रहेगा; परन्तु १८७३ तक जब यह चर्चा चली, उसने अपने आपको एक योग्य एवं दृढ़-शासक सिद्ध कर दिया था। इसलिये उसके साथ घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित कर लेना अभीष्ट था। ऐसा प्रतीत होता है कि शेरअली ने अपने हृदय में यह निश्चय कर लिया था कि उसको अंग्रेजों या रूसियों के साथ, जिनकी सेनाएँ दो ओर से उसके एकाकी राज्य को घेरे हुए थीं, मित्रता करना आवश्यक था। यदि सम्भव होता तो वह बेचारा दोनों ही से दूर रहने में अपना सौभाग्य समझता, परन्तु इन दोनों में से वह अंग्रेजों की मित्रता को अपेक्षाकृत अच्छा समझता था। इस समय शेरअली के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करने का अर्थ लारेंस की नीति को बदलना नहीं था वरन् समयानुसार उसमें आवश्यक परिवर्तन करना था। शिमला कान्फ्रेंस से शेरअली सर्वथा हताश हो गया। नौरथ ब्रुक का आचरण भी

मेयो जैसा नहीं था जिसके कारण शेरअली उसकी ओर आकृष्ट होता। उल्टे वाइसराय ने शेरअली की बड़ी भर्त्सना की क्योंकि उसने धोखे से पकड़ कर अपने बड़े पुत्र याकूबखाँ को बन्दी बना लिया था और अब्दुल्ला जान को अपनी मृत्यूपरान्त अमीर बनाना चाहता था। इस समय से आगे प्रत्यक्ष रूप से तो शेरअली व्यर्थ ही अंग्रेजी सरकार को अप्रसन्न करने के भय से रूसी पत्रों का स्वागत नहीं करता था; परन्तु मन ही मन वह अंग्रेजों से तिर गया था। इसी समय १८७४ में इंग्लैंड में उदार दल के स्थान पर अनुदार दल की सरकार बनी और नौर्थब्रुक के स्थान पर लार्ड लिटन वाइसराय बन कर भारत आया जो अनुदार दल का आदमी था।

मार्च १८७४ में ग्लेस्टन के स्थान पर डिज़रायले इंग्लैंड का प्रधान मन्त्री और लार्ड सेलिसवरी सेक्रेटरी आब स्टेट बना। दोनों ही एशिया में रूस की नीति को सशंक नेत्रों से देखते थे। और भारत सरकार के अफ़ग़ानिस्तान के साथ सम्बन्धों को असन्तोष-जनक समझते थे। इसमें कुछ अंश तक वे ठीक भी थे। यदि वे रूसी सरकार के ऊपर अफ़ग़ानिस्तान की सुरक्षा के लिये जो देते तो उनका पक्ष भी दृढ़ हो जाता और 'लारेंस नीति' से भी उनको विचलित न होना पड़ता, परन्तु रूस की बजाय उन्होंने काबुल पर दबाव डालना आरम्भ किया। सेक्रेटरी आब स्टेट की कौंसिल के एक सदस्य ने यह प्रस्ताव रक्खा कि ऐसी निकट परिस्थिति में अंग्रेजों की ओर से केवल भारत-सरकार का एक एजेण्ट काबुल में रहे और वह भी एक सुसलमान। सेलिसवरी ने यह बात मान ली और यह प्रस्ताव रक्खा कि शेरअली से काबुल में एक अंग्रेज रेज़िडेण्ट को स्वीकृत करने के लिए कहा जाय। नौर्थब्रुक और उसकी सम्पूर्ण कौंसिल ने इसका विरोध किया। उन्होंने कहा कि शेरअली १८६६ और १८७२ में रूसी आक्रमण से बहुत भय-भीत हो गया था। परन्तु उसको आश्वासन दिलाया गया था कि भय का कोई कारण नहीं है। उनकी रक्षार्थ संधि की प्रार्थना को आवश्यक बतला कर अस्वीकृत कर दिया गया था। अब वह यह सोचेगा कि रूस का भय वास्तविक और ऐसा गम्भीर है कि एक अंग्रेज रेज़िडेण्ट रखने की आवश्यकता प्रतीत होती है। इस योजना से वह कदापि सहमत नहीं हो सकता। फलस्वरूप नौर्थब्रुक ने सेलिसवरी को लिखा, 'मैं अमीर के सम्बन्ध में आपके सन्देशों से सहमत नहीं हो सकता, यहाँ पर कोई भी

सरकारी आदमी ऐसे विचार नहीं रखता ।' परन्तु सेक्रेटरी ने इस बात की तनिक भी परवाह नहीं की और अपनी बात पर अटल रहा । और काबुल के लिए एक मिशन भेजने का प्रस्ताव रक्खा । नौर्थब्रुक ने फिर इसका विरोध किया और अन्त में अपने पद से त्याग-पत्र दे दिया । त्याग-पत्र देने से व्यक्तिगत कारण बतलाये जाते हैं, परन्तु कारण चाहे कुछ भी रहे हों, यह प्रकट था कि नौर्थब्रुक सेलिसवरी के सेक्रेटरी रहते हुए वाइसराय पद पर काम नहीं कर सकता था । व्यापारिक चुंगी पर दोनों में पहले ही झगड़ा हो चुका था, जिसका वर्णन ऊपर किया जा चुका है और नई अफगान-नीति के सम्बन्ध में उसकी दृढ़ धारणा थी कि यह सर्वथा मूर्खतापूर्ण थी तथा केनिंग द्वारा प्रतिपादित और लारेंस तथा मेयो द्वारा अनुमोदित नीति के सर्वथा प्रतिकूल थी । मैलेट शब्दों में सेलिसवरी तथा नौर्थब्रुक की मनोवृत्तियाँ ही एक दूसरे के प्रतिकूल थीं । सेलिसवरी को परम्परा तथा उदाहरण से घृणा थी, जबकि नौर्थब्रुक अनुभव तथा तथ्य का पक्षपाती था । इसलिए इन दो प्रतिकूल मनोवृत्तियों का सामंजस्य असम्भव था । इंग्लैंड को प्रस्थान करने के पूर्व उसने सेलिसवरी को चेतावनी दी थी कि शेरअली को उसकी इच्छा के विरुद्ध अपने यहाँ एक एजेन्ट रखने के लिए बाध्य करने का अर्थ 'अंग्रेजों को अफगानिस्तान में एक अनावश्यक तथा अपव्ययी युद्ध में (बरबस) डकेलना था ।

अट्टाइसवाँ अध्याय

(अ) लार्ड लिटन तथा अफगानिस्तान

नौर्थब्रुक के पश्चात् लिटन भारत का वाइसराय नियुक्त किया गया । वह बड़ा योग्य था और कवि, निबन्धकार तथा एक सुवक्ता भी था । भारत में आने के पूर्व कूटनीतिक सेना में रहने के कारण वह यूरोप के अनेकों दरबारों में रह चुका था, उसमें एक अन्तर्राष्ट्रीय यात्री तथा साहित्यिक के गुण वर्तमान थे । वह भारतवर्ष में नई अफगान की रीति का सूत्रपात करने के लिए आया था । १८७६ में ग्लेडस्टन के स्थान पर डिजरायले, ड्यूक ऑव आर्गिल के स्थान पर सेलिसवरी सेक्रेटरी और नौर्थब्रुक के स्थान पर लिटन वाइसराय बन गये थे । अधिकारियों के व्यक्तित्व तथा उनके विचारों में पूर्ण

भिन्नता हो गई थी। और इससे अधिक परिवर्तन नहीं हो सकता था। नई साम्राज्यवादी नीति का परिणाम यह हुआ कि भारत सरकार को तीन वर्ष के भीतर ही दूसरा भयंकर अफगान-युद्ध करना पड़ा। जिसके परिणाम-स्वरूप इंग्लैंड में अनुदार दल की पराजय और भारत में लार्ड लिटन की कीर्ति का अन्त हो गया।

लार्ड लिटन शेरअली के साथ एक सुनिश्चित एवं व्यापारिक संधि के प्रस्ताव लेकर आया था। वह शेरअली की सब शर्तों को एक नियत वार्षिक आर्थिक सहायता उसके छोटे पुत्र अब्दुल्लाजान को उसका उत्तराधिकारी स्वीकृत करना। तथा सन्धि आदि द्वारा ब्रिटिश सहायता का विदेशी आक्रमण के समय सुनिश्चित वचन स्वीकृत करने का अधिकार देकर भेजा गया था। परन्तु ये शर्तें तभी पूरी हो सकती थीं जब वह हिरात में एक अंग्रेज रेज़ीडेण्ट को रखने के लिए तैयार हो जाय। रक्षा-सम्बन्धी संधि करने के लिए। यह शर्त सर्वथा न्याय-संगत मानी जा सकती है, परन्तु यदि शेरअली इसके लिए तैयार न हो तो उस पर एक मिशन के लादने वा उसकी अस्वीकृति को युद्ध का कारण बनाने का अंग्रेजी सरकार को कोई अधिकार नहीं था। लार्ड लिटन को इस नई नीति का प्रतिपादन करने के लिए उपयुक्त साधन एवं समय नियत करने को पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान की गई थी और कहना न होगा कि जो विनाशकारी घटनाएँ इस नई नीति के परिणाम-स्वरूप घटित हुईं, उनका उत्तरदायित्व एक मात्र उसी पर है। क्योंकि सेलिसवरी ने अपने पद के अन्तिम दिनों में वाइसराय का पथ-प्रदर्शन न करके अनुसरण करना आरम्भ कर दिया था।

अफगान अमोर को यह सूचना देने के लिए कि विक्टोरिया ने 'भारत की साम्राज्ञी' उपाधि ग्रहण कर ली थीं एक शिष्ट-मण्डल अफगानिस्तान भेजने के लिए प्रस्ताव रखा गया, जिसको शेरअली ने यह कह कर कि 'यह अनावश्यक था' अस्वीकृत कर दिया। इसी समय काबुल से ब्रिटिश एजेण्ट ने लिखा कि 'शेरअली की अस्वीकृति के दो मुख्य कारण थे—प्रथम वह ब्रिटिश राजदूत की अपने कट्टर देश-वासियों से सुरक्षा की गारंटी नहीं दे सकता था और दूसरे यदि वह ऐसा एक अधिकार अंग्रेजों को देता तो रूसियों को भी उसे यह अधिकार देना पड़ता।' निस्सन्देह यह बात सत्य थी। और यदि भारत की अंग्रेजी सरकार अफगानिस्तान के साथ अच्छे

सम्बन्ध स्थापित रखना चाहती थी, तो उसके लिए सबसे अच्छा मार्ग यह था कि शेरअली की सब माँगों को पूरा कर दिया जाता और अंग्रेज रेजिडेंट के हिरात में रक्खे जाने पर ज़ोर न दिया जाता; परन्तु लार्ड लिटन ने शेरअली के इस व्यवहार को 'ब्रिटिश हितों की घृणा युक्त अवहेलना' करना ठहराया और उसको चेतावनी दी कि इस प्रकार वह 'अफगानिस्तान को ब्रिटिश मित्रता तथा सहायता से वंचित कर रहा था।' वाइसराय की कौंसिल के तीन सदस्यों ने उसकी इस धारणा का विरोध किया और कहा कि शेरअली का व्यवहार सर्वथा न्याय-संगत था और अंग्रेजी सरकार का उस पर इस प्रकार दबाव डालना बिल्कुल अन्याय था। अक्टूबर में यह निश्चय किया गया कि काबुल में रहने वाला अंग्रेजी सरकार का मुसलमान एजेण्ट शिमला में लार्ड लिटन से मुलाकात करे और लौटकर मुलाकात की बातों को शेरअली को बतलाये। मुलाकात में लार्ड लिटन ने एजेण्ट से कहा कि ग्रेट ब्रिटेन और रूस के बीच अफगानिस्तान की स्थिति 'दो विशाल लौह बर्तनों के बीच एक छोटे से मिट्टी के बतन' जैसी थी, और यदि शेर अली अंग्रेजों का मित्र रहता है तो इंग्लैंड की शक्ति 'उसके चारों ओर लोहे के घेरे की भाँति फैलाई जा सकती थी और यदि वह उनका शत्रु बन जाता है तो उसको एक नरसल की भाँति तोड़ा जा सकता था।'

१८७६ में कलात के खान के साथ सीमान्त अफसर राबर्ट सैंडमेन ने एक सन्धि की जिसके द्वारा क़ोटा पर आधिपत्य स्थापित करने का अधिकार अंग्रेजों को मिल गया। इसके बदले में खान को बिलोचिस्तान के अन्य सरदारों के ऊपर अधिकार दिया गया और वह महान् खान बन गया। शेर-अली ने अंग्रेजों द्वारा क़ोटा पर आधिपत्य स्थापित होने का अर्थ यह लगाया कि कंधार पर आक्रमण का यह पहला कदम था। क्योंकि क़ोटा बोलान दर्रे पर स्थित है जो भारत को अफगानिस्तान से मिलाता है। उसको भली प्रकार याद था कि पहले अफगान-युद्ध में क़ोटा के आधार से ही चलकर अंग्रेजों ने उसके देश पर विजय प्राप्त की थी।

जनवरी १८७७ में पेशावर में सर लेविस पैली और शेरअली के मन्त्री सैय्यद नूरमुहम्मद के बीच, जिसने १८७३ में नौर्थब्रुक के साथ बात-चीत की थी, कान्फ्रेंस हुई; परन्तु इसका कोई फल नहीं निकला क्योंकि

अफगान राजदूत ने ब्रिटिश अफसर की अफगानिस्तान में रहने की बात को सर्वथा अस्वीकार कर दिया। लिटन या तो शेरअली के ऐसा करने के कारणों को ठीक प्रकार समझ नहीं सका था फिर जान बूझकर उसने समझने और उनको मानने से इन्कार कर दिया। नूरमुहम्मद ने कहा 'ब्रिटिश जाति महान् एवं शक्तिशाली है और अफगान लोग उसकी शक्ति का सामना नहीं कर सकते, परन्तु अफगानी स्वेच्छाचारी और स्वतन्त्रता-प्रिय होते हैं। और जीवन से भी अधिक अपनी मान-मर्यादा को प्रिय समझते हैं।' कोई भी अमीर यदि यह पता चल जाय कि किसी भी प्रकार वह विदेशी नियंत्रण में है, अफगानिस्तान का अमीर नहीं रह सकता। अफगान लोग यह भ्रू-प्रकार जानते थे कि उनकी शासन-सम्बन्धी अनेकों बातें अंग्रेज राजनातिक अफसरों को रुचिकर सिद्ध नहीं हो सकतीं। सैय्यद नूरमुहम्मद ने कहा था 'हम आप पर अविश्वास करते हैं और डरते हैं कि आप लोग हमारे सम्बन्ध में अनेकों प्रकार की रिपोर्ट लिख कर भेजेंगे, जिनके आधार पर किसी दिन हमारा बड़ा विरोध किया जायगा।' यह निश्चयात्मक रूप से नहीं कहा जा सकता कि शेरअली ने वाइसराय के पत्रों आदि को कहाँ तक समझा, परन्तु इतना अवश्य निश्चय है कि लिटन ने शेरअली की परिस्थिति-विशेष को अच्छी प्रकार नहीं समझा। इन दोनों बाज़ारों में यह बड़ी गर्म अफवाह थी कि इंग्लैंड और रूस ने अफगानिस्तान के बँटवारे के सम्बन्ध में समझौता कर लिया है और इस समझौते को दृढ़ बनाने के विचार से ड्यूक आर एडिनबरा तथा एक रूसी राजकुमारी का वैवाहिक सम्बन्ध भी स्थापित हो चुका है। अपने लम्बे २ पत्रों में लिटन ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि शेरअली का राजदूत भेजना यह अर्थ रखता है कि वह अंग्रेजी रेजीडेण्टों को अपने यहाँ पर रखने की अनुमति देता है। और इंग्लैंड तथा अफगानिस्तान के सम्बन्धों का आधार १८५५ की संधि है तथा मेयो एवं नौरथ्रु के आश्वासनों का कोई स्थायी मूल्य नहीं था। सम्भवतः इसी समय से शेरअली रूस की ओर अधिकाधिक आकृष्ट होने लगा था, यद्यपि यह भी सत्य है कि यदि उसकी शक्ति में होता तो वह किसी भी योरूपीय शक्ति से झगड़ा मोल न लेता। मार्च में सैय्यद नूरमुहम्मद का पेशावर में देहान्त हो गया। लार्ड लिटन ने तुरन्त इस अवसर से लाभ उठाकर कान्फ्रेंस की समाप्ति की घोषणा कर दी जबकि मृत राजदूत का उत्तराधिकारी शेरअली से नये सुझाव प्राप्त कर रवाना हो चुका था। अब

अफगान दरबार से पत्र-व्यवहार सर्वथा बन्द कर दिया गया। यद्यपि लार्ड लिटन ने अफगान लोगों को यह आश्वासन दिया था कि, 'जब तक उनका शासक या दूसरे आदमी उनको अंग्रेजी राज्य या उनके मित्रों के ऊपर हिंसात्मक कार्य करने के लिए उत्तेजित नहीं करते तब तक एक भी ब्रिटिश सैनिक अफगाणिस्तान के भीतर बिना बुलाये न घुसने दिया जायगा।'

निस्सन्देह राजनीतिक वातावरण दिन प्रतिदिन जुद्ध होता जा रहा था, परन्तु अभी तक कोई ऐसा कार्य नहीं किया गया था जिसके ऊपर बहुत अधिक पश्चात्ताप करना पड़ता। लार्ड लिटन के इस कथन में सत्य था कि 'उस समय मध्य एशिया की परिस्थिति के दृष्टि-कोण से अंग्रेजों के अफगानिस्तान के सम्बन्ध सन्तोष-जनक नहीं थे।' शेरअली एक स्वतन्त्र शासक था और अंग्रेजी सरकार को उसको रूस के साथ सम्बन्ध स्थापित न करने देना या अपने यहाँ अंग्रेज रेज़िडेण्ट रखने पर बाध्य करने का कोई नैतिक अधिकार नहीं था, परन्तु लार्ड लिटन ने इसी मार्ग का अनुसरण किया और ब्रिटिश सरकार को भी इसी मार्ग पर चलने के लिए बाध्य किया, सर जेम्स स्टीफन के शब्दों से लिटन तथा कम्पनी की मनोवृत्ति का पता चलता है—'काबुल के अमीर और कलात के खान जैसे सरदारों के साथ व्यवहार इस आशय से करना चाहिये कि उनकी स्थिति हमारी (अंग्रेजों की) स्थिति से नीची है यद्यपि वे किसी भी प्रकार हमारे अधीन नहीं हैं; क्योंकि किसी सुनिश्चित संधि आदि से वे महारानी (विक्टोरिया) का कर्तव्यपालन करने के लिए बाध्य नहीं हैं। उनकी निम्न स्थिति का तात्पर्य यह है कि उनको किसी ऐसी नीति का अनुसरण करने की आज्ञा नहीं दी जा सकती जो हमारे लिए भयकारी हो। इन राज्यों के साथ हमारे सम्बन्ध इस तथ्य पर आश्रित हैं कि हम उनसे कहीं अधिक शक्तिशाली एवं सभ्य हैं। और वे अपेक्षाकृत निर्बल तथा असभ्य हैं।'

पेशावर कान्फ्रेंस के समाप्त होने पर लिटन ने अपना ध्यान उत्तरी पश्चिमी सेना के कबाइलियों की ओर दिया, और उनके प्रान्तों में होकर अपनी चौकियों को अफगानिस्तान के और निकट स्थापित करने की अपनी उत्कट अभिलाषा प्रकट की। काश्मीर महाराज के साथ 'न्यूनाधिक गुप्त प्रबन्ध' करके उसने गिलगित में ब्रिटिश एजेन्सी स्थापित की। इस पर कप्तान कैवेगनरी ने उसको समझाया कि इस नीति के परिणाम-स्वरूप शेर-

अली के साथ मित्रता सर्वथा असम्भव हो जायगी। लार्ड लिटन की पुत्री के लेखानुसार सीमान्त प्रदेश के पुराने एवं अनुभवी अफसरों ने भी इसका विरोध किया था। सारांश यह है कि वाइसराय के विरोधियों ने इसकी इस नीति को अत्यन्त रहस्यमय एवं धूर्ततापूर्ण ठहराया। वे चाहते थे कि सीमान्त-नीति पहले की भाँति सीधी सच्ची तथा निष्कपट होनी चाहिए, परन्तु लार्ड लिटन तो इस समय जैसाकि उसने भी स्वयं स्वीकार किया है 'अफगान शक्ति को क्षीण करने और धीरे-२' उसको अस्त-व्यस्त करने' पर तुला हुआ था।

परन्तु शेरअली के पतन का कारण यूरोप के ऋगड़े बने जिनकी इस समय ऐसी कोई आशा भी नहीं की जाती थी। १८७६ में सर्बिया और मोन्टे नीग्रो के निवासियों ने तुर्क कुशासन के विरुद्ध सशस्त्र विद्रोह कर दिया। अगले वर्ष अप्रैल के महीने में रूस के इन लोगों का पक्ष लेकर टर्की के साथ युद्ध की घोषणा कर दी और १८७८ में उसकी सेनाएँ बल्कान प्रदेश को पार कर आईं। इंग्लैंड के प्रधान मन्त्री डिज़रायले ने, जो इस समय अर्ल ऑफ वीकन्सफील्ड बन चुका था, इस आधार पर कि अंग्रेजी हितों के लिए टर्क साम्राज्य को सुरक्षित एवं अविच्छिन्न रखना परमावश्यक था, सैनिक कार्यों के लिए पार्लियामेंट से ६० लाख पौंड स्वीकृत करा कर भूमध्य सागर के अपने जहाजी बेड़े को दूर दानिहाल में प्रवेश करने की आज्ञा दे दी। डिज़रायले की इस चाल से रूसी कुस्तुनतुनिया पर आक्रमण करने से भय-भीत हो गये और १८७८ में टर्की के सुल्तान के साथ सेन स्टीफेसो की सन्धि कर ली। परन्तु रूस की इस कूटनीतिक सफलता को भी ग्रेट ब्रिटेन ने मिट्टी में मिला दिया। लार्ड वीकन्स फील्ड ने इस सन्धि को स्वीकार करने से इंकार कर दिया, रिज़र्व सेना को बुला लिया, टर्की की आज्ञा से साईप्रस पर अधिकार कर लिया और भूमध्य सागर के बेड़े को और शक्तिशाली बनाया। ऐसा प्रतीत होने लगा था कि भयंकर संग्राम छिड़ जायगा परन्तु जर्मनी की मध्यस्थता से युद्ध टल गया। जून तथा जौलाई १८७८ में यूरोप की प्रमुख शक्तियों की बर्लिन कान्फ्रेंस में सेन स्टीफेनों की संधि को इस प्रकार संशोधित किया गया कि जिससे रूस की मनोकामना पूरी न हो सके। इस सन्धि से रूस की सरकार लार्ड वीकन्सफील्ड के शत्रुतापूर्ण व्यवहार से अत्यन्त कुपित तथा असंतुष्ट हो गई। इस ऋगड़े में डिज़रायले ने एक भारतीय सेना

स्वेज़ नहर के मार्ग से माल्टा में बुला ली थी। अब रूस ने भारत की अंग्रेजी सरकार को घर के निकट ही युद्ध करने का अवसर देने का दृढ़ निश्चय किया।

१३ जून को जिस दिन बर्लिन कांग्रेस आरम्भ हो रही थी, जनरल स्टालटोफ़ ने ताशकन्द से काबुल के लिये प्रस्थान किया। उसकी प्रगति को रोकने के लिये शेरअली के प्रयत्न, लार्ड लिटन के इस लांछन को, कि वह स्वयं रूसियों को प्रोत्साहन दे रहा था, सर्वथा निर्मूल सिद्ध करने के लिये पर्याप्त हैं। उसने अचरशः वही सब बातें तुर्किस्तान के रूसी गवर्नर जनरल से कहीं, जो ब्रिटिश भारत के वायसराय से कही थीं और अपने एक मंत्री को ताशकन्द में कांग्रेस में भाग लेने के लिये भेजने का वचन दिया, जैसा कि लार्ड लिटन से भी किया था परन्तु उसके विरोध पर अब लेश मात्र भी ध्यान नहीं दिया गया और कहा गया कि स्टालटोन को अब वापिस नहीं बुलाया जा सकता और यदि उसको कुछ हो गया तो ज़ार (रूस का राजा) उसके लिये शेरअली को उत्तरदायी ठहरायेगा। रूस की सरकार उस पर दबाव डाल सकती थी क्योंकि उसका भतीजा अब्दुर्रहमान उनका कृपा-पात्र रह चुका था। शेरअली को महत्वपूर्ण संकेत भी किया गया कि यदि उसने अधिक आना-कानी या विरोध किया तो काबुल सिंहासन के लिये एक भयानक स्पर्धी खड़ा कर दिया जायगा। अब शेरअली के पास कोई चारा नहीं था, इसलिये वह झुकने के लिए बाध्य हो गया और उसके पतन के पश्चात् काबुल में कुछ ऐसे कागज़ मिले जिनसे प्रकट होता है कि उसने अब रूस के साथ एक निश्चित मैत्रीपूर्ण संधि कर ली थी। काबुल में जब रूसी मिशन के आने का समाचार लार्ड लिटन ने सुना, तो उसने तुरंत इंग्लैंड को ब्रिटिश सरकार की आज्ञा प्राप्त करने के लिए समुद्री तार दिया और फिर यह दृढ़ निश्चय कर लिया कि शेरअली पर दबाव डाला जाय कि वह अपने यहाँ एक अंग्रेज राजदूत भी रखे जिस प्रकार उसने रूसी राजदूत को रख लिया है। शेरअली के सामने यह शर्त रखी गई कि वह अंग्रेजी सरकार की आज्ञा के बिना किसी भी राज्य से सन्धि-चर्चा नहीं कर सकता, अंग्रेजों को उसे यह अधिकार देना पड़ेगा कि जब वे आवश्यक समझें तब उसके साथ कांग्रेस करने के लिये अंग्रेज अफसरों को काबुल भेज सकें, और हिरात में एक अंग्रेज एजेन्ट रखने की आज्ञा उसको देनी पड़ेगी।

इन सब कार्यवाहियों का मूल स्रोत एक भयंकर झूठ थी। यह सर्वविदित था कि काबुल में रूसी मिशन के प्रवेश का उत्तरदायित्व अफगानिस्तान पर नहीं बरन् रूस पर था और यदि अंग्रेजों को किसी से निवटना था तो वह रूस था। बर्लिन संधि पर हस्ताक्षर हो जाने के पश्चात् जनरल स्टालटोफ का काबुल में रहना अमैत्रीपूर्ण कार्य ठहराया जा सकता था और सेंट पीटर्सबर्ग में रहने वाले ब्रिटिश राजदूत को रूसी सरकार पर उसको वापिस बुलाने के लिए दबाव डालना चाहिये था। इसमें संदेह नहीं कि ब्रिटिश राजदूत की यह प्रार्थना, यदि उसकी ही होती, तुरंत स्वीकृत की जाती क्योंकि स्टालटोफ ने जब यह सुना कि ब्रिटिश काबुल में अपना एक मिशन भेजने का विचार रखते हैं, वह तुरन्त काबुल छोड़कर चला गया। रूस का यह कार्य यूरोप में ब्रिटिश नीति का प्रतिवाद मात्र था जिसके कारण उसको विजयी होते हुए भी पराजय का मुँह देखना पड़ा था। लिटन के लिये बुद्धिमानी का मार्ग यह था कि वह यह समझता कि शेरअली ने रूसी राजदूत के काबुल से चले जाने पर प्रसन्नता मनाई, जैसाकि वास्तव में उसने किया था, और उसके साथ मित्रतापूर्ण सम्बन्ध फिर स्थापित करता परन्तु दुर्भाग्यवश उसने ऐसा नहीं किया। उसने सोचा कि बर्लिन संधि ने अंग्रेजों को मनमानी करने की पूर्ण स्वतन्त्रता दे दी है। ३० अगस्त को एक मुसलमान दूत इस बात की घोषणा करने के लिए भेजा गया कि ब्रिटिश मिशन आ रहा है। खैबर दर्रे में रहने वाले अफरीदियों को दूत तथा उसके दल को सुरक्षित निकल जाने के लिए रिश्त दे दी गई। यह ऐसा कार्य था जिस पर आपत्ति उठाने का शेरअली को प्रत्येक अधिकार था। अगस्त १८७८ में अब्दुल्लाजान की मृत्यु हो गई जो शेरअली का प्रिय पुत्र था और जिसको वह अपना उत्तराधिकारी बनाना चाहता था। कुछ समय के लिए शेरअली पागल-सा हो गया और इस कारण कुछ देर हो गई। परन्तु इसके कुछ दिन पश्चात् सर नैवाइल चैम्बरलेन, जिसको लिटन ने राजदूत नियत किया था, पेशावर से रवाना हुआ। अलीमस्जिद पर राजदूत के दल के अग्र भाग की एक अफगान अफसर से मुलाकात हुई जिसने बड़ी नम्रता परन्तु दृढ़ता के साथ दल के नेता मेजर कैलेगनरी से कहा कि काबुल से आज्ञा प्राप्त किए बिना वह उसको आगे नहीं बढ़ने देगा। ब्रिटिश राजदूत यह भली प्रकार समझ कर, कि यदि उसने आगे बढ़ने का प्रयत्न किया तो अफगान लोग शक्ति का प्रयोग करेंगे, वापिस पेशावर लौट-आया।

३२६

लार्ड लिटन ने यह घोषणा कर दी कि “मिशन को ‘शक्ति से पीछे धकेला गया था’ जो सर्वथा झूठ था और इंग्लैंड पर युद्ध की घोषणा करने का बहुत अधिक दबाव डाला। केबिनेट ने कुछ सप्ताह की देर की और फिर शेरअली को २ नवम्बर को लिखा कि यदि वह युद्ध की भयंकरता से बचना चाहता है तो समुचित एवं पूर्ण क्षमा याचना करे और अफगानिस्तान में एक स्थायी अंग्रेजी मिशन रखने की अनुमति दे। यदि नवम्बर तक इसका उत्तर कहीं आता तो युद्ध आरम्भ हो जायगा। १६ नवम्बर का लिखा हुआ उत्तर देर से ३० नवम्बर को वायसराय के पास पहुंचा जिसमें शेरअली ने मिशन को स्वीकार किया परन्तु जिसको अपर्याप्त बतलाया गया क्योंकि उसमें क्षमा याचना नहीं की गई थी। इसके अतिरिक्त उत्तर आने से पहले ही युद्ध आरम्भ हो चुका था, क्योंकि लिटन २१ तारीख को ही अपनी सेनायें रवाना कर चुका था।

एक बार फिर ग्रेट ब्रिटेन ने अफगानिस्तान के साथ युद्ध ठान दिया था। परन्तु इंग्लैंड में इस नीति का बड़ा भारी तथा कट्टर विरोध किया गया। पार्लियामेंट में ग्लेडस्टन ने अपने एक अत्यन्त महत्वपूर्ण व्याख्यान में लिटन की भर्त्सना की, “हमने भूल से १८३८ में अफगानिस्तान के साथ युद्ध किया। परन्तु भूल करना मनुष्य का स्वभाव है और इसलिये क्षम्य हैं। परन्तु हमने फिर दूसरी बार भूल की और उसी आधार पर जिसके कारण भी कोई अधिक मान्य नहीं है।” इस भूल की पुनरावृत्ति प्रत्येक विचारणीय चेतान्वी तथा शक्तिशाली सबूतों के घोर विरोध में की गई है। यह एक कहावत है कि इतिहास अपनी पुनरावृत्ति करता है और इस कहावत का सबूत इस वर्तमान एवं ऐसे ही गत काल के युद्धों के अतिरिक्त इतना अच्छा नहीं मिल सकता “परमात्मा करे यह युद्ध टल जाय। भगवान् हमारी सेना पर १८४१ के संकट की पुनरावृत्ति न हो।” ग्लेडस्टन की भावी आशंका का भय कितना सत्य सिद्ध हुआ, आगे चलकर उपयुक्त स्थान पर बतलाया जायगा।

(आ) द्वितीय अफगान युद्ध

२१ नवम्बर को युद्ध की घोषणा होते ही ब्रिटिश सेनायें एक साथ अफगानियों के तीनों मुख्य दरों में प्रवेश कर गईं। सर सेम्युअल ब्राऊन ने

खैबर दर्रे में होकर कूच किया और अली मस्जिद पर अधिकार करके जलालाबाद की ओर बढ़ा। मेजर जनरल राबर्ट्स ने कुर्रम घाटी में प्रवेश करके पेरीषन दर्रे पर आधिपत्य स्थापित कर लिया। सब से दक्षिण की ओर जनरल स्टीवर्ट की सेना बवेटा से बोलान दर्रे में होकर कन्दहार की ओर बढ़ी। इन सेनाओं का कोई विशेष विरोध नहीं हुआ। अभागे शेरअली ने व्यर्थ ही जनरल कौफमेन से सहायता प्राप्त करने का प्रयत्न किया परन्तु उस चालाक अफसर ने एक मित्र के नाते उसको अंग्रेजों के साथ मित्रता करने के लिये समझाया यदि वे ऐसा करने के लिये उसको अवसर दें। दिसम्बर में शेरअली ने अपने बड़े पुत्र याकूबख़ाँ को बन्दीगृह से मुक्त करके, आक्रान्ताओं के साथ यथासम्भव सन्धि करने के लिये काबुल में छोड़कर स्वयं रूसी तुर्किस्तान चला गया। शेरअली ने कौफन से फिर सहायता की याचना की, परन्तु रूसियों ने उत्तर में केवल यह कहा कि वह उस समय अफगानिस्तान पर आक्रमण करना उनकी शक्ति से सर्वथा बाहर था और जब उसने सेंट पीटर्सबर्ग जाकर ज़ार के सामने अपने ऊपर किये गये अत्याचारों को रखने का प्रस्ताव रक्खा, तो उसको कोई प्रोत्साहन नहीं दिया। रूसियों ने शेरअली की सहायतार्थ कुछ नहीं किया यद्यपि लन्दन में रूसी राजदूत ने ब्रिटिश सरकार से यह वचन ले लिया था कि अफगानिस्तान को छिन्न-भिन्न नहीं किया जायगा। २१ फरवरी को मम्पेशरीफ में मानसिक क्लेश और शारीरिक रोग के कारण शेरअली का देहान्त हो गया। शेरअली का जीवन पश्चिमी सभ्यता की काली करतूतों के ऊपर एक शिक्षाप्रद टिप्पणी है। उसकी मृत्यु पर रूस और विशेषकर इंग्लैंड को न्याय संतोष नहीं हो सकता। शेरअली निस्संदेह एक योग्य शासक था परन्तु वह अपने शक्तिशाली एवं भूत पड़ोसियों की निर्दयी आकांक्षाओं तथा स्वार्थपूर्ण हितों का सामना न कर सका, लार्ड लिटन की हार्दिक इच्छा थी कि अफगानिस्तान की सत्ता को छिन्न-भिन्न कर दिया जाय परन्तु इंग्लैंड की केबिनेट इससे सहमत न हुई और याकूबख़ाँ को शेरअली का उत्तराधिकारी स्वीकृत कर लिया गया।

गण्डमक की सन्धि :—याकूबख़ाँ के साथ गण्डमक नामक स्थान पर मई १८७९ में एक सन्धि हो गई। इस सन्धि में नये अमीर ने अपनी परराष्ट्र नीति पर अंग्रेजी सरकार का नियंत्रण स्वीकार किया और यह भी स्वीकार कर लिया कि काबुल में एक स्थायी अंग्रेज रेजिडेण्ट और हिरान

तथा अन्य सीमांत नगरों में पुजेन्ट रहो करे। इसके अतिरिक्त कुर्रम दर्रा तथा बोलान दर्रे के निकटवर्ती प्रान्त पिसिन तथा सिन्धी पर भी अंग्रेजों का आधिपत्य स्वीकार कर लिया गया। अंग्रेजों ने अपने निर्णय के अनुसार धन, जन, तथा शस्त्रों से अमीर को सहायता करने का वचन दिया यदि कभी कोई विदेशी आक्रमण उन पर हो और प्रति वर्ष अमीर को ६ लाख रुपया सहायता रूप में देना निश्चित किया। यह निश्चित हुआ कि कन्दहार के अतिरिक्त शेष अफगानिस्तान से अंग्रेजी सेनायें तुरन्त हटा ली जायें। कन्दहार पतझड़ से पहले खाली होने के लिये नहीं था। गण्डमक की सन्धि में लार्ड लिटन की अफगान नीति उच्चतम शिखर पर पहुँच चुकी थी। लार्ड वीकन्स फील्ड के शब्दों में इस सन्धि के द्वारा अंग्रेजों ने 'अपने भारतीय साम्राज्य के लिये एक वैधानिक एवं पर्याप्त सीमा प्राप्त कर ली थी। परन्तु उनकी यह विजय क्षणिक थी। एक बार फिर भारत की अङ्गरेजी सरकार को यह कड़वा पाठ पढ़ना था कि जब भी कोई विदेशी शक्ति किसी अफगान शासक को सीधे सहायता देती है तो अफगान लोग ऐसे शासक को सम्मान की दृष्टि से नहीं देखते और न उसके वफादार ही होते हैं। लिटन के इन शब्दों से कि "अफगान लोग (इनको अंग्रेजों को) शेरअली का पतन करने पर और अधिक प्यार करेंगे तथा हमारा मान करेंगे।" यह भली भाँति प्रकट हो जाता है कि वह अफगानिस्तान की वास्तविक स्थिति के सम्बन्ध में कितना अन्धा था। इन शब्दों के लिखे जाने के १ महीने पश्चात् ही इनकी असत्यता प्रकट हो गई। २४ जुलाई को सर लुई कैवेगनरी ने रेजिडेण्ट के रूप में काबुल में प्रवेश किया। वह भी भावी भय के सम्बन्ध में लिटन की ही भाँति सर्वथा अन्धा था।

अंग्रेजी राजदूतावास पर आक्रमण :—कैवेगनरी ने दो सितम्बर को वाइसराय को एक तार दिया जिसमें लिखा था 'सब ठीक' है। दूसरे ही दिन अफगान सेना ने विद्रोह कर दिया और अंग्रेज राजदूतावास पर आक्रमण करके बर्न्स आदि सब को मार डाला। याकूबखँ या तो सर्वथा शक्तिहीन था या फिर चुपके २ विद्रोहियों से मिला हुआ था। कुछ भी हो विद्रोह को शान्त करने का कोई सफल प्रयत्न नहीं किया गया। वाइसराय के लिए यह अत्यन्त भयानक चोट थी। उसने लिखा "नीति का वह जाल, जिसको इतनी सावधानी के साथ बुना गया था, तुरी तरह से नष्ट कर दिया गया है। पिछले युद्ध और सन्धि-वार्ता में मैं जिस चीज को टालना चाहता था,

भाग्य ने अब उसी को कर दिया है।" फिर एक बार अंग्रेजी सेनाओं ने कूच किया। राबर्ट्स ने फिर कुर्रम घाटी में होकर काबुल पर आक्रमण किया और मार्ग में चरसियाय पर विद्रोहियों को पराजित करके १२ अक्टूबर को नगर में प्रवेश किया। याकूबख़ाँ अपने देशवासियों के व्यवहार से भयभीत होकर काबुल में प्रविष्ट होने से पहले ही अंग्रेजी सेना से मिल गया था। उसने अपना राजपद त्याग दिया। उसने कहा कि अफगानिस्तान का शासक होने की अपेक्षा मैं भारतवर्ष में वास काटना अधिक पसन्द करूँगा। जाँच करने पर याकूबख़ाँ का कोई दोष नहीं पाया गया, परन्तु फिर भी उसको राज-बन्दी बना कर भारतवर्ष भेज दिया गया। काबुल की गद्दी पर उसको दोबारा बिठाना असम्भव ही समझा गया।

अन्दुरहमान का अमीर बनना :—अब भारत की अंग्रेजी सरकार के सामने एक बड़ी विकट समस्या थी। इस समय अफगानिस्तान में अराजकता छाई हुई थी और वहाँ पर कोई ऐसा शासक नहीं था, जिसके साथ सन्धि-वार्ता की जाती। शीतकाल में काबुल के निकट बड़ा भयंकर युद्ध होता रहा और भारतवर्ष के साथ पत्र-व्यवहार बनाये रखने में राबर्ट्स को बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ा। यहाँ तक कि १४ से २४ दिसम्बर तक काबुल तथा भारत के बीच आना-जाना और पत्र-व्यवहार सब बन्द हो गये थे। राबर्ट्स को काबुल एवं बालाहिसार नामक दुर्ग छोड़ने के लिए बाध्य होना पड़ा। अब उसने शेरपुर में जाकर शरण ली। यहाँ पर उसको १ लाख कयाइलियों ने घेर लिया। १८८० के वसन्त-काल में स्टीवार्ट ने कन्दहार से चलकर अहमदखेल पर विद्रोहियों को परास्त किया और काबुल पहुँच कर राबर्ट्स से आ मिला। इस समय कन्धार तथा काबुल के पूर्व अफगानिस्तान के एक छोटे-से भाग पर ही अंग्रेजों का अधिकार था। सम्पूर्ण देश को विजय करने में अतुल धन-राशि की आहुति देनी पड़ती और वहाँ की सेनाओं को बहुत अधिक बढ़ाना पड़ता, परन्तु देश में कोई व्यवस्थित शासन स्थापित किये बिना लौटने से ब्रिटिश शान पर धब्बा लगता था। अंत में लार्ड लिटन की सलाह से यह निश्चित किया गया कि पश्चिमी अफगानिस्तान को शेष देश से काट कर अलग कर देना चाहिए। कन्धार प्रांत काबुल से पृथक् करके एक स्वतन्त्र शासक शेरअलीख़ाँ को दे दिया गया, जिसको आवश्यकता पड़ने पर भारत की सरकार ने सैनिक सहायता देने का

वचन दिया, परन्तु काबुल और उत्तर-पश्चिमी अफगानिस्तान की समस्या अभी शेष थी, परन्तु अंग्रेजों के सौभाग्य से यह एक ऐसे ढंग से निश्चित हुई जिसकी कनी आशा भी नहीं की जा सकती थी। लार्ड लिटन ने लिखा “अब्दुल रहमान हमको जंगल में पकड़ा हुआ बकरा मिला।” अब्दुलरहमान शेरअली का भतीजा और अफजलख़ाँ का पुत्र था, जिसने सत्रह महीने राज्य किया था और जो रूस की ओर भाग गया था। अब वह सहसा ही उत्तरी अफगानिस्तान में आ धमका। रूसियों ने उसको एक छोटी-सी सैनिक टुकड़ी के साथ अपने भाग्य की परीक्षा करने के लिए अपनी मातृभूमि की ओर भेजा था अफगान राज्य के अनेकों इच्छुकों को लिटन जाँच करने के पश्चात् अस्वीकृत कर चुका था। अब उसने अब्दुरहमान को उत्तर-पश्चिमी अफगानिस्तान में स्वतन्त्रतापूर्वक राज्य करने का अधिकार दे दिया और यदि अफगान लोग उसको पसन्द करें तो उसको अफगानिस्तान का अमीर बनाने का भी वचन दिया। आरम्भ में तो इस नीति से बड़ा भय लगता था तथा यह बहुत ही सन्देह-युक्त लगती थी, परन्तु अन्त में यह बड़ी सफल सिद्ध हुई। अब्दुरहमान अपने काल का बड़ा योग्य आदमी था। यह बड़ा दूरदर्शी तथा चतुर था। अपने ११ वर्ष के रूसी बन्वास में, जब वह रूसी कृपा पर अवलम्बित था, उसने अपने संरक्षकों के राजनीतिक साधनों एवं आदेशों का अच्छा अध्ययन कर लिया था, यद्यपि वह स्वयं उनका बड़ा भारी कृतज्ञ था क्योंकि उन्होंने उसको शरण दी थी। उसने अपने हृदय में सोचा कि भले ही इंग्लैंड का गत इतिहास अफगानिस्तान के सम्बन्ध में अच्छा न रहा हो परन्तु फिर भी रूस की अपेक्षा इंग्लैंड अफगान स्वतन्त्रता का अधिक पक्षपाती रहेगा, परन्तु वह आरम्भ से बहुत अधिक सावधान रहा था। अनेकों अंग्रेजों ने उसकी मनोवृत्ति को समझने में भूल की उसने अपने स्मृति-पत्रों में लिखा था—“मैं अपनी मित्रता को जितना आवश्यक समझता था, उतना प्रगट नहीं कर सकता था, क्योंकि मेरे आदमी (अफगान लोग) अज्ञानी और अन्ध-विश्वासी थे। यदि मैं अंग्रेजों के प्रति अपना कुछ शुकाव प्रगट करता तो मेरे आदमी मुझको नास्तिकों के साथ हाथ मिलाने वाला एक नास्तिक मानते।” इसलिए अंग्रेजी प्रस्तावों को मानते हुए भी वह अपने देशवासियों पर यह प्रगट नहीं होने देता था कि उसकी शक्ति अंग्रेजी संगीनों पर आश्रित थी और अंग्रेजों के साथ इस प्रकार का व्यवहार करता था जिससे यह प्रगट होता है कि वह उनसे विशेषाधिकार शक्ति के बल पर प्राप्त

करता था, वे उसको देते न थे। अफगानिस्तान में उस समय अंग्रेजों को बड़ी घृणा की दृष्टि से देखा जाता था। निस्सन्देह अब्दुर्रहमान के लिए बड़े श्रेय की बात है कि वह अंग्रेजों की सहायता से अफगानिस्तान का अमीर बना और फिर धीरे-२ अपने देशवासियों को उसने अंग्रेजी मित्रता और संरक्षणता के लिए तैयार कर लिया।

परन्तु यह सब कुछ होने से पहले लार्ड लिटन ने अपने पद से त्याग-पत्र दे दिया था। १८८० में कन्ज़रवेटिव दल को आम चुनाव में पराजय हो गई थी। लार्ड वीकन्स फील्ड के स्थान पर लार्ड हार्टिङ्गटन सेक्रेटरी आफ स्टेट बन गया था। यह आवश्यक वा वैधानिक नहीं था कि इंग्लैंड में मन्त्रिमण्डल बदलने पर भारत के वाइसराय को त्यागपत्र देना पड़ता, परन्तु कन्ज़रवेटिव मन्त्रिमण्डल की परराष्ट्र तथा भारतीय नीति की पालियामेण्ट तथा इंग्लैंड भर में बड़ी-२ आलोचना एवं निन्दा की गई थी और लार्ड हार्टिङ्गटन ने वाइसराय के सम्बन्ध में कहा था कि “वह उस भारतीय नीति का अवतार है जो किसी भी दशा में भारतीय नीति नहीं थी।” जैसे ही निर्वाचन के विषय में जनता की इच्छा का पता उसको चला, लिटन ने तुरन्त त्याग-पत्र दे दिया।

लार्ड लिटन के काल के शासन-प्रबंध

अफगान व्यवस्था :—इसका उल्लेख करने से पहले अफगानिस्तान की व्याख्या का वर्णन करना अधिक आवश्यक प्रतीत होता है। इंग्लैंड में उदार दल की सरकार की नीति को लार्ड हार्टिङ्गटन ने मई और नवम्बर के अपने पत्रों में इस प्रकार वर्णन किया था, “एक विशाल सेना और अतुल धन-राशि का व्यय करके दो सफल गुटों के परिणाम-स्वरूप यह प्रतीत होता है कि जिस देश को हम स्वतन्त्र, शक्तिशाली तथा अपना मित्र बना कर रखना चाहते थे, उसकी सत्ता छिन्न-भिन्न कर दी गई है और उसके एक प्रान्त के सम्बन्ध में नवीन तथा अवांछनीय उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले लिया गया है और दूसरे प्रांत में अराजकता फैली हुई है।” इसलिए सरकार ‘भूतकाल और वर्तमान समय के प्रमुख राजनीतिज्ञों के साथ यह अनुभव करती है कि अफगानिस्तान की आन्तरिक व्यवस्था में हस्तक्षेप करने का फल पूर्णतया वही हुआ है जिसको लिटन की नीति के विरोधी पहले से ही जानते थे तथा

जिससे पहले ही भयभीत थे। 'यदि अफगान लोग अंग्रेजों की अपेक्षा रूस और फारिस की ओर अधिक मित्र-भावना से देखते थे तो इसका कारण लिटन की नीति थी जिसके फलस्वरूप अफगानों को अपनी स्वतन्त्रता खोये जाने का भय था। इसलिए कैबिनेट का उद्देश्य युद्ध से पूर्व की स्थिति पैदा करना था और इसी कारण से लार्ड रिपन को शान्ति पूर्वक अफगान-समस्या का निपटारा करने के लिए वाइसराय बना कर भारतवर्ष भेजा गया। उत्तराधिकार सम्बन्धी लिटन की नीति को ही स्वीकार किया गया और जौलाई में अब्दुर्रहमान को काबुल का अमीर स्वीकृत कर लिया गया। इस स्वीकृति के साथ केवल एक शर्त लगाई गई कि 'अमीर अंग्रेजों के अतिरिक्त और किसी विदेशी शक्ति से बाह्य सम्बन्ध नहीं रख सकता था।' पिश्निन और सिवि प्रांत अंग्रेजों के ही हाथ में रहे। जब तक अब्दुर्रहमान पहली शर्त का पालन करता रहेगा तब तक अंग्रेज, यदि कोई विदेशी शक्ति उस पर आक्रमण करती है, उसकी सहायता करने को सदैव तैयार रहेंगे। अफगानिस्तान के साथ युद्ध-नीति का सर्वथा परित्याग कर दिया गया और ग्रेट-ब्रिटेन ने अफगानिस्तान में कहीं पर भी रेज़ीडेण्ट न रखने का वचन दिया। कन्दहार के शासक के साथ जो संधि की गई थी और जिसमें अफगानिस्तान को उत्तरी अफगानिस्तान से पृथक् रखा गया था, आरम्भ में तो रिपन ने इसका पालन करने के लिए इच्छा बिस्द्ध अपने आपको बाध्य पाया, परन्तु समय परचात् ही ऐसी परिस्थिति पैदा हो गई कि उसने इसका भी अन्त कुछ कर दिया। लिटन नीति का यह अन्तिम अवशेष था।

इस समय अफगानिस्तान में तीन स्वतन्त्र राज्य थे— काबुल, कन्दहार और हिरात। हिरात में शेरअली का एक पुत्र अयूबखां था। इस परिस्थिति में युद्ध का होना अवश्यम्भावी था और अंग्रेजी सेना के अफगानिस्तान को छोड़कर आने के पूर्व ही युद्ध का मारु बाजा बज उठा। जून में अयूबखां ने हिरात से कन्दहार की ओर प्रस्थान किया और मार्ग में मैवन्द नामक स्थान पर जनरल वरोज़ की अध्यक्षता में एक अंग्रेजी सेना को बहुत बुरी तरह पराजित किया। अंग्रेजों के ६१४ सैनिक मारे गये और वे समर भूमि से पीठ दिखाकर बुरी तरह भागे। इस युद्ध में ६६वीं रेज़ीमेंट के सैनिकों तथा १०० अफसरों ने अलबत्ता अच्छी वीरता का परिचय दिया। अफगान सेना से चारों ओर से घिरे रहने पर भी ये लोग अन्त समय तक

वीरतापूर्वक युद्ध करते रहे, जब तक कि उनमें से केवल ११ शेष रहे और अफगानों को पर्याप्त क्षति पहुँचाई। इस विजय के पश्चात् अयूबखॉ कन्दहार का घेरा डालने के लिए आगे बढ़ा। काबुल से स्टीवार्ट ने राबर्ट्स को कन्दहार शासक की सन्धि के अनुसार सहायता करने के लिए भेजा। राबर्ट्स ने अपने १०००० सैनिकों के साथ कन्दहार तक का ३१३ मील का फासला बीस दिन में पूरा किया। इन दिनों उसके लिए यह बड़े श्रेय की बात थी। कन्दहार के युद्ध में अयूबखॉ पराजित हुए। युद्ध प्रारम्भ हो जाने पर स्टीवार्ट नियत तिथि पर अपनी सेना सहित काबुल से भारत वापिस लौट आया। राबर्ट्स कुछ महीने कन्दहार ही में रहा और अन्त में १८८१ में सरकार ने कन्दहार को भी खाली करने का निश्चय कर लिया। कन्दहार के शासक शेरअलीखॉ को अपना राज्यपद त्याग कर भारत आने के लिए तैयार कर लिया गया। यद्यपि “आगे बढ़ो” नीति के समर्थकों तथा लिटन आदि ने इस नीति की कड़ी आलोचना की थी। अब्दुररहमान ने अपने पूर्वजों के राज्य के बटवारे को कभी भी शांति से सहन या स्वीकार नहीं किया था और अब कन्दहार उसको मिल जाने पर वह अंग्रेजों का पक्का मित्र बन गया। कुछ समय तक तो उसको यह भय था कि कहीं कन्दहार के साथ २ काबुल से भी हाथ न धोना पड़े। अंग्रेजी सेना के चले जाने पर अयूबखॉ ने फिर हिरात से प्रस्थान किया, कन्दहार पर आधिपत्य स्थापित किया और कई महीनों तक उसको अपने अधिकार में रखा। अब्दुर रहमान भी उससे युद्ध करने के लिए काबुल से रवाना हुआ। अब्दुर रहमान को अभी तक रणक्षेत्र में अपने कौशल एवं वीरता दिखाने का अवसर नहीं मिला, जब कि उसका प्रतिद्वन्द्वी मैवन्द की भारी विजय प्राप्त कर युद्ध का अच्छा अनुभव रखता था। किसी को आशा नहीं थी कि अब्दुर रहमान विजयी होगा और जब कन्दहार के निकट सितम्बर में उसने अयूबखॉ को पराजित किया तो लोगों की प्रसन्नता का ठिकाना नहीं रहा। अयूबखॉ देश छोड़कर फारिस भाग गया। हिरात और कन्दहार पर अब्दुर रहमान का आधिपत्य स्थापित हो गया। दोस्त मोहम्मद और शेरअली का अफगानिस्तान अब्दुर रहमान द्वारा फिर एक हो गया था, जिस पर इसके पश्चात् उसने बड़ी योग्यता एवं सफलता से शासन किया।

[३] लार्ड लिटन का शासन प्रबन्ध

१८७६-७८ का दुर्भिक्ष :—लिटन के शासन-काल में अफगान-युद्ध के अतिरिक्त दूसरी महत्वपूर्ण घटना १८७६ से १८७८ तक का भयंकर दुर्भिक्ष था। यह दुर्भिक्ष दो वर्ष से अधिक काल तक चलता रहा और भारत के एक बहुत बड़े क्षेत्रफल पर इसका विनाशकारी प्रभाव पड़ा। परन्तु अधिकतर इससे दक्षिणी भारत को हानि उठानी पड़ी। मद्रास, बम्बई, हैदराबाद तथा मैसूर की दशा बड़ी शोचनीय हो गई थी। मध्य भारत और पंजाब में भी इसका प्रभाव पड़े बिना नहीं रहा। सरकार ने लोगों को दुर्भिक्ष से बचाने का प्रबन्ध तो किया, परन्तु वह प्रबन्ध समुचित नहीं था। आरम्भ में मद्रास सरकार ने अकाल-पीड़ितों की सहायता के लिए सहायता देना प्रारम्भ किया, परन्तु लार्ड लिटन ने उनके साधनों की रिपोर्ट देने के लिए सर रिचार्ड टेम्पल को भेजा और फिर स्वयं भी ग्रीष्म ऋतु के अन्तिम दिनों में मद्रास गया। उसने कहा—“मद्रास सरकार की उदार सहायता नीति से सरकार को केवल आर्थिक हानि ही नहीं होती, वरन् उससे अकाल-पीड़ितों का भी अधिक लाभ नहीं होता। इसलिए बम्बई सरकार की मितव्ययी नीति को अपनाना चाहिए।” उसने लिखा था—“हम प्रकृति के साथ एक भयंकर युद्ध कर रहे हैं और हमारी युद्ध-पंक्ति मद्रास में पूर्णतया टूट चुकी है।” यद्यपि १ करोड़ दस लाख पाँड भारत के कोष तथा अन्य संस्थाओं से व्यय किया गया था, तो भी अकेले ब्रिटिश भारत में ५० लाख मनुष्य काल के गाल में समा गये। २० लाख एकड़ भूमि पर खेती होना बन्द हो गया था और सरकार को साढ़े बाइस लाख पाँड भूमिकर का घाटा रहा।

अब यह निश्चय किया गया कि दुर्भिक्ष पड़ने पर उसके निवारण के लिए ही प्रयत्न करने भर से, जैसा कि अब तक होता रहा था, काम नहीं चलेगा। दुर्भिक्ष-निवारण की इसलिये कोई स्थायी नीति तथा योजना का प्रतिपादन किया जाना चाहिये। दुर्भिक्ष-समस्या की जाँच करने के लिये सर रिचार्ड स्ट्रेची की प्रधानता में एक कमीशन नियुक्त किया, जिसने दो वर्ष के परिश्रम के पश्चात् अपनी रिपोर्ट पेश की। कमीशन ने सिफारिश की कि दुर्भिक्ष काल में स्वस्थ मनुष्यों को दुर्भिक्ष-निवारणार्थ आरम्भ किये गये कार्यों पर लगाकर उनकी सहायता ली जाय और मुफ्त सहायता केवल

उन तीन असहाय लोगों को दी जाये जो काम करने के सर्वथा अयोग्य हों दूसरी बड़ी सिफारिश यह थी कि प्रतिवर्ष १५ लाख पौंड की बजट में बचत करके उसको जातीय ऋण कम करने, और उन प्रान्तों में, जहाँ वर्षा का अभाव रहता है, रेलें तथा नहर बनवाने में व्यय किया जाये। इस धन की प्राप्ति के लिये व्यापार तथा पेशों पर कर और भूमि पर कुछ और अवलाव लगाये गये। लार्ड लिटन को इस दुर्भिक्ष नीति का आवश्यक तथा समयोचित परिवर्तनों के साथ अन्त तक पालन किया गया।

आर्थिक सुधार :—लार्ड लिटन का काल आर्थिक सुधारों के लिये भी प्रसिद्ध माना जाता है। उसने सर जान स्ट्रेची को, जो उत्तरी पश्चिमी सीमांत प्रांत का लेफ्टिनेण्ट गवर्नर था, १८७६ में अपनी कौंसिल का आर्थिक सदस्य बनाया। भारत में अंग्रेजी सरकार की आय का एक मुख्य स्रोत नमक-कर था। अब तक भिन्न २ प्रान्तों में इसकी दर अलग २ थी और एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त में अनियमित रूप से नमक को चोरी २ ले जाने से रोकने तथा देशी रियासतों से ब्रिटिश भारत में उस नमक को आने से रोकने के लिये, जिस पर टैक्स नहीं लगाया जाता था, अटक (सिन्ध नदी पर) से दक्षिण में महानदी तक २५०० मील लम्बी बाड़, दीवार तथा खाई की एक चुंगी दीवार फैली हुई थी। इस लाइन पर १२००० कर एकत्रित करने वालों की सेना का पहरा रहता था। पहले आर्थिक सचिवों ने इसका अन्त करने की इच्छा प्रगट की थी, परन्तु ऐसा करने के लिये दो बातें आवश्यक थीं : देशी राज्यों में नमक उत्पादन पर नियन्त्रण होना, तथा ब्रिटिश भारत के सब प्रान्तों में नमक-कर को समान क्ररता। लार्ड मेयो और लार्ड नौर्थ ब्रुक के काल में रियासतों के भीतर नमक के उत्पादन पर नियन्त्रण करने में कुछ सफलता प्राप्त हो गई थी और नौर्थ ब्रुक के काल में परिणाम स्वरूप चुंगी लाइन दक्षिण की ओर से १००० मील कम भी हो गई थी। अब जान स्ट्रेची ने अन्य देशी रियासतों से समझौता करके उनको कुछ देकर नमक उत्पादन पर ब्रिटिश सरकार का नियन्त्रण स्थापित किया, यद्यपि वह सब प्रान्तों में नमक-कर की दर को समान न कर सका; क्योंकि इससे सरकार की आय में कमी आती थी, तो भी अन्तर इतना कम रह गया था कि चोरी से एक प्रांत से दूसरे प्रांत में नमक ले जाने वालों को कोई लाभ नहीं था। इसलिये १५०० मील लम्बी शेष चुंगी लाइन का भी अब अन्त हो गया।

भारत में स्वतन्त्र व्यापार स्थापित करने के लिये जान स्ट्रेची ने काम और बड़ा पग उठाया। १८७८ में उसने देश के भीतरी भागों में चीनी पर जो चुंगी लगाई जाती थी, उसको समाप्त कर दिया और २६ अन्य पदार्थों पर आयात-कर का अन्त कर दिया। वाइसराय तथा स्ट्रेची की इच्छा भारतवर्ष को सांसारिक व्यापार के लिये एक स्वतन्त्र दन्दरगाह बनाने की थी, परन्तु अफगान युद्ध और दुर्भिक्ष के कारण अधिक आर्थिक क्षति हो जाने के कारण वे सरकारी आय में अधिक कमी पड़ने के भय से अपने उद्देश्य में पूर्णतया सफल न हो सके। अभी तक विदेशी कपड़े पर पाँच प्रतिशत आयात-कर लगा हुआ था। अब इस पर बड़ा वितण्डावाद उठ खड़ा हुआ। लंकाशायर के सूती कपड़े के उत्पादक इस कर का अन्त करने के लिये बहुत काल से चिन्ता कर रहे थे और जौलाई १८७७ में हाऊस ऑफ कामन्स ने सर्वसम्मति से यह प्रस्ताव पास किया कि “भारतवर्ष में जो सूती कपड़े पर आयात कर लगाया जाता है वह (इस समय) संरक्षणात्मक है और व्यापारिक नीति के विरुद्ध है और उसका तुरन्त अन्त कर देना चाहिये।” परन्तु भारत में आयात कर सम्बन्धी परिवर्तनों के विरुद्ध बड़ा विरोध था। यहाँ का व्यवसाय कम्पनी ने अपनी धूर्ततापूर्ण नीति से पहले ही ठप कर दिया था और संसार-भर में प्रसिद्ध सूती कपड़े का उत्पादक भारत अब विदेशी कपड़े पर आश्रित था। इस आयात-कर के अन्त करने का तात्पर्य भारतीय उत्पादकों को सर्वथा नष्ट करना था। वाइसराय की कौंसिल ने भी इसका विरोध किया और कहा कि इस कर से भारतीय उद्योग का कोई संरक्षण नहीं होता और इसका अन्त करने का अभी समय नहीं आया है। हाऊस ऑफ कामन्स का यह प्रस्ताव भारत के हित में था ही नहीं, इंगलैंड के भी नहीं था। इससे तो एक राजनीतिक दल का हित सम्बद्ध था, जो लंकाशायर के उत्पादकों की सहायता सदा के लिये प्राप्त करना चाहता था। परन्तु फिर प्रस्ताव को स्वीकार किया गया और भदे कपड़े के ऊपर से आयात-कर बिलकुल उठा लिया गया। इससे भारतीय उद्योग पर बड़ा कुप्रभाव पड़ा। ऐसा करने में लिटन को अपने विशेष अधिकार का प्रयोग करना पड़ा, क्योंकि उसकी कौंसिल इससे सहमत न थी। १८७६ में द्वितीय भारत का कृषि-सम्बन्धी उद्धार नियम पास किया, जिस में किसानों को महाजनों के चाल से बचाने का प्रयत्न किया गया था।

आर्थिक विकेंद्रीकरण :—अंग्रेजी काल में लार्ड मेयो ने आर्थिक विकेंद्रीकरण की प्रथा १८७० में डाली थी। इससे पूर्व प्रान्तों को केन्द्रीय कोष से एक नियत धन-राशि मिला करती थी। १८७७ में सर जान स्ट्रेची ने इस प्रथा को और अधिक प्रोत्साहन दिया। स्ट्रेची का आर्थिक मन्त्रित्व-काल वास्तव में बड़ा महत्वपूर्ण रहा।

सिविल सर्विस :—१८३३ के आज़ापत्र में भारतीयों को यह अधिकार दिया गया था कि जाति, धर्म या रंग के आधार पर किसी को भी उस पद से वंचित नहीं रखा जायगा, जिसके वह योग्य होगा। फिर १८५८ में राजकीय घोषणा में भी इसको दोहराया गया था, परन्तु अभी तक इसकी कार्यान्वित नहीं किया गया था। १८७६ में नियमानुसार सिविल सर्विस की स्थापना की गई। वैसे तो १८३३ के ऐक्ट के अनुसार ब्रिटिश सम्राट् को सम्पूर्णा प्रजा की प्रतियोगिता की परीक्षा में उत्तीर्ण होकर किसी भी उच्च पद को प्राप्त करने का अधिकार दे दिया गया; परन्तु क्योंकि यह परीक्षा इंग्लैंड में होती थी, इसलिये कतिपय भारतवासियों के अतिरिक्त उनके मार्ग में एक बहुत बड़ी व्यवहारिक कठिनाई थी। इसलिये भारतीय जनता की दृष्टि में कम्पनी तथा सम्राज्ञी के वचनों का क्रियात्मक पालन नहीं किया जा रहा था। सब ही बड़े २ पदों पर अंग्रेज लोग थे और भारतीय लोगों को छोटे दर्जे के पदों पर ही रखा जाता था। इंग्लैंड में अनुदारदलीय लोगों की दृष्टि में १८३३ और १८५८ में दिये गये वचनों का पूरा पालन किया जा रहा था और यदि इन वचनों का इससे अधिक अभिप्राय था, तो ये वचन मूर्खतापूर्ण थे। भारतवासियों के आँसू पोंछने के लिये जब-तब एक-दो टुकड़े उनके सामने डाल दिये जाते थे। लार्ड लारेंस ने भारतवासियों को छात्रवृत्ति देकर तीन वर्ष तक इंग्लैंड में रखने की अल्पकालिक प्रथा आरम्भ थी। इसके पश्चात् १८८० में ड्यूक आव आंगिल ने, जो सेक्रेटरी आव स्टेट था, एक नियम पास कराया, जिसके द्वारा कतिपय भारतवासियों को भारतीय सरकार सेक्रेटरी आव स्टेट की स्वीकृति से उन पदों पर नियुक्त कर सकती थी, जिन पर अभी तक सिविल सर्विस के ही आदमी नियुक्त किये जाते थे और इनको लन्दन जाकर प्रतियोगिता की परीक्षा में उत्तीर्ण होना अनिवार्य नहीं था। परन्तु इस प्रकार भारत-वासियों को न्याय-विभाग में ही जगह दी जा सकती थी—शासन-विभाग में

नहीं। परन्तु ये सब कोरी बातें थीं। कभी भारत की सरकार आना-कानी करती तो कभी इंग्लैंड की सरकार भारत की सरकार के बनाये हुए नियमों को पास न करती। लिटन ने इंग्लैंड की सरकार को लिखा, “इन वचनों की सविस्तर व्याख्या कीजिये जिनको मूर्खतापूर्वक अनिश्चित रूप में दिया गया है। सावधानी से उनमें काट-छाँट करके उनको सीमित कीजिये, परन्तु फिर उनको उनकी आवश्यक सीमाओं के भीतर यथार्थता का रूप दीजियेगा।” इसी सिद्धान्त के अनुसार उसकी सरकार ने १८७८-७९ में नियमानुसार सिविल सर्विस की स्थापना की। यह नियम बनाया गया कि लगभग १६ प्रतिशत पद उन लोगों को दिये जायेंगे जिनका जन्म भारत में हुआ हो और उनको प्रान्तीय सरकारें, वाइसराय तथा उसकी कौंसिल और सेक्रेटरी की अनुमति से नियुक्त करेंगी। ऐसे मनुष्यों को दो वर्ष तक अपनी क्षमता एवं योग्यता दिखलाने के लिये कार्य करना पड़ेगा और इसके पश्चात् उनको स्थायी पद प्रदान किये जायेंगे। इस समय भी भारत की अंग्रेजी सरकार भारतवासियों को लन्दन की प्रतियोगिता परीक्षा से वंचित रखना चाहती थी, परन्तु इण्डिया आफिस ने इसको अस्वीकृत कर दिया। यह सिविल सर्विस तथा नीचे दर्जे की सर्विस के बीच का मार्ग था। भारत-वासियों के इससे कुछ आँसू अवश्य पोंछे गये, परन्तु उच्च श्रेणी के मनुष्यों ने इसको पसन्द नहीं किया और केवल वही लोग पदों पर नियुक्त किये गये जो नीचे दर्जे के पदों पर भी काम करने को तैयार थे। परिणाम-स्वरूप आठ वर्ष पश्चात् इस प्रथा का त्याग करना पड़ा।

वर्नाक्यूलर प्रेस एक्ट :—१८७८ में लिटन ने अपना वर्नाक्यूलर प्रेस एक्ट पास किया, जिसके अन्तर्गत मजिस्ट्रेट या कलक्टर को यह अधिकार दिया गया था कि वे देशी भाषाओं में प्रकाशित होने वाले समाचार पत्रों के प्रत्येक सम्पादक से या तो यह लिखित ले लें कि वे अपने पत्रों में कोई ऐसी बात न छापेंगे जिससे अंग्रेजी सरकार के विरुद्ध जनता में रोष या द्वेष फैले और भारत की भिन्न-भिन्न जातियों या धर्मावलम्बियों में वैमनस्य पैदा हो या उनको कहें कि प्रकाशित होने से पहले वे अपने समाचार पत्रों के प्रूफ एक विशेष सरकारी अफसर को दिखावें। सच है विदेशी शासन और स्वतन्त्र प्रेस का साथ नहीं होता। इसका बड़ा विरोध हुआ और वाइसराय की कौंसिल के भी कतिपय सदस्यों ने कहा कि कुछ

सम्पादकों द्वारा विष-वमन करना इस प्रकार के विरोधी कानून का आधार नहीं बनाया जाना चाहिए। इस कानून के बनाने का तात्पर्य यह होगा कि भारत की अंग्रेजी सरकार अपनी आलोचना सहन नहीं कर सकती और उससे डरती है तथा अंग्रेजी और हिन्दुस्तानी प्रेस में इस प्रकार भेद करने का परिणाम बहुत बुरा होगा। विरोधी पक्ष की इन आलोचनाओं में एक बड़ा तथ्य निहित था, परन्तु वाइसराय ने कहा कि अंग्रेजी तथा हिन्दुस्तानी प्रेस के भेद का आधार जाति का रंग नहीं है, क्योंकि कुछ अंग्रेजी समाचारपत्रों का सम्पादन भारतीय लोगों के हाथ में है। एकट् पास हुआ परन्तु अधिक दिन जीवित नहीं रह सका, क्योंकि चार वर्ष पश्चात् लिटन के उत्तराधिकारी लार्ड रिपन ने इसको रद्द कर दिया।

लार्ड लिटन पर आलोचनात्मक दृष्टि :—आधुनिक काल में जितनी कड़ी आलोचना लार्ड लिटन की हुई है उतनी और किसी की नहीं हुई। इसके कारणों के लिए हमको अधिक खोज करने की आवश्यकता नहीं। उसकी अफगान नीति की भर्त्सना इंग्लैंड में सरकार ने, उदार-दल ने और अधिकांश जनता ने की। उसके स्वामी लार्ड सेलिसवरी तथा लार्ड चीकन्सफील्ड ने भी अन्तिम दिनों में उसकी भरपेट निन्दा की। सेलिसवरी ने तो यहाँ तक कह दिया था कि “यदि उसको लगाम नहीं लगाई गई तो वह हमारे ऊपर अत्यंत भयङ्कर संकट ला देगा।” उसने खैबर दर्रे पर अधिकार और मिशन का भेजना इंग्लैंड की सरकार की आज्ञा के विरुद्ध किये थे। निस्सन्देह यह लिटन की बड़ी भारी विनाशकारी तथा अनैतिक भूल थी और इसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि वह राजनीतिज्ञ नहीं था। १८७८-८० के दुर्भिक्ष में लाखों मनुष्यों का काल-कवलित हो जाना, प्रेस की स्वतन्त्रता का अपहरण करना, युद्ध-व्यय का त्रुटिपूर्ण अनुमान तथा हिसाब लगाना आदि सब ऐसी बातें थीं जिनके आधार पर उसकी बड़ी आलोचना की गई। परन्तु उसके पत्रों आदि के पढ़ने से यह भान होता है कि वह साधारण मनुष्यों से भी ऊपर था। उसमें जल्दबाजी और भावुकता का प्राबल्य था। वह कुछ ऐसे कार्य भी करना चाहता था जिनको वह उपयुक्त समय न होने के कारण नहीं कर सका। वह भारतवर्ष की आर्थिक व्यवस्था में स्वर्ण-स्तर आरम्भ करना चाहता था और यदि उस समय यह परिवर्तन कर दिया जाता, जब चाँदी का मूल्य गिरना आरम्भ हो रहा था,

तो भारत एक बड़ी आर्थिक सति से बच सकता था। वह उत्तरी-पश्चिमी सीमान्त प्रदेश का एक पंजाब से पृथक् प्रान्त बनाना चाहता था जिस पर केन्द्रीय सरकार का नियन्त्रण रहे। इसी कार्य को लार्ड कर्जन ने बाद में चलकर पूरा किया। वाइसराय को सलाह देने के लिए वह भारतीय राजाओं की एक प्रिवी कौंसिल बनाना चाहता था। यदि यूरोपियन अपने भारतीय सेवकों पर अत्याचार करते तो उनको अत्यन्त हलका दण्ड दिया जाता था, इस प्रथा को भी वह बन्द करना चाहता था। परन्तु संसार मनुष्य को 'उसने क्या किया' के आधार पर आँकता है, इस आधार पर नहीं कि 'वह क्या करना चाहता था'। और इस आधार पर लार्ड लिटन का शासनकाल किसी भी प्रकार से अच्छा नहीं कहा जा सकता। साम्राज्यवादी एवं अनुदार दल का प्रतीक होने के नाते वह भारतीय हितों से पराङ्मुख था। भारत के वास्तविक हित का तो अब तक किसी भी वाइसराय ने ध्यान नहीं रक्खा था, फिर लिटन तो था डिजरायले का चेला, जो बहर साम्राज्यवादी था।

उनतीसवाँ अध्याय

लार्ड रिपन तथा वैधानिक सुधार

गत अध्याय में यह देखा जा चुका है कि अफगान समस्या का उचित निपटारा करने और वहाँ पर समुचित व्यवस्था करने के विचार से लार्ड रिपन को भारत का वाइसराय बनाकर भेजा गया था। अफगानिस्तान में व्यवस्था हो जाने के पश्चात् लार्ड रिपन के सामने परराष्ट्र-नीति की कोई गम्भीर समस्या नहीं थी। उसकी रुचि राजनैतिक तथा सामाजिक सुधारों की ओर विशेष रूप से थी। निस्सन्देह रिपन अब तक जैसे वाइसराय आये थे उनसे भिन्न था और लिटन का तो वह लगभग विपर्यय ही था। वह ग्लेडस्टन काल का सच्चा उदारदलीय था और उसको शान्ति, व्यक्तिवाद तथा स्वराज्य के गुणों में पूर्ण श्रद्धा तथा विश्वास था। अब तक भारत को यदि कोई भौतिक लाभ पहुँचा था तो उसका श्रेय केवल प्रबुद्ध कर्मचारियों को ही है, परन्तु इन लोगों का कार्य परिश्रम करना होता है, नीति का प्रतिपादन करना नहीं होता। ये लोग राजनीतिक बखेड़ों से दूर रहने के कारण 'स्वराज्य

का पाठ नहीं पढ़ा सकते थे।' वाह रे दुर्भाग्य ! जिस भारत में यूरोप का प्रजातन्त्र तथा स्वराज्य का जन्म होने से शताब्दियों पूर्व प्रजातन्त्र की सफल प्रथाएँ प्रचलित हो चुकी थीं, वहाँ की जनता को स्वराज्य का पाठ पढ़ाना था। 'परमात्मन् ! हमको हमारे मित्रों से बचा।' वर्क ने कहा था कि "भारत में अंग्रेज जाति अफसरों के उत्तराधिकार की पाठशाला के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। बिना प्रजा के वह एक प्रजातन्त्र राज्य है। वह एक राज्य है जिसमें केवल मजिस्ट्रेट ही रहते हैं।" १८७१ में सर राबर्ट मोन्टगोमरी ने कहा, "भारत में हम वहाँ की जनता को एकदम अलग कर देते हैं; हम किसी बात को निर्णय करते हैं, और कहते हैं कि ऐसा करना लाभदायक होगा और फिर उनसे बिना कुछ पूछे उसको कर डालते हैं।" भारत-वर्ष के उन लोगों में, जिन्होंने अंग्रेजी ढंग की शिक्षा प्राप्त की थी, अपने देश के शासन में सक्रिय भाग लेने की भावना प्रबल हो उठी थी और वे अपने देश में वैधानिक एवं प्रतिनिधि शासन के स्वप्न देखने लगे थे। ऐसा करना उनके लिए स्वाभाविक ही था।

इन मनुष्यों की महत्वाकांक्षाओं से रिपन को सहायुभूति थी और उसने कुछ करने का निश्चय किया। अधिकांश अफसरों ने उसकी धारणाओं का विरोध किया और इस सम्बन्ध में अब भी मतभेद है कि उसकी नीति के परिणाम हितकर सिद्ध हुए या हानिकारक। भारत के शासकों के एक दल-विशेष की दृष्टि में लार्ड रिपन अतिशीघ्रता के साथ और बहुत दूर तक जाना चाहता था। उनका कहना था कि जिन संस्थाओं को सुचारु रूप से चलाने के लिए उनके जन्म देश में भी बड़े व्यवहारिक अनुभव तथा शिक्षा की आवश्यकता होती है उनको भारत जैसे देश में, जहाँ पर उनका लेशमात्र भी अनुभव किसी को नहीं है, उखाड़ कर लगा देना बुद्धिमान की बात न होगी। इसके अतिरिक्त कुछ थोड़े-से पढ़े-लिखे मनचले आदमियों की बातों में आकर अधिकांश जनता की उपेक्षा करना अच्छी नीति सिद्ध नहीं हो सकती।

परन्तु इन कतिपय अंग्रेजों ने अनुभव किया कि अब इस दिशा में कुछ प्रगति करना अत्यन्त आवश्यक था। उनका कहना था कि इन भारतवासियों को हम ही ने शिक्षित किया है और उनके अन्दर ये भावनाएँ हमारे ही कारण पैदा हुई हैं और इसलिए उनको सदा ही इस पूर्ण दासत्व की दशा

में रख कर हम अपनी नीति का, नन नहीं कर सकते।” अपने इन विचारों में रिपन को ऐसे स्थानों से भी कभी-कभी सहायता मिली, जहाँ से इसके मिलने की कभी आशा नहीं की जा सकती थी। १८८० में लार्ड ब्रुक ने लिखा था, “भारतीय जनता के साथ सच्ची सहानुभूति रखने वाले मनुष्य अफसरों में पैदा नहीं होते।” फिर १८८४ में उसने लिखा था कि “.....सिविल सर्विस के आदमियों ने.....अपने मस्तिष्क में यह दृढ़ विचार कर लिया है कि एक अंग्रेज के अतिरिक्त और कोई आदमी किसी काम को नहीं कर सकता.....।” नई नीति के विरोधियों के विरोध के चाहे और भी कारण हों परन्तु एक कारण यह भी था कि शासन-प्रबन्ध के कार्य को अनुभवी कर्मचारियों या अफसरों के हाथ से निकाल अनुभव-शून्य निर्वाचित समितियों के हाथ में देने से कार्यक्षमता के अभाव में लाभ की अपेक्षा हानि की अधिक सम्भावना थी। विरोधियों का कहना था कि रिपन ने समस्या के इस पक्ष पर दृष्टिपात नहीं किया। परन्तु उसने इसकी उपेक्षा नहीं की थी। वह इसका सामना करने के लिए तैयार था। उसके एक सुधार-बिल का प्रस्ताव इस प्रकार था, “शासन-प्रबन्ध में उन्नति के विचार से नहीं, वरन् जनता में राजनीतिक एवं सार्वजनिक शिक्षा के प्रसार के दृष्टिकोण से इस प्रस्ताव को रक्खा गया है।” प्रजातंत्र शासन में पूर्ण श्रद्धा रखने के कारण वह चाहता था कि भारतवासी अनुभव की कठिन पाठशाला में स्वराज्य का पाठ ग्रहण करें।

चुंगी तथा आय-कर सम्बन्धी सुधार :—लार्ड रिपन के शासनकाल में देश की आर्थिक स्थिति ऐसी थी कि उसमें आन्तरिक सुधारों के प्रयोग सुगमता से किये जा सकते थे। सर जान स्टूची के कार्यों के परिणामस्वरूप अंग्रेजी सरकार की आय बढ़ गई थी और चार वर्ष तक समृद्धि का काल रहा। भारतीय बजट में अब घाटे के स्थान पर बचत होने लगी थी। कुछ वर्ष पश्चात् स्थिति इतनी अच्छी नहीं रही, क्योंकि दुर्भिक्ष, महामारी, विनिमय दर के गिर जाने और सैनिक व्यय के बहुत अधिक बढ़ जाने के कारण भारत का कोष खाली हो गया था। इस स्थिति और अवसर से लाभ उठाकर रिपन की सरकार ने स्वतन्त्र व्यापार नीति को, जिसको नौरथ ब्रुक ने आरम्भ किया था और लिटन ने उन्नति दी थी, पूरा किया। मूल्य पर पाँच प्रतिशत का आयात-कर १८८२ में उठा दिया गया। इसी वर्ष नमक-

कर भी कम कर दिया गया। परन्तु भूमि-कर को लार्ड रिपन कम नहीं कर सका। १८८३ में जैसा कि पहले अध्यायों में वर्णन किया जा चुका है समस्त भारतवर्ष में स्थायी बन्दोबस्त स्थापित करने का प्रस्ताव, जो इंग्लैंड की सरकार के सामने गत बीस वर्षों से था, अन्तिम रूप से उठाकर रख दिया गया था। लार्ड रिपन ने अब यह प्रस्ताव रक्खा कि उन प्रान्तों में जहाँ जांच पड़ताल हो चुकी थी और लगान की दर नियत कर दी गई थी, वहाँ पर सरकार को यह प्रण करना चाहिए कि उनका भूमि-कर उस समय के अतिरिक्त, जब वस्तुओं का मूल्य बढ़ेगा, कभी नहीं बढ़ाया जायगा। यह प्रस्ताव निस्सन्देह अच्छा था, परन्तु सेक्रेटरी आफ स्टेट ने इसको स्वीकृत नहीं किया।

शासन-सम्बन्धी तथा आर्थिक नियन्त्रण का विकेन्द्रीकरण :-

इस सम्बन्ध के सुधार सबसे अधिक महत्वपूर्ण थे और रिपन का शासन-काल इनके ही कारण लोगों को याद है। उन सब का संक्षिप्त वर्णन भी करना कठिन कार्य है; परन्तु इतना कहा जा सकता है कि इनके द्वारा जनता को स्थानीय तथा नागरिक शासन में अपने कार्यों को स्वयं करने और उनकी देख-रेख रखने का अपेक्षाकृत अधिक भाग मिल गया। भूमि-कर सम्बन्धी शासन की छोटी ईकाई 'तहसील' या 'ताल्लुका' से आरम्भ करके स्थानीय संस्थाओं की एक परिपाटी स्थापित की गई। इन समितियों को ऐसे राजस्व का प्रबन्ध करने का अधिकार दिया गया जिसको प्रांतीय सरकारें यह समझती थीं कि ये समितियाँ इनका उचित प्रबन्ध कर सकती हैं। बड़ी २ समितियों को सार्वजनिक भवन, शिक्षा तथा अन्य ऐसे ही सार्वजनिक हित के कार्य सुपुर्द किए गए थे। जहाँ सम्भव था वहाँ इन समितियों के सदस्यों के निर्वाचन का नियम रक्खा गया था। निर्वाचन वे ही मनुष्य कर सकते थे जो कुछ 'कर' देते थे। अधिकतर अब भी सरकार द्वारा सदस्यों के मनोनीत किए जाने की प्रथा थी। अंग्रेजी शासन-काल में भी निर्वाचन की प्रथा कोई नई नहीं थी। १८७२ में बम्बई की म्यूनिस्पल बोर्ड में निर्वाचन का नियम लागू किया गया था और इसके पश्चात् अन्य प्रेजीडेन्सी नगरों में भी इसका प्रचार किया गया था; परन्तु अब इस नियम का बड़े पैमाने पर प्रयोग किया गया। अनेकों नगरों की इन संस्थाओं को स्वतन्त्र रूप से अपने प्रधान चुनने का अधिकार दे दिया गया था। अब से पहले प्रधान के स्थान पर एक एक्जी-

क्यूटिव अफसर होता था जिसको सरकार मनोनीत करती थी। आ आर० नाथन के शब्दों में “लार्ड रिपन की सरकार की यह नीति थी कि म्यूनिस्पल मामलों में आन्तरिक हस्तक्षेप के स्थान पर बाह्य नियन्त्रण स्थापित किया जाय।” परन्तु उस समय कुछ नियन्त्रण आवश्यक था और कदाचित् आज भी है। स्वतन्त्र संस्थाओं की कार्यप्रणाली का ज्ञान अल्प-काल में प्राप्त नहीं किया जाता। म्यूनिस्पल बोर्डों के कुछ कर्त्तव्य होते हैं। उनसे इस बात की आशा की जाती है कि वे अन्य कुछ दूसरे सा जनिक हित के कार्य करने के लिए प्रोत्साहित हों। उनको कुछ आर्थिक अधिकार भी दिये जाते हैं और उन पर बहुधा जिलाधीश या कमिश्नर का नियन्त्रण होता है। सरकार को इन संस्थाओं के निरीक्षण, उपेक्षित कर्त्तव्यों के पूरा करने, तथा गम्भीर अपराध पर उनका अन्त तक कर देने का अधिकार होता है।

प्रेस की स्वतन्त्रता :—लार्ड लिटन के शासन-प्रबंध का वर्णन करते हुए यह बतलाया गया कि उसने हिन्दुस्तानी प्रेस पर बड़ा प्रतिबंध लगा दिया था। लार्ड रिपन ने लिटन के वर्नाक्यूलर प्रेस एक्ट को रद्द कर दिया। इसके द्वारा भारतीय भाषाओं के समाचार-पत्रों को भी स्वतन्त्रता प्राप्त होगई और अनेक सामाजिक एवं राजनीतिक समस्याओं तथा प्रश्नों पर टीका-टिप्पणी कर सकते थे। परन्तु वास्तविक अर्थ में तो प्रेस को ब्रिटिश साम्राज्य के अन्त होने तक पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त न हो सकी। एल्फिंस्टन ने बिल्कुल सत्य कहा था कि—“स्वतन्त्र प्रेस तथा विदेशी शासन कभी साथ २ नहीं चलते।”

शिक्षा :—इस बात की जांच करने के लिए कि १८५४ के कोर्ट आफ डाइरेक्टर्स के पत्र के सम्बन्ध में शिक्षा के क्षेत्र में क्या कुछ किया गया है और हो रहा है। डबल्यू. डबल्यू. हयटर की अध्यक्षता में बीस सदस्यों का एक कमीशन बिठाया गया। कमीशन ने अपनी रिपोर्ट में लिखा कि देश में प्राइमरी तथा माध्यमिक स्कूलों की सर्वथा उपेक्षा की गई है और यूनिवर्सिटी शिक्षा की ओर अपेक्षाकृत अधिक ध्यान दिया जाता रहा है। परिणाम स्वरूप प्राइमरी एवं माध्यमिक शिक्षा में उन्नति करने और ऐसे स्कूलों की संख्या में वृद्धि करने के लिए नियम बनाये गये।

संरक्षित रियासतें :—१७६६ में लार्ड वेलेज़ली ने मैसूर राज्य को जीत कर वहाँ पर एक हिन्दू बालक को राजा बना दिया था। १८३१ में

लार्ड विलियम वैटिक ने राजा को पदच्युत करके रियासत का शासन-प्रबंध ग्रंथेजी सरकार के हाथ में दे दिया था। १८६७ में लार्ड लारेंस ने रियासत को वापस न्याय्य राजा को देने का निश्चय किया था, परन्तु कारणवश ऐसा न हो सका। इसी वर्ष पदच्युत राजा का देहान्त हो गया था और यह निश्चित किया गया था कि जब मृत राजा का दत्तक पुत्र वयस्क होगा तो उसका राज्य उसको वापस कर दिया जायगा। १८८१ में यह वचन पूरा किया गया। लार्ड रिपन ने बड़ी सज्जधज के साथ राजा का राज्याभिषेक किया परन्तु सुशासन के लिए उसको कड़ी चेतावनी दी। राज्य के सब प्रचलित नियमों का पालन करने और उनको योग्यता के साथ कार्यान्वित करने का राजा को आदेश दिया गया। उससे कहा गया कि गवर्नर जनरल तथा उसकी कौंसिल की अनुमति के बिना शासन-प्रणाली में कोई बड़ा परिवर्तन न किया जाय, राज्य में भूमि-कर की व्यवस्था यथावत् चलनी चाहिए और राजा को शासन प्रबन्ध-सम्बन्धी गवर्नर जनरल की सहसलाहों का स्वीकार करना मान्य होगा।

सामाजिक सुधार :—भारत के कारखानों में काम करने वाले श्रमजीवियों की दशा सुधारने के लिए कानून बनाने की प्रथा आरम्भ की गई। १८८१ में एक नियम पास किया गया जिसके अनुसार सात से बारह वर्ष तक के बच्चे दिन में ६ घंटे से अधिक काम नहीं कर सकते थे। इस एक्ट के अनुसार कारखानों में निरीक्षक भी नियुक्त किये गये और भयानक मंशीनों के ऊपर बाड़ लगाकर मज़ादूरो की सुरक्षा का प्रबंध किया गया। १८८३ में भारत सरकार के समस्त जाति-भेद की कठिन समस्या आ उपस्थित हुई। १८७३ में जावता फौजदारी के अन्तर्गत यह नियम बनाया गया था कि यूरोपियन लोगों के मुकदमे केवल यूरोपियन न्यायाधीश ही कर सकते थे, यद्यपि प्रेज़ीजेन्सी नगरों में यह नियम लागू नहीं था। १८८३ में कुछ भारतवासी मजिस्ट्रेट या सेशन जज बन सकते थे और यह बात बड़ी अन्यायपूर्ण प्रतीत होती थी कि उनको वह अधिकार प्राप्त न हों जो उनके यूरोपियन साथियों को प्राप्त थे। इसलिए भारत की ग्रंथेजी सरकार ने “जाति-भेद पर आश्रित इस भेद-भाव” को मिटाने का निश्चय किया। सी० पी० इलवर्ट ने इस आशय का एक बिल तैयार किया। यद्यपि इस परिवर्तन का प्रभाव कतिपय भारतीयों पर ही पड़ता था और यूरोपियनों के मुकदमे

भारतीयों द्वारा प्रेजीडेन्सी नगरों में होने से अब तक कोई बुराई नहीं हुई थी, तो भी भारतवर्ष में रहने वाले यूरोपियनों में एक सनसनी फैल गई और चारों ओर भयंकर विरोध की ध्वनि आने लगी। भारतीय जनमत, स्वाभाविक रूप से बिल के पक्ष में था। दोनों विरोधी दलों में शत्रुता तथा बुरी भावना का प्रादुर्भाव हुआ। इस सुधार का केवल भारत में रहने वाले यूरोपियनों ने ही विरोध नहीं किया वरन् सभी सिविल सर्विस के आदमियों ने किया था (हमको याद रखना चाहिए कि सिविल सर्विस में उस समय 'गौरांग महाप्रभु' ही अधिकतर थे)। लार्ड रिपन का बड़ा भारी अपमान किया गया। एक प्रकार से उसके देशवासियों ने, जिनका सरकार से कोई सम्बन्ध नहीं था, उसका बहिष्कार कर दिया और उससे मिलना-जुलना सब बन्द कर दिया था। अन्त में गोरी चमड़ी वालों की विजय हुई और होती भी क्यों नहीं, उनका राज्य था। गवर्नर जनरल को बवण्डर के सामने झुकना पड़ा। यह निर्णय हुआ कि प्रत्येक यूरोपियन अपराधी को, जो किसी जिला जज या सेशन जज के सामने उपस्थित किया जाय (न्यायाधीश भारतीय हो या यूरोपियन हो), इस बात का अधिकार है कि वह अपने अभियोग का निर्णय करने के लिए ज्यूरी या पंचों की मांग कर सकता है; जिनमें से आधे या तो यूरोप निवासी या अमरीकन होने चाहिए। क्योंकि भारतवासियों को ऐसी मांग करने का अधिकार नहीं दिया गया था इसलिए यूरोपियनों की स्थिति उनकी अपेक्षा उच्च थी और रिपन का न्याय के क्षेत्र में गोरे काले का भेद मिटाने का प्रयत्न सर्वथा निष्फल गया। यद्यपि अपने देशवासियों में इस प्रस्ताव के कारण रिपन की सर्वप्रियता कम होगई थी, परन्तु भारतवासियों में उसकी सर्वप्रियता बहुत बढ़ गई थी। १८८४ में जब वह त्याग-पत्र देकर इंग्लैण्ड को चला तो मार्ग में बम्बई तक भारत-वासियों ने बड़ी संख्या में एकत्रित होकर उसको विदाई दी और आज भी भारतवासी उसको प्रेम तथा श्रद्धा के साथ याद करते हैं।

तीसवाँ अध्याय

लार्ड डफरिन तथा सीमांत नीति

लार्ड रिपन के पश्चात् लार्ड डफरिन भारत का गवर्नर जनरल तथा वाइसराय नियुक्त किया गया। इस पद को पाने के लिए उसको राजनीतिक

एवं कूटनीतिक पर्याप्त अनुभव था। जिस समय लारेंस भारत का वाइसराय था उस समय वह इंग्लैंड की केबिनेट में भारत का अण्डर सेक्रेटरी था (१८६४-६६) । १८७२-७८ तक कनाडा का गवर्नर जनरल रहा और इसके पश्चात् सेन्ट पीटर्स बर्ग तथा कुस्तुनतुनिया में राजदूत के पद पर तथा मिश्र में मुख्य कमिश्नर के पद पर रह चुका था । इस प्रकार उसको रूस तथा संसार की सबसे मुख्य मुसलमान शक्ति की आन्तरिक दशा और उनकी राजनीतिक एवं कूटनीतिक चालों का पर्याप्त ज्ञान था ।

डफरिन की गणना अपने काल के संसार के मुख्य कूटनीतिज्ञों में की जाती है । उसका व्यक्तित्व आकर्षक था और वह एक बड़ा सफल सुवक्ता भी था । इसलिए भारत में इलवर्ट विल के कारण पैदा हुई कड़वाहट को दूर करने के लिए वह सर्वथा उपयुक्त था । उसने इस त्रिकट परिस्थिति का सामना बड़े चातुर्य एवं प्रसन्न वदन से किया । परंतु उसने नश्चय कर लिया था कि व्यक्तिगत तथा सामाजिक अधिकारों का कोई भी प्रश्न राजनीतिक समस्या नहीं बनने दिया जायगा । डफरिन की 'महान् अकर्मण्यता' के सामने, जो सच्चे अर्थ में 'संसार का आदमी' था, जाति-भेद का तूफान स्वतः ही शान्त हो गया । परन्तु भारत का वाइसराय बनते समय वह बहुत बूढ़ा हो गया था और इसलिए वह नई नई योजनाओं का प्रतिपादन करना नहीं चाहता था । वह शासन की मशीन पर धीरे से हाथ रखे रखना चाहता था । अपने लम्बे राजनीतिक अनुभव के आधार पर उसने अपनी शासन-सम्बन्धी समस्याओं को संभाला परन्तु वृद्धावस्था के कारण अधिक परिश्रम करने की क्षमता उसमें नहीं थी, इसलिए अपनी अवधि को समाप्त होने के पूर्व ही चार वर्ष पश्चात् उसको अपने पद से मुक्त होने के लिए प्रार्थना करनी पड़ी ।

उसके शासन-काल में सीमान्त प्रश्न फिर जागृत हो उठे : एक वही पुराना उत्तरी-पश्चिमी सीमान्त का प्रश्न था और दूसरा धुर पूर्वी सीमा ब्रह्मा से सम्बद्ध था ।

अफगानिस्तान की समस्या :—कन्दहार की विजय के पश्चात् कठिन युद्ध करके अब्दुर रहमान ने अफगानिस्तान में अपनी शक्ति सुदृढ़ कर ली थी और अपनी प्रजा को व्यवस्था एवं आज्ञापालन का सफल पाठ पढ़ाया था । इस प्रकार अफगानिस्तान में सुदृढ़ शासन और शान्ति एवं

व्यवस्था की स्थापना अफगानिस्तान तथा भारत को अंग्रेजी सरकार दोनों के लिए ही हितकर थी; क्योंकि अब फिर रूसियों ने अफगानिस्तान की उत्तरी चौकियों की ओर बढ़ना आरम्भ कर दिया था। १८७६ में खोकन्द को रियासत को अन्तिम रूप से रूसी साम्राज्य में मिला लिया गया था। १८७६ में रूसी जनरल लोमकिन एक युद्धप्रिय जाति टेक्के टरकोमन से बुरी तरह परास्त हुआ परन्तु दो वर्ष पश्चात् उनको कुचल कर उनके प्रांतों को भी रूसी साम्राज्य का अङ्ग बना लिया गया। १८८४ में अफगानिस्तान की सीमा से १२० मील के अन्तर पर रूसियों ने सर्व पर अधिकार कर लिया। परिणामस्वरूप रूसी योजनाओं से अंग्रेज भयभीत हो गये और उनमें अब हलचल मचने लगी। इंग्लैंड में इस स्थान को बड़ा महत्व प्राप्त था और इसके रूसियों के हाथ में जाने पर देश में सनसनी फैल गई। परन्तु अन्त में यह अफगानिस्तान और भारत की अंग्रेजी सरकार दोनों के लिए ही बड़ा हितकर सिद्ध हुआ क्योंकि इसके कारण रूस और इंग्लैंड में अपेक्षाकृत अच्छा समझौता होगया और अफगान सीमा पहले की अपेक्षा अधिक सुनिश्चित होगई। परन्तु एक समय तो ऐसा प्रतीत होने लगा था कि भयंकर युद्ध हुए बिना नहीं रह सकता। लार्ड रिपन की सरकार ने पहले ही अफगानिस्तान की सीमा रेखा को सुनिश्चित रूप से निर्धारित करने के लिए सम्मिलित कमीशन के प्रस्ताव को स्वीकृत कर लिया था और लार्ड डफरिन के वाइसराय बनने से एक महीने पूर्व दोनों देशों के कमिशनरों की बैठक अक्टूबर के महीने में फारिस की सीमा पर सारखास में हो चुकी थी। हरीरूद और आक्सस नदियों के बीच की सीमा पर झगड़ा था। अंग्रेज कमिशनर जब सर पीटर लम्सडन की अध्यक्षता में वहाँ पहुँचे तो उन्होंने कान्फ्रेस का वातावरण बदला हुआ पाया। रूसी और अफगान लोग दोनों 'कब्जा सच्चा झगड़ा झूठा' वाली कहावत के अनुसार विवाद-ग्रस्त प्रान्त के यथासम्भव भाग पर अधिकार करने का प्रयत्न कर रहे थे और प्रत्येक स्थान पर अपनी २ चौकियों को आगे बढ़ा रहे थे।

सबसे अधिक झगड़ा पञ्जदेह के ऊपर था। यह एक गाँव तथा एक जिला था जो सर्व से १०० मील सीधा इज्मिण की ओर है और जहाँ पर मुर्गाव तथा कुष्क नदियाँ मिलती हैं। कमिशनर लोग लन्दन तथा सेंट पीटर्सबर्ग के पर, राष्ट्र-विभागों के अधीन थे और भारत की सरकार या

तुर्कीस्तान के गवर्नर जनरल का उन पर कोई नियन्त्रण नहीं था। इंग्लैंड की सरकार अफगान मांग के औचित्य का अब तक निश्चय नहीं कर सकी थी और लन्दन-स्थित रूसी राजदूत से अब तक बातचीत चल रही थी। डफरिन को भारत की अंग्रेजी सरकार के हितों के अतिरिक्त अब्दुर रहमान के लिए भी कार्य करना पड़ता था जिसको अल्फ्रेड लायल के शब्दों में “दोनों विदेशी शक्तियों के उद्देश्यों तथा कार्यों के प्रति अविश्वास रखने के लिए दोषी नहीं ठहराया जा सकता...”।

पञ्जदेह का प्रश्न:—रूसी जनरल कोमरौफ़ ने जो असभ्य एवं क्रोधी था, पञ्जदेह की ओर प्रस्थान किया। जब वह वहाँ पहुँचा तो उससे देखा कि कुछ अफगान सैनिक वहाँ पर अपना अधिकार जमाये हुये थे। अब तक जितने सबूत मिल पाये हैं, उनसे यही सिद्ध भी होता है कि पञ्जदेह अफगान अमीर के राज्य में सम्मिलित था। कोमरौफ़ ने अफगान सैनिकों को शहर खाली करके चले जाने के लिए कहा और उनके इन्कार करने पर उन पर आक्रमण कर दिया तथा भारी क्षति के साथ निकाल बाहर किया। अब स्थिति बड़ी नाजुक तथा संकटपूर्ण हो गई थी। एक ओर रूस कैस्पियन के उस पार से अपने अधिकार को प्राप्त करने के लिए सेनाएं अफगानिस्तान की ओर भेज रहा था और दूसरी ओर भारत की अंग्रेजी सरकार क्वेटा के निकट एक विशाल सेना एकत्रित कर रही थी जहाँ से उसको रूस के साथ युद्ध आरम्भ हो जाने पर शीघ्रता और सुगमता से भेजा जा सके। युद्ध की सम्भावना सुदृढ़ होती जा रही थी क्योंकि हिरांत पञ्जदेह से केवल १२० मील दक्षिण की ओर था। इस प्रकार एक भयंकर युद्ध का पूरा सामान तैयार हो रहा था और ऐसा प्रतीत होने लगा था कि रूसी तथा ब्रिटिश साम्राज्य में वह भयंकर युद्ध अवश्य आरम्भ होगा जिसकी भविष्य वाणी लार्ड लारेंस ने अफगान सीमा के साथ हस्तक्षेप करने के दण्ड स्वरूप की थी। निःसन्देह जिस समय पञ्जदेह के झगड़े का समाचार इंग्लैंड पहुँचा, उस समय वहाँ पर कदाचित् ही कोई ऐसा आदमी हो जिसको युद्ध के टल जाने की सम्भावना हो। देश में सनसनी फैल गई। कब्जरवेटिव दल ने कठोर कार्यवाही करने की जोरदार मांग की और उदार दलीय प्रधान मन्त्री डेलडस्टन ने भी, जिसकी दृष्टि में स्थिति अत्यन्त गम्भीर थी, लगभग १ करोड़ पौंड की स्वीकृति युद्ध-व्यय के लिए ले ली थी।

परन्तु डफरिन की कूटनीति और अफगान अमीर अब्दुर रहमान के चातुर्य के कारण इस विनाशकारी युद्ध की सम्भावना टल गई। सौभाग्य से पञ्जदेह के ऋगड़े के समय अब्दुर रहमान रावलपिंडी में लार्ड डफरिन से भेंट करने आया हुआ था। अल्फ्रेड लायल के शब्दों में “अफगान लोग सीमावर्त्ती साधारण से ऋगड़े को ऐसा कोई विशेष महत्व नहीं देते कि जिसके लिए अनावश्यक परेशानी उठाई जाय।” जब पञ्जदेह की चर्चा चली तो अमीर ने वाइसराय से कहा कि निश्चय रूप से उसको यह पता नहीं था कि पञ्जदेह उसी के राज्य में था या नहीं और न उस पर आधिपत्य स्थापित करने की उसकी कोई उत्कट अभिलाषा थी। और यदि उसको जुलफिकर, जो लगभग ८५ मील पश्चिम की ओर था, मिल जाय तो वह पञ्जदेह से कोई सरोकार नहीं रखेगा। अब्दुर रहमान के धैर्य ने स्थिति को बिगड़ने से संभाल लिया और कहना होगा कि जितनी आर्थिक सहायता अंग्रेजों ने अब तक उसकी की थी उससे कहीं अधिक लाभ उसके द्वारा अब उनको हो गया था। उसने एक सच्चे राजनीतिज्ञ की भांति रूस और ब्रिटेन के विनाशकारी युद्ध से स्वदेश को नष्ट भ्रष्ट होने से बचा लिया। क्योंकि निसन्देह यदि युद्ध होता तो अफगानिस्तान रणक्षेत्र अवश्य बन जाता। उसका कहना था कि “अफगानिस्तान चक्की के दो पाटों के बीच में था और पहले ही उसका पिस कर चूर्ण बन गया था।” बाद में उसने अपने आत्म-चरित्र में एक और सुन्दर उपमा की सहायता लेकर लिखा था “मेरा देश एक दीन बकरी की भाँति है जिस पर शेर (इंग्लैंड) और भालू (रूस) दोनों ने दृष्टि लगा रखी है और सर्वशक्तिमान् उद्धारक (परमात्मा) की रक्षा और सहायता के बिना शिकार (बकरी) अधिक काल तक बच नहीं सकता।”

इसलिए लार्ड डफरिन ने इंग्लैंड को तार दिया कि पञ्जदेह को युद्ध का कारण बनाने की आवश्यकता नहीं है और सीमा कमिशन को अपना कार्य आरम्भ करने का सुझाव रखा। इसलिए यद्यपि पीटर लम्सडन को वापिस बुला लिया गया था, तो भी वेस्ट रिजवे ने अपना कार्य चालू रखा। काबुल, शिमला और लन्दन के बहुत दिन तक पत्र-व्यवहार के पश्चात् जौलाई १८८७ में अफगानिस्तान तथा रूस का सीमा सम्बन्धी ऋगड़ा समाप्त हो गया और दोनों देशों के बीच सीमा-रेखा

अन्तिम रूप से निश्चित कर दी गई जिसको दोनों देशों ने एक समझौते पर हस्ताक्षर करके स्वीकृत कर लिया। वह निपटारा बड़ा महत्वपूर्ण था। रिजवे के कथनानुसार अमीर को नई सीमा के निर्धारित होने से एक एकड़ जमीन या एक भी आदमी या एक भी पैसे की राजस्व में हानि नहीं उठानी पड़ी। इस नई सीमा के निर्धारण ने रूस की हिरात की ओर की प्रगति पर प्रतिबन्ध लगा दिया। हिरात उत्तर-पश्चिम की ओर से भारतवर्ष की कुञ्जी माना जाता है। परन्तु पूर्व में पामीर पठार की ओर रूसियों की प्रगति बराबर जारी रही और उसको रोकने के लिए १८६५ में इंग्लैंड तथा रूस में एक और समझौते पर हस्ताक्षर किये गये। इस प्रकार हिन्दुकुश पर्वत और ऑक्सस नदी पर सीमा-स्तम्भ खड़े करके रूस और इंग्लैंड ने एशिया में अपने बढ़ते साम्राज्यों को एक दूसरे से टकराने से बचाने का प्रयत्न किया।

युद्ध तो टल गया था परन्तु इसका प्रभाव भारत के कोष पर पड़े बिना नहीं रहा। क्योंकि भयंकर युद्ध होने की सम्भावना भी इसलिए शीघ्रता से उसके लिए बड़ी भारी तैयारी करनी पड़ी और इस प्रकार २० लाख की हानि भारतवर्ष के कोष को उठानी पड़ी। इतना ही नहीं इसके पश्चात् भारतीय तथा यूरोपियन दोनों सेनाओं की संख्या में वृद्धि की गई जिसके कारण व्यय और भी बढ़ गया। जब युद्ध की आशंका बहुत बढ़ रही थी तो देशीय राजाओं ने भी अपनी २ सेनाएं अंग्रेजी सरकार की सेवा में अर्पित कीं जिसके कारण इम्पीरियल सर्विस ट्रूप (साम्राज्य सेवा सेना) की स्थापना १८८६ में हुई। इस सेना की भर्ती संरक्षित राज्यों में होती थी, इसके अफसर भी भारतीय होते थे परन्तु निरीक्षण ब्रिटिश कमाण्डरों के हाथ में था।

जिस समय अब्दुर रहमान १८८५ में रावलपिंडी में लार्ड डफारिन से भेंट करने के लिए आया तो वाइसराय के व्यक्तिगत आकर्षण तथा नीति-चातुर्य का उस पर वैसा ही प्रभाव पड़ा था जैसा मेयो का शेर अली पर; परन्तु जिस प्रकार शेर अली अपने देश के अंग्रेज सैनिकों का अफसरों को दूर रखने के प्रश्न पर दृढ़ था, वैसे ही अब्दुर रहमान भी था। डफरिन ने हिरात की निर्बल किलेबन्दी की आलोचना करते हुए अंग्रेज इन्जीनियर भेजने का प्रस्ताव रक्खा जिससे उनको सुदृढ़ बनाया जा सके परन्तु इस

प्रस्ताव को अमीर स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं था क्योंकि इससे अफगान लोग यह समझते कि उनकी स्वाधीनता पर आक्रमण किया जा रहा था और इसका परिणाम बुरा होता। लार्ड डफरिन अमीर की बात को भली प्रकार समझ गया और उसने अपने प्रस्ताव पर लिटन की भांति अधिक जोर नहीं दिया क्योंकि वह जानता था कि अफगान जाति को स्वाधीनता प्रणों से भी अधिक प्रिय है तथा बाह्य हस्तक्षेप उनको किसी मूल्य पर भी सह्य नहीं है। कान्फ्रेंस के पश्चात् अब्दुर रहमान अपने प्रति दिखाये गये सम्मान से सन्तुष्ट और भारत की सैनिक शक्ति से प्रभावित होकर तथा वाइसराय के प्रति अपने हृदय में मैत्री की सद्भावना लेकर वापिस स्वदेश को लौटा।

ऊपरी ब्रह्मा की विजय:—लार्ड डफरिन के शासनकाल में बर्मा को पूर्णतया विजय किया गया। ब्रह्मा की पहली तथा दूसरी लड़ाई (१८२६ तथा १८५२) के फलस्वरूप, जिनका पहले ही यथोचित स्थान पर उल्लेख किया जा चुका है, अराकान, टनासरिम और पीगू प्रान्तों को भारत साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया गया था। अंग्रेज व्यापारियों के कारण ब्रह्मा निवासियों को बड़ी आर्थिक हानि उठानी पड़ती थी इसलिये वे अब अंग्रेजों को और अधिक व्यापारिक सुविधाएं देने को तैयार नहीं थे। १८७८ में थीवो वहां का राजा बना। वह एक कठोर निरंकुश शासक था। उसने ब्रिटिश राजदूत की इतनी पर्वाह नहीं की जितनी कि उसको अंग्रेजों की आशा थी। परिणाम स्वरूप १८७९ में अंग्रेजी सरकार ने अपने प्रतिनिधि को वापस बुला लिया। १८८२ में थीवो के साथ नई सन्धि करने के प्रयत्न किये गये परन्तु कोई परिणाम न निकला। रंगून और निम्न ब्रह्मा अंग्रेज व्यापारी थीवो के राज्य को अंग्रेजी साम्राज्य में मिलाने के लिए पृथ्वी और आकाश एक कर रहे थे। राजा परन्तु यह भी अपराध लगाया गया कि वह अपनी प्रजा पर अत्याचार करता है, परन्तु ब्रह्मा पर आक्रमण का एक मात्र कारण अंग्रेजी व्यापारियों के हित का साधन प्रतीत होता है। इसी बीच थीवो ने जर्मनी, इटली और विशेषकर फ्रान्स के साथ व्यापारिक सन्धि करने की बातचीत प्रारम्भ कर दी थी। फ्रान्स के हिन्द-चीन के उपनिवेश थीवो के राज्य से मिले हुए थे। एक स्वतन्त्र शासक के नाते किसी से भी सन्धि करने का उसको अधिकार था परन्तु सभ्यता की डींग

मारने वाले अंग्रेजों ने 'जंगल के नियम' को अपनाया और "जिसकी लाठी उसकी भैंस" वाली कहावत को चरितार्थ किया। १८८३ में ब्रह्मा का एक मिशन पेरिस गया था, जिसके फलस्वरूप एक फ्रेंच दूत १८८५ में मांडले पहुँचा। उसने मांडले में एक फ्रेंच बैंक स्थापित करने की योजना तैयार की और यद्यपि फ्रांस की सरकार ने इस बात से इन्कार किया कि उसको इस बात का पता था और अपने दूत को वापिस बुला लिया, परन्तु भारत की अंग्रेजी सरकार ने इस बात से लाभ उठाकर, कि ब्रह्मा सरकार ने एक अंग्रेज व्यापारिक कम्पनी पर जुर्माना कर दिया था, युद्ध की तैयारी कर दी। कहते हैं डफरिन ने मामले की जांच करने के लिये कहा परन्तु आवा के राजा इसको अस्वीकृत कर दिया। इस पर उसके पास यह चेलेंज भेजा गया कि वह अपनी राजधानी मांडले में एक ब्रिटिश दूत रखे, जब तक दूत वहाँ पहुँचे कम्पनी के विरुद्ध कार्यवाही स्थगित कर दे, भारत की सरकार की सम्पत्ति के बिना विदेशों से कोई बाह्य सम्बन्ध न रखे, तथा अंग्रेजों को अपने राज्य में होकर चीन के साथ व्यापार करने का अधिकार प्रदान करे। कोई भी स्वतन्त्र तथा आत्माभिमान शायद इन शर्तों को स्वीकार नहीं कर सकता। इसलिए ब्रह्मा सरकार ने इन शर्तों को स्वीकार करने से इन्कार कर दिया जब तक इनमें आवश्यक परिवर्तन न कर दिया जाय। और अंग्रेजों को चाहिए ही क्या था? रंगून में सेना पहले से ही एकत्रित कर ली गई थी। बस सेना को कूच की आज्ञा मिली और इरावदी नदी में होकर एक बड़ा बेड़ा जनरल प्रेन्डरगास्ट की अध्यक्षता में ऊपरी ब्रह्मा पर आक्रमण करने के लिए आगे बढ़ा। ब्रह्मा वाले युद्ध के लिए तैयार नहीं थे और इसलिए शत्रु के सैन्य बल को युद्ध के लिए जलकारते हुए देख कर उनको आश्चर्य हुआ और कोई विरोध नहीं कर सके। जब अंग्रेजी सेना उसकी राजधानी में पहुँची तो राजा ने आत्म-समर्पण कर दिया और इस प्रकार केवल दस दिन में युद्ध का प्रथम परिच्छेद समाप्त हो गया। पहली जनवरी १८८६ को ऊपरी ब्रह्मा ब्रिटिश साम्राज्य का एक अंग बना लिया गया और भारत-साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया गया।

ऊपरी ब्रह्मा पर विजय प्राप्त कर उसको साम्राज्य में सम्मिलित तो कर लिया गया था, परन्तु उस पर आधिपत्य स्थापित करने की विकट समस्या सामने थी। ब्रह्मा की जनता अंग्रेजों के इस व्यवहार से क्रत्यन्त

सुबह हो गई थी और उसने अन्त तक छापामार युद्धप्रणाली के द्वारा शत्रु को तंग करने का निश्चय कर लिया था। इसके फलस्वरूप अनेकों अंग्रेज सिविल तथा फौजी अफसरों की जान गई। बूढ़ा-निवासियों को कुचलने के लिए एक विशाल सेना भेजी गई और छुटपुट का युद्ध निरन्तर दो वर्ष तक चलता रहा। बूढ़ा के इस प्रान्त को अधीन करने के लिए अंग्रेजों को अनेकों दुर्गों का निर्माण करना पड़ा जिसमें से निकल कर 'चल दस्ते' विद्रोहियों पर आक्रमण करते थे। सर चार्ल्स बेनर्ड को वहां का चीफ कमिश्नर नियुक्त किया गया और धीरे २ देश में शान्ति स्थापित की गई और ब्रिटिश शासन की मशीन अपनी पूरी शक्ति के साथ वहां पर भी चालू हो गई।

चीन-साम्राज्य बर्मा के ऊपर एक अनिश्चित सार्वभौम सत्ता का अधिकार रखता था। इसलिए बर्मा की विजय के पश्चात् भारत की अंग्रेजी सरकार के चीन के साथ कूटनीतिक सम्बन्धों में कुछ परिवर्तन करना आवश्यक हो गया। चीन के इस अधिकार की सर्वथा अवहेलना नहीं की जा सकती यद्यपि यह अधिकार अब नाममात्र का ही रह गया था। संयोग से ऐसा वातावरण था कि एक समझौता हो गया। तिब्बत भी चीन के प्रति वफादार था और ग्रेट ब्रटेन ने चीन से लासा में अपना एक व्यापारिक मिशन भेजने की स्वीकृति उसकी इच्छा के विरुद्ध बड़ी कठिनाई से आसकी थी। परन्तु तिब्बत वाले मिशन के विरुद्ध थे और यह नहीं चाहते थे कि कोई अंग्रेज मिशन उनके देश में प्रविष्ट हो। इस प्रकार भारत की सरकार के सामने एक विकट परिस्थिति पैदा हो गई थी। परन्तु १८८६ में एक समझौते के अन्तर्गत यह समस्या सुलझ गई। यह निश्चित हुआ कि अंग्रेज तिब्बत में अपना मिशन भेजने का विचार त्याग दें और चीन बर्मा के अंग्रेजी साम्राज्य में सम्मिलित किये जाने पर कोई आपत्ति न करे। परन्तु अब भी तिब्बत वालों के साथ एक कठिनाई शेष थी। भारत से तिब्बत के लिए वह मार्ग, जिससे होकर मिशन जाने जाने वाला था, शिकम राज्य में होकर जाता था और शिकम का स्वतन्त्र राज्य अंग्रेजों के संरक्षण में था। तिब्बत वालों ने मिशन के मार्ग को रोकने के लिए शिकम राज्य में आकर लिंगटू की किलेबन्दी कर ली थी। जब उनकी वहां से हटाने के सब शान्तिमय साधन विफल हो गये, तो १८८८

में अंग्रेजी सैनिकों ने वहां जाकर उनको वहां से निकाल कर बाहर कर दिया ।

इकतीसवाँ अध्याय

लार्ड लेंस डाउन तथा 'आगे बढ़ो' नीति

चांदी के गिरते हुए मूल्य का भारतीय प्रचलित सिक्के पर प्रभावः—

डफरिन के पश्चात् दिसम्बर १८८८ में मार्किंस आब लेन्स डाउन भारत का वाइसराय बनकर आया । उसके शासन-काल की सबसे अधिक महत्वपूर्ण आन्तरिक समस्या भारतीय सिक्के पर संसार भर में चांदी के गिरते हुए मूल्य का प्रभाव था । इसका सबसे प्रमुख कारण यह था कि उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में चांदी की नई खानों के प्राप्त होने के कारण चांदी का उत्पादन बहुत बढ़ गया था । दूसरा प्रधान कारण यह था कि जर्मनी ने चांदी के सिक्के ढालना बन्द कर दिया था और लेटिन संघ के देशों ने जहां पर सोने और चांदी के सिक्के प्रचलित थे, दो धातुवाद की प्रथा को बन्द कर दिया था । परिणाम यह हुआ कि चांदी के सिक्के जो पहले यूरोप के लगभग सभी महत्वपूर्ण देशों में प्रचलित थे अब केवल सांकेतिक मुद्रा (टोकिन मनी) ही रह गये । इससे कुछ बड़े ही विस्मयकारी आर्थिक परिणामों का जन्म हुआ । जिन देशों के मुद्रा प्रचलन का आधार स्वर्ण स्तर था उनको तो कोई विशेष हानि उठानी पड़ी । जिन देशों में मुद्रा का आधार रजत (चांदी) स्तर था और उनको विदेशों को भी विशेष भुगतान नहीं करना था, उनको भी बहुत अधिक हानि नहीं उठानी पड़ी । परन्तु रजत स्तर वाले देशों को, जिन पर स्वर्ण स्तर वाले देशों का भारी ऋण था, भयंकर आर्थिक क्षति का सामना करना पड़ा । भारत अन्तिम कोटि के देशों में से था । उसका व्यापारिक एवं मुद्रा-सम्बन्धों, सम्बन्ध अधिकांश में इंग्लैंड के साथ था और वह इंग्लैंड का बड़ा ऋणी था । (हमारे ही धन को हमसे ऋण के रूप में और बढ़े भारी व्याज के साथ चुकाया गया) उसको जातीय ऋण का व्याज, अंग्रेजी पूंजी जो यहां पर लगी हुई थी उसका व्याज तथा लाभ, अंग्रेजों की पेन्शन और इण्डिया आफिस का व्यय स्वर्ण में देना पड़ता था जब चांदी का मूल्य सोने

के भाव में कम हो गया तो एक पौंड के बदले अब पहले से अधिक रुपये दिये जाने लगे। चाँदी का मूल्य निरन्तर गिरता जा रहा था और भारत के इंगलैंड के लिए भुगतान की मात्रा बर्मा के युद्ध आदि कारणों से बढ़ती जाती थी जिसके परिणाम स्वरूप भारतीय दीन जनता पर इस आर्थिक संकट का भार बढ़ता ही गया। आरम्भ में रुपये का मूल्य २ शिलिंग ३ पैसे था। १८७३ तक कई वर्ष पहले से २ शिलिंग रहा था। इसके पश्चात् उपरोक्त कारणों से इसका मूल्य गिरना आरम्भ हुआ और १८८५ के पश्चात् तो बड़ी तेजी से गिरने लगा था। १८९० में रुपये का मूल्य केवल १ शिलिंग ४ पैसे रह गया। अगले वर्ष अमेरिका में एक विशेष कानून पास हो जाने के कारण मूल्य कुछ बढ़ा, परन्तु १८९२ में रुपये का मूल्य अधिक से अधिक गिर कर १ शिलिंग १ पैसे रह गया।

रुपये का इतना अधिक मूल्य गिर जाने के परिणाम-स्वरूप भारतीय जनता को भयंकर आर्थिक संकट का सामना करना पड़ा। १८९४ में भारत को १८७३ की अपेक्षा पाँच प्रतिशत अधिक भुगतान करना पड़ता था। यह अनुमान लगाया गया था कि १८९२ में, रुपये का मूल्य १ शिलिंग १ पैसे होने से पहले भारतीय जनता से कर द्वारा ६० लाख पौंड उससे और अधिक जो वैसे आवश्यक होता, एकत्रित किया गया था। विनिमय दर की घट-बढ़ के कारण कभी २ इतना घाटा रह जाता था कि जिसकी कभी आशा भी नहीं की जा सकती थी। आय-व्यय का चिट्ठा (बजट) तैयार करने वाले अर्थ-सचिवों के सामने भी यह बड़ी कठिनाई थी कि वे ठीक बजट तैयार नहीं कर सकते थे। यूरोप से भारत आने वाली पूँजी पर प्रतिबन्ध लगाया गया और व्यापार की मात्रा को व्यय करने का प्रयत्न किया गया। सरकार ने सार्वजनिक कार्यों के व्यय को भी कम किया, परन्तु कर कम नहीं किया गया। १८७३ में जिस धन को चुकाने के लिए जितना सामान भेजना पड़ता था, अब उसी धन का भुगतान करने के लिए उससे दोगुना सामान भेजना पड़ता था। विदेशों में भुगतान सोने, चाँदी में न होकर अधिकतर निर्यात के द्वारा ही होता है, परन्तु विदेश को भेजे जाने वाले सामान की मात्रा बढ़ जाने से केवल भेजने योग्य सामान के उत्पादक वर्ग को ही कुछ लाभ हुआ और नहीं तो समस्त जाति को इससे बड़ी आर्थिक हानि उठानी पड़ी।

अपने बढ़ते हुए ऋण का भुगतान करने के लिए भारत को अंग्रेजी सरकार ने और अधिक कर लगाये । आय-कर लगाया गया और नमक-कर, जिसको भारतवर्ष में सर्वप्रियता कभी भी प्राप्त नहीं हुई, को दर बढ़ा दी गई; परन्तु स्थिति इतनी गम्भीर हो चली थी कि इससे भी काम नहीं चला और सरकार ने सेक्रेटरी आय स्टेट को चेतावनी दी कि यदि भारतवर्ष के इस आर्थिक रोग का कोई स्थायी उपचार न खोज निकाला गया तो देश दिवालिया हो जायगा और यहाँ की दशा राजनीतिक दृष्टिकोण से अत्यन्त गम्भीर एवं भयानक हो जायगी । १८६२ में यहाँ की सरकार ने कैबिनेट के सामने यह प्रस्ताव रक्खा था कि अन्तर्राष्ट्रीय समझौते के अनुसार सोने तथा चाँदी में एक स्थायी अनुपात स्थापित कर लेना चाहिए और यदि यह सम्भव न हो सके तो भारत की टकसालों में चाँदी के सिक्के स्वतन्त्रता-पूर्वक ढलने की प्रथा बन्द कर दी जाय जिससे यहाँ पर भी स्वर्ण-स्तर स्थापित किया जा सके । नवम्बर तथा दिसम्बर १८६२ में ब्रूसेल्स में एक अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-सम्बन्धी कान्फ्रेंस हुई परन्तु इसको लेशमात्र भी सफलता प्राप्त न हो सकी । इसमें भारत की सरकार के प्रतिनिधि ने भी भाग लिया था । १८६२ में इंग्लैंड की सरकार ने लार्ड हर्शेल की अध्यक्षता में एक कमेटी नियुक्त की और उसकी सिफारिश के अनुसार भारतीय टकसालों में स्वतन्त्र रजत-मुद्रा निर्माण बन्द कर दिया । १५ रुपये के बदले में १ गिनी ली और दी जाने लगी, परन्तु रुपये का मूल्य १८६५ तक गिरता चला गया ।

मनीपुर का विद्रोह :—लेन्स डाउन के शासन-काल में मनीपुर राज्य में एक भयंकर विद्रोह हुआ । मनीपुर का राज्य आसाम की सीमा पर पहाड़ियों में स्थित है । राजा की मृत्यु के पश्चात् उत्तराधिकार के लिए झगड़ा उठ खड़ा हुआ और उसका परिणाम यह हुआ कि कुछ काल तक राज्य बिना राजा के ही रहा । राज्य भर में अशांति और अराजकता छा गई थी । वाइसराय ने इस आधार पर कि संरक्षित रियासतों के विवाद-ग्रस्त उत्तराधिकार प्रश्न में हस्तक्षेप करना सरकार का अधिकार है, हस्तक्षेप करने का दृढ़ निश्चय कर लिया । आसाम के चीफ कमिश्नर क्विण्टन को ४०० सैनिकों की सहायता के साथ विद्रोह के कारणों की जाँच करने के लिए भेजा गया । उस सेनापति को पकड़ने का प्रयत्न किया गया, जिसने क्रान्ति फैलाई थी और राजगद्दी पर गैर-कानूनी अधिकार कर लिया था, परन्तु मन

पुर की जनता ने उसका साथ दिया और उसको बन्दी न बनाया जा सका। युद्ध के पश्चात् चीफ़ कमिश्नर और उसके तीन साथियों को एक कान्फ़्रेंस में भाग लेने के लिए प्रलोभन देकर धोखे से मार डाला गया। छोटे अफसर, जो सहायक दस्ते के कमाण्डर बना दिये गये थे, डर कर ब्रिटिश राज्य की ओर भाग आये। उनके ऐसा करने पर उनको नौकरी से पृथक् कर दिया गया। पूर्वी बंगाल की सीमा पर मनीपुरियों के आक्रमणों को पीछे धकेल दिया गया और ब्रिटिश सैनिकों ने राजधानी पर आधिपत्य स्थापित कर लिया। क्विन्टन आदि के हत्यारों को, जिनमें सेनापति भी था, पकड़ कर मृत्यु दण्ड दिया गया। मनीपुर राज्य को ब्रिटिश साम्राज्य में सम्मिलित नहीं किया गया। राजकीय घराने में एक अल्पायु बालक को राजा बनाया गया जिसकी सहायता के लिए एक ब्रिटिश पोलिटिकल एजेण्ट रखा गया जिसने दास-प्रथा का अन्त किया।

कलात का विद्रोह :—इसी काल में एक और विद्रोह भारत की उत्तर-पश्चिम सीमा पर कलात की संरक्षता रियासत में हुआ। कहते हैं कलात का खान बड़ा क्रूर एवं अत्याचारी था। १८३२ में उसने अपने वजीर और उसके पिता तथा पुत्र तीनों को मरवा डाला। ब्रिटिश सरकार ने उसको इन अपराधों का उत्तर देने के लिए क्वेटा बुलाया और कलात के सरदारों की सम्मति से उसको राज्य त्यागने पर बाध्य किया सरदारों ने उसके पुत्र के उत्तराधिकार को स्वीकार कर लिया।

भारत-साम्राज्य की सीमा समस्या :—जार्ज लेन्स डाउन के शासन-काल में भारत-साम्राज्य की उत्तरी-पूर्वी तथा उत्तरी-पश्चिमी दोनों सीमाओं पर कुछ हलचल-सी हो रही थी और इसका कारण यह था कि इंग्लैंड, रूस, फ्रांस तथा चीन के साम्राज्य अपने निकटवर्ती निर्बल राज्यों को हड़प कर अब एक साम्राज्य केन्द्र की ओर अग्रसर हो रहे थे। रूस के अपनी दक्षिणी एशिया की रेल को बढ़ाने से, फ्रांस के हिन्द-चीन में मीकाँग तक झा जाने से और अंग्रेजों के ऊपरी ब्रह्मा को भारत-साम्राज्य में सम्मिलित करने से तीनों शक्तियाँ एक दूसरे के निकटतम सम्पर्क में आ रही थीं। उनकी सीमायें अभी तक पूर्णरूपेण स्थायी रूप से निर्धारित नहीं हुई थीं और वे सब इस समय उस परिस्थिति में थे जब तनिक-सी राजनीतिक चिंता भयंकर युद्ध-ज्वाला प्रोज्ज्वलित कर देती है। एशिया के देशों में

यूरोप की साम्राज्यवादी शक्तियों ने अपने २ अधीन देशों की सीमाओं के बाहर 'प्रभाव क्षेत्र' बना रखे थे, जिनमें वे स्वयं शासन तो नहीं करते थे परन्तु उनमें शत्रु के हस्तक्षेप को सहन नहीं कर सकते थे और जिनमें आवश्यकतानुसार सड़कें आदि भी बना लेते थे। परन्तु 'प्रभाव-क्षेत्रों' वाले देश सदा ही इस दशा में नहीं रहते। शीघ्र या देर से, अपनी इच्छा से या शक्ति के बल पर उनको एक दूसरी शक्ति का अंग बनने के लिए बाध्य होना पड़ता है। जब ऐसा होता है तो नवीन 'प्रभाव क्षेत्रों' की खोज होती है और साम्राज्यवादी शक्तियाँ आगे बढ़ कर फिर अपने २ प्रभाव-क्षेत्र बनाती हैं और अन्ततोगत्वा ऐसा समय तथा स्थल आ जाता है जब दो ओर से बढ़ने वाली शक्तियाँ एक दूसरे से मिल जाती हैं। यह 'सम्मेलन' समय तथा स्थान सब से अधिक भयानक होता है।

लार्ड लेन्स डाउन के काल में उत्तरी-पूर्वी तथा पूर्वी सीमा पर ब्रिटिश संरक्षित प्रांतों को बढ़ाने और उनकी सीमाएं निर्धारित करने का बड़ा भारी काम किया गया। इस काल में अंग्रेजी राज्य का प्रभाव तथा अधिकार, शिकम, लुसाई लोगों पर जो चिटगाँव से उत्तर-पूर्व की ओर पहाड़ी प्रान्तों में रहते हैं, जिन लोगों पर जो इनसे कुछ और पूर्व की ओर रहते हैं, इरावदी नदी के पार शान रियासतों पर तथा करेनी पर जो ब्रह्मा की पूर्वी सीमा पर एक देशीय रियासत थी, फैल गया था।

उत्तरी-पश्चिमी सीमा की समस्या इतनी सरल नहीं थी। लार्ड डफरिन ने अफगानिस्तान के अमीर अब्दुर-रहमान के साथ जो सुन्दर सम्बन्ध स्थापित कर लिया था, लेन्स डाउन उसका निर्वाह न कर सका। जिस प्रकार नौर्थब्रुक शेरअली के साथ भैया के संस्थापित सम्बन्ध को स्थिर नहीं रख सका था। इसमें सन्देह नहीं कि अफगानिस्तान का अमीर ग्रेट-ब्रिटेन के साथ मित्रतापूर्ण सम्बन्ध बनाये रखने का निरन्तर प्रयत्न करता रहा यद्यपि उसके वाइसरायों के साथ सम्बन्ध में परिवर्तन होता रहता था। जो वाइसराय उसकी सीमा से दूर रहता उसके साथ उसके सम्बन्ध बड़े मैत्रीपूर्ण होते थे और जो सीमा के निकटतर पहुँचने का पक्षपाती होता, उसके साथ सम्बन्ध कुछ खूबा हो जाता था।

लेन्स डाउन तथा अफगानिस्तान :—लार्ड लेन्स डाउन अपने खूबे स्वभाव के कारण अब्दुल रहमान को अपना मित्र न बना सका। इसके

अतिरिक्त अमीर को उसके 'तानाशाही' पत्रों से भी घृणा थी जिनमें "मेरे राज्य के आन्तरिक शासन पर मुझको नसीहत (की जाती है) और मुझ को बतलाया जाता है कि मैं अपनी प्रजा के साथ कैसा व्यवहार करूँ ।" निस्सन्देह लार्ड लेन्स डाउन के शासन की अवधि समाप्त होने तक दोनों देशों की सरकारों में मतभेद बढ़ता ही रहा और इसका कारण इंग्लैंड की परराष्ट्र-नीति में परिवर्तन होता था । ब्रिटिश सीमा और अफगान सीमा के बीच, जैसा कि पहले भी उल्लेख किया जा चुका है, २५००० वर्ग मील का कबाइली प्रान्त था । ये कबीले नाम मात्र की राजभक्ति अफगान अमीर के प्रति प्रदर्शित करते थे जो उनकी मध्य स्थिति को अपने और अंग्रेजों के बीच एक पर्दा मानता था और उनके साथ किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप उसको असह्य था । उनके ऊपर उसका वास्तविक अधिकार या नियन्त्रण तो नहीं था, परन्तु इच्छानुसार अपने शक्तिशाली पड़ोसी को तंग करने के विचार से वह उनको उपद्रव करने के लिए उत्तेजित अवश्य कर सकता था । ये कबाइली तनिक भी उत्तेजना तथा प्रोत्साहन पाते ही ब्रिटिश व्यापारिक मार्गों में उपद्रव करने और ब्रिटिश सीमा के भीतर आक्रमण करने को सदा तैयार रहते थे । ऐसा होने पर ब्रिटिश सरकार अपनी सैन्य शक्ति से उपद्रवी गाँवों को दण्ड देकर या उनको नष्ट-भ्रष्ट करके अपनी सीमा के भीतर आ जाती थी । इसके अतिरिक्त उनके पास और कोई चारा नहीं था । 'आगे बढ़ो' नीति के समर्थक सदा से इन प्रान्तों में सैनिक दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण रेलों के बिछाने, निश्चित ब्रिटिश अफगान सीमा रेखा निर्धारित करने और समस्त कबाइली प्रान्त को विजय करके उसमें शान्ति तथा व्यवस्था स्थापित करने के लिए चिढ़लाते रहे थे, परन्तु ऐसा करने के मार्ग में कुछ महत्वपूर्ण तथा व्यवहारिक कठिनाइयाँ थीं । इतने बृहत् प्रदेश पर आधिपत्य स्थापित करना सरल कार्य नहीं था । इसके लिए अतुल धन-राशि की आवश्यकता थी । कबाइली लोगों को काबू में करना वैसे ही कठिन काम था फिर यह भय था कि ऐसा करने से अब्दुर रहमान के साथ शत्रुता हो जायगी, जिसका अर्थ रूस के भय को निमन्त्रण देना था । इन सब बातों को दृष्टि में रखते हुए सरकार यही ठीक समझती थी कि अफगान अमीर जैसे महत्वपूर्ण मित्र को खोने की अपेक्षा कबाइली असुविधाओं को सहन करना अधिक बुद्धिमत्तापूर्ण एवं लाभकारी होगा । इस समय लार्ड राबर्ट्स कमाण्डर-इन-चीफ था और वह 'आगे बढ़ो' नीति का समर्थक था । इसलिए 'आगे बढ़ो' नीति की

दिशा में कुछ कदम उठाये गये। परिणाम-स्वरूप जैसा कि स्वाभाविक था अब्दुर रहमान को इससे बड़ी वेचैनी हुई और सब सैनिक अफसरों ने भी इसका समर्थन नहीं किया। वोल्गान दर्रे तक एक रेलवे लाइन बना दी गई।

काश्मीर घटना :—काश्मीर में कुछ ऐसी गुप्त घटनायें घटीं, जिनका अब तक ठीक २ पता नहीं चला है। १८८५ में महाराजा प्रतापसिंह काश्मीर के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। १८८८ में लार्ड डफरिन ने प्लोडेन को, जो वहाँ पर ब्रिटिश रेजीडेंट था, वापस बुला लिया था। अगले वर्ष लेन्स-डाउन ने कुछ अनिश्चित कारणों से, जिनको कभी सिद्ध नहीं किया जा सका, महाराजा को पदच्युत करके काश्मीर का शासन-प्रबन्ध ब्रिटिश रेजीडेंट के नियन्त्रण में एक कौंसिल के सुपुर्द कर दिया। वाइसराय के इस कार्य से ऐसा प्रतीत होता था कि काश्मीर को ब्रिटिश साम्राज्य में सम्मिलित किया जायेगा। जौलाई १८९० में हाउस ऑफ कामन्स में 'ब्रेडलो ने' 'काम रोको' प्रस्ताव प्रस्तुत किया और काश्मीर प्रश्न पर विवाद आरम्भ हो गया। पार्लियामेंट की इस कार्यवाही के कारण या कुछ और कारणों से, जिनका कभी स्पष्टीकरण नहीं किया गया १९०५ में पदच्युत महाराजा को फिर राज्य वापस दे दिया गया और काश्मीर-शासन पर नियन्त्रण रखने का फिर प्रयत्न नहीं किया गया।

मार्टिंजर डुरण्ड मिशन :—लेन्स डाउन की परराष्ट्र-नीति के कारण अब्दुर रहमान के दिल में भी भय एवं सन्देह पैदा हो गया था। उसको दूर करने तथा ब्रिटिश नीति के औचित्य को सिद्ध करने के लिए १८८८ में एक मिशन मार्टिंजर डुरण्ड की अध्यक्षता में अफगानिस्तान के लिए रवाना होने वाला ही था कि इतने ही में इश्कख़ाँ के विद्रोह का समाचार प्राप्त हुआ जिसने अब्दुर रहमान को दो वर्ष तक अफगान, तुर्किस्तान की सीमा पर रोके रक्खा। परिणाम-स्वरूप स्थिति और भी बिगड़ गई। गिलगित में अंग्रेजी कार्यवाही को अमीर बड़े अविश्वास से देख रहा था। १८८९ में एक अंग्रेज अफसर रूस के अनावश्यक भय के कारण वहाँ पर भेजा गया। उसकी उपस्थिति से हुन्जा तथा नगर के सरदार घृणा करते थे। ये दो छोटी २ रियासतें थीं जो काश्मीर के प्रति शिथिल राज-भक्ति रखती थीं। उन्होंने गिलगित पर आक्रमण कर दिया, परन्तु परास्त हुए।

गिलगित की स्थिति बड़ी महत्वपूर्ण है। यहाँ से चित्राल को सीधा मार्ग जाता है। चित्राल भी एक छोटा-सा राज्य है जिसकी भूमि अधिकतर पहाड़ी है। यहाँ से हिन्दुकुश पर्वत के पार बड़े सुगम मार्ग जाते हैं। १८६२ में चित्राल के महतर (सरदार) का देहान्त हो गया और उसके पुत्र को गद्दी प्राप्त करने में कुछ कठिनाई का सामना करना पड़ा। उत्तराधिकार के झगड़े का बहाना लेकर १८६२ में एक अंग्रेज दूत डाक्टर राबर्टसन वहाँ पर भेजा गया। अब्दुर रहमान को इस प्रकार एजेण्ट का भेजना और उसके दरों तक रेलों का बनाया जाना बहुत बुरा लगा। इस समय स्थिति बड़ी नाजुक और संकटपूर्ण थी और अब्दुर रहमान के शब्दों में इंग्लैंड और अफगानिस्तान दोनों युद्ध के अधिक निकट पहुँच गये थे। लेन्स डाउन ने इस बात को स्वीकार किया है। सौभाग्य से वह बला टल गई और लार्ड लेन्स डाउन के इंग्लैंड वापस जाने से पहले एक सम्मानपूर्वक समझौता हो गया था। १८६२ में फिर एक बार एक मिशन को अफगानिस्तान भेजने का प्रस्ताव रखा गया था; परन्तु लार्ड राबर्टस को दूत चुनकर बड़ी भारी भूल की गई थी क्योंकि वह 'आगे बढ़ो' नीति का एक बड़ा समर्थक था और इस बात से भी, कि दूसरे अफगान युद्ध में उसने महत्वपूर्ण भाग लिया था, भारत की अंग्रेजी सरकार की बुद्धिमत्ता प्रकट नहीं होती। अमीर लार्ड राबर्टस का स्वागत करने के लिए तैयार नहीं था और इसलिए उसने चालाकी से काम लिया। उसने घोषणा की हज़ारा प्रान्त में उपद्रव हो जाने और अपना स्वास्थ्य अच्छा न होने के कारण वह मिशन का स्वागत करने की तिथि नियत नहीं कर सकता। इस प्रकार देर करके, जबकि राबर्टस इंग्लैंड वापस चला गया। उसने सर मार्टिंजर डुरण्ड का स्वागत करने की इच्छा की घोषणा की, जो कि अब दूत नियुक्त किया गया था। इस मिशन का स्वागत तथा इसका संपादित कार्य यह निर्विवाद सिद्ध करते हैं कि अब अफगानिस्तान और भारत की अंग्रेजी सरकार के पारस्परिक सम्बन्धों में बड़ा महत्वपूर्ण परिवर्तन हो गया था और अब्दुर रहमान का अपनी उपद्रवी अफगान प्रजा पर पूरा नियन्त्रण था। एक बार फिर ब्रिटिश दूत ने उस नगर में प्रवेश किया जहाँ पर पहले वर्न्स और कैवेगनरी दो दूत यम-लोक पहुँचा दिये गये थे। डुरण्ड ने बिना अपनी सैनिक सहायता के प्रस्थान किया, उसकी रक्षा के लिए अमीर के सैनिक थे। वह दो अक्टूबर को नगर में प्रविष्ट हुआ और १६ नवम्बर को वहाँ से रवाना हुआ। इस समय

मैं अब्दुररहमान के साथ द्वेष के सब कारणों की जांच की गई, सब ही विवाद-ग्रस्त समस्याओं पर सन्तोष-जनक बातचीत चली और एक समझौते पर दोनों दलों के हस्ताक्षर हो गये। अमीर ने वचन दिया कि भविष्य में वह कभी अफरीदी, वज़ीरी, तथा अन्य सीमास्थ कबाइलियों के साथ हस्त-क्षेप नहीं करेगा। सीमा-रेखा, जहाँ पर सम्भव होगी, अफगान तथा अंग्रेज कमिश्नरों द्वारा निर्धारित कर दी जायगी। कुछ प्रान्त अब्दुररहमान को मिले और इसके बदले में उसने स्वात, बजौर, दिर या चित्राल में हस्त-क्षेप न करने का वचन दिया और चमन के रेलवे स्टेशन पर से भी अपना अधिकार उठा लिया। भारत की सरकार ने प्रण किया कि वह अमीर के गोला-बारूद मोल लेने पर कोई आपत्ति नहीं उठायेगी और उसकी वार्षिक आर्थिक सहायता भी १२ लाख रुपये से बढ़ाकर १८ लाख रुपये वार्षिक कर दी। दोनों देशों के बीच फिर मैत्री-पूर्ण सम्बन्ध स्थापित हो गये। अब्दुररहमान ने यह कहते हुए, कि वज़ीरस्तान से उसके कर्मचारियों को निकाला गया है और चमन रेलवे स्टेशन उसकी भूमि पर बिना उसकी आज्ञा के बनवाया गया है, यह भविष्य वाणी की जो बाद में सत्य सिद्ध हुई, कि कबाइली प्रान्त में किसी दिन अवश्य युद्ध होगा। उसने मिशन के परिणामों के सम्बन्ध में अपनी सम्मति प्रकट करते हुए कहा था 'अब मैं सर्वथा सन्तुष्ट हूँ कि मैंने अंग्रेजों से मित्रता करके जो कुछ खोया था, उससे अधिक प्राप्त कर लिया है और सर मार्टिनर डुरण्ट के मिशन ने मेरी क्षति-पूर्ति करके समस्या को सुलझा दिया है। मैं इन बातों को केवल यह प्रकट करने के लिए लिख रहा हूँ कि यद्यपि इंग्लैंड अफगानिस्तान के किसी भाग पर भी अधिकार करना नहीं चाहता तो भी वह संयोग को हाथ से नहीं जाने देता, और संयोग-प्राप्त को नहीं खोता—और इस मित्र ने रूस की अपेक्षा अधिक प्राप्त कर लिया है।' इसके पश्चात् अमीर ने इंग्लैंड जाने का भी निमन्त्रण स्वीकार किया; परन्तु बीमारी के कारण अपनी इच्छा को पूरा न कर सका। १८६५ में उसका दूसरा पुत्र नसरुल्लाखॉ उसका प्रतिनिधि बनाकर भेजा गया। परन्तु उसके जाने से कोई लाभ नहीं हुआ। अब्दुररहमान को यह जानकर कि उसके प्रतिनिधि को, सर जेम्स के दरबार में रखने की उसकी प्रार्थना स्वीकृत नहीं की गई, बड़ी निराशा हुई।

१८६३ में लार्ड लेन्स डौन के त्याग-पत्र देने पर लार्ड क्रोमर को

वाइसराय बनाया गया परन्तु उसने अपने व्यक्तिगत कारणों से स्वीकार नहीं किया। इसके पश्चात् क्वींसलैंड के गवर्नर सर हेनरी नारमन को यह पद प्रदान किया गया, परन्तु अधिक वृद्ध होने के कारण उसने भी १६ दिन पश्चात् त्जमा माँग ली। इसके पश्चात् इंग्लैंड की सरकार ने लार्ड एलगीन को वाइसराय नियुक्त किया जो गवर्नर जनरल एलगीन का (१८६२-६३) पुत्र था।

अष्टादसवाँ अध्याय

सामाजिक तथा शासन-सुधार (१८८५-९२) तथा इण्डियन

नेशनल कांग्रेस

पिछले दो अध्यायों में लार्ड डफरिन तथा लेन्स डाउन के काल की राजनीतिक अवस्था तथा राष्ट्र-नीति-सम्बन्धी बातों का वर्णन किया जा चुका है। इस अध्याय में इस काल के राजनीतिक तथा सामाजिक सुधारों पर संक्षेप में दृष्टिपात किया जायगा। इनमें से कुछ लार्ड रिपन ने आरम्भ की थीं, कुछ को लार्ड लेन्स डाउन ने पूर्ण किया और कुछ ऐसी थीं, जिनका आरम्भ भी डफरिन ने किया था, और पूर्ण भी उसी ने किया। अंग्रेजी काल में भारत की व्यवस्थापिका सभा ऐसी सावधानी तथा सोच-विचार कर नियम बनाती थी कि आधुनिक काल के कुछ ही नियम ऐसे मिलेंगे जो किसी एक शासन की देन हों।

कृषि-सुधार नियम :- सामाजिक सुधार के क्षेत्र में लार्ड डफरिन के शासन-काल में तीन मुख्य कृषि-सम्बन्धी नियम पास किये गये। इनमें से प्रथम 'बंगाल टीनेन्सी बिल' (१८८५) था। जिसका प्रस्ताव डफरिन के काल में रक्खा गया परन्तु जो लार्ड रिपन के काल में पूर्ण हुआ और जिसने १८५६ के 'बंगाल भूमिकर ऐक्ट' की धाराओं की और अधिक व्याख्या करके उसके क्षेत्र को अधिक विस्तृत किया। इसके द्वारा कृषकों की शोचनीय दशा को सुधारने, उनके लगान को समुचित करने तथा जमींदारों के उनसे आसानी से भूमि छीनने के अधिकार पर प्रतिबन्ध लगाने का प्रयत्न किया गया था। इस ऐक्ट के द्वारा सरकार ने स्वतन्त्र प्रतियोगिता के नियम में हस्तक्षेप किया था; परन्तु दीन कृषकों को निर्बल और अरक्षित होने के

आरण प्रतियोगिता में भूमिपतियों का शिकार बनना पड़ता था। ऐक्ट के विरोधियों का कहना था कि यह १७६३ के स्थायी बन्दोबस्त के लिए घातक था। और इसको पास करके सरकार भूमिपतियों के साथ विश्वासघात कर रही थी; परन्तु वाइसराय का विरोधियों के लिये उत्तर था कि ये ऐसे सुधार थे जिनको लार्ड कार्नवालिस स्वयं करने की इच्छा रखता था और अब इनको बहुत समय पश्चात् पास किया जा रहा था। इसके पश्चात् अवध के लिए एक ऐक्ट पास किया गया, जिसकी पृष्ठ-भूमि भी लार्ड रिपन के काल में तैयार हो चुकी थी, इसके द्वारा उन कृषकों को सुरक्षा प्रदान की गई थी जिनको भूमिपति जब चाहें भूमि से पृथक् कर सकते थे और जिनको लार्ड लारेंस के १८६८ के नियम से भी कोई लाभ नहीं पहुँचा था। इस ऐक्ट ने उन किसानों को, यदि बेदखल भी कर दिया जाय, खेतों में अपने द्वारा गत ३० वर्षों में किये गये उन्नति के साधनों के बदले जैसे—कुआँ आदि का बनाना—कुछ धन मिलने का अधिकार दिया गया था। १८८७ में ऐसा ही एक बिल कृषकों के अधिकारों की व्याख्या तथा रक्षा करने के लिए पंजाब में भी पास किया गया था।

आर्थिक तथा नैतिक नियम :—लार्ड लेन्स डाउन के शासन-काल में जनता की आर्थिक तथा नैतिक उन्नति एवं भलाई के लिए दो ऐक्ट पास किए गये। प्रथम एक फैक्टरी ऐक्ट था, जिसने १८८१ के ऐक्ट की विशद विवेचना कर उसमें समयोचित संशोधन किया था। स्त्रियों के लिए प्रतिदिन काम के अधिक से अधिक ११ घण्टे नियत किये गये। बच्चों की कम से कम और अधिक से अधिक अवस्था सात वर्ष से नौ वर्ष और बारह वर्ष से चौदह वर्ष नियत कर दी गई थी। वे अधिक से अधिक सात घण्टे प्रतिदिन काम कर सकते थे और वह भी दिन में। फैक्टरी में काम करने वाले प्रत्येक श्रमजीवी को एक सप्ताह में एक दिन का अवकाश मिलना अनिवार्य था; सम्मति ऐक्ट के द्वारा लड़कियों की अवस्था दस से बारह वर्ष कर दी गई। जिस प्रकार विलियम बैटिक के सती। निवारण बिल के विरुद्ध लोगों में यह सनसनी फैल गई थी कि सरकार प्रजा के धर्म के साथ अत्याचार करती है। उसी प्रकार इस ऐक्ट का भी बड़ा भारी विरोध किया गया।

इंग्लिशन नेशनल कांग्रेस :—१८८५ में इंडियन नेशनल कांग्रेस का जन्म तथा पहला अधिवेशन बम्बई में हुआ। इसका जन्म सर ए. ओ.

ह्यूम के प्रयत्नों से हुआ था। १८५४ के पश्चात् शिक्षा-क्षेत्र में किए गये परिवर्तनों के कारण भारत के विश्वविद्यालयों में यूरोपियन ढंग की शिक्षा दी जाने लगी थी। इस शिक्षा का भी कांग्रेस के जन्म पर प्रभाव पड़ा था। भारतीय जनता अपने दुःखों और कष्टों को सरकार के सामने रखने का वैधानिक ढंग प्राप्त करना चाहती थी, और ह्यूम ने इसका पथ-प्रदर्शन किया। आरम्भ में कांग्रेस का जन्म इस आशय से किया गया था कि भारत में वह शासन-प्रबन्ध सम्बन्धी कमियों को प्रकाश में लाने का प्रयत्न करेगी। आरम्भ में बहुत थोड़े से शिक्षित तथा उदार विचार रखने वाले मनुष्य ही, जिनमें से कुछ पश्चिमी प्रदेशों की शासन-प्रणाली का अध्ययन किए हुए थे, इसके सदस्य थे। उनकी इच्छा भारत में धीरे-२ शान्ति-पूर्वक साधनों से प्रजातन्त्र शासन की स्थापना करनी थी। उस समय ब्रिटिश सरकार से द्वेष नहीं था, उल्टे कांग्रेस बड़ी राज-भक्त तथा ब्रिटिश शासन की मित्र थी; परन्तु कुछ समय पश्चात् ही वे सरकार से देश में प्रतिनिधि सङ्ख्याओं की स्थापना और देश के शासन में भारतवासियों को अधिकाधिक भाग देने की माँग करने लगी थी।

इण्डियन नेशनल कांग्रेस की प्रथम बैठक का महत्व इस काल में आकर ज्ञात हुआ है। आरम्भ में तो इसके नाम 'नेशनल' तक पर आपत्ति उठाई गई थी। तब केवल वही लोग इसके सदस्य थे जो अंग्रेजी बोलते थे और जिन्होंने पश्चिमी शिक्षा प्राप्त की हुई थी। उस समय देशीय नरेश तथा मुसलमान जाति को इससे तनिक भी सहानुभूति नहीं थी। नरेशों को तो इससे अन्त तक सहानुभूति न हो सकी। कुछ भी हो, ऐसी एक संस्था का जन्म होना अनिवार्य था और निस्सन्देह इसके जन्म में ब्रिटिश शासन-प्रणाली का भी प्रयास हाथ था। शासन-सम्बन्धी अनेकों त्रुटियों और जनता की सच्ची शिकायतों की ओर सरकार की बहुमूल्य सेवा की थी। उसके नेता बड़े योग्य तथा सच्चे देशभक्त थे और १८८५ में इसके जन्म के पश्चात् भारतीय शिक्षित जनता के ऊपर इसका प्रभाव, इसका कार्य-क्षेत्र, तथा इसकी सदस्यता प्रतिवर्ष बढ़ती ही चली गई।

१८६२ का इण्डियन कौंसिल एक्ट :—लार्ड डफरिन ने कांग्रेस की मांगों के औचित्य को पहचाना। अंग्रेजों की दृष्टि में भारतवर्ष में प्रजातन्त्र शासन की स्थापना करना तो सर्वथा असम्भव था; परन्तु व्यवस्था-

पिका सभाओं के आधार को विस्तृत करने के सुझाव को स्वीकृत करना असम्भव नहीं था। जिस प्रकार तीनों प्रेजीडेन्सियों में लेजिस्लेटिव कौंसिलें थीं उसी प्रकार उत्तरी पश्चिमी प्रान्तों में भी, जो आजकल संयुक्त प्रान्त आगरा व अवध कहलाता है, एक लेजिस्लेटिव कौंसिल की १८८६ में स्थापना की गई थी। यद्यपि डफरिन की सम्मति से ही कांग्रेस का सूत्रपात हुआ था, परन्तु बाद में चलकर उसको इससे भय लगने लगा था और वह बड़ी बड़ी मीटिंग कर उनमें उत्तेजक भाषणों के प्रतिकूल था। इंग्लैंड वापिस जाने से पहले उसकी सरकार ने सुझाव रखा था कि यथासम्भव कौंसिलों में भिन्न भिन्न वर्गों के प्रतिनिधियों को सम्मिलित किया जाये, वाइसराय की कौंसिल को अर्थमन्त्री द्वारा प्रस्तुत वजट पर बहस करने का अधिकार हो तथा कौंसिल के सदस्यों को कार्यकारिणी से प्रश्न पूछने का भी अधिकार प्राप्त होना चाहिए। प्रश्न पूछने के अधिकार पर उसने विशेष जोर दिया था क्योंकि उसकी सम्मति में इसके द्वारा कांग्रेस-मांग भी पूर्ण होती थी और ब्रिटिश शासननीति की सार्थकता सिद्ध करने का एक सफल साधन भी प्राप्त होता था। लगभग ये सब सुझाव उसके उत्तराधिकारी के काल में १८९२ के इण्डिया कौंसिल एक्ट द्वारा पूरे किये गये, जिसने भारत की लेजिस्लेटिव कौंसिलों के सदस्यों की संख्या में वृद्धि की। वाइसराय की इम्पीरियल कौंसिल में कम से कम दस और अधिक से अधिक १६ अतिरिक्त सदस्य बढ़ाने का आयोजन किया गया था जिनमें से ६ से अधिक सरकारी अफसर नहीं हो सकते थे। इन सदस्यों का निर्वाचन नहीं होता था वरन् ऐक्ट ने गवर्नर जनरल को अपनी कौंसिल की सलाह से उनके मनोनीत करने के लिये नियम बनाने का अधिकार दिया था। आशा यह की गई थी कि ऐसे नियम बनाये जायँ जिनके द्वारा लगभग सब ही वर्गों का प्रतिनिधित्व हो जाय। इसके अनुसार यह निश्चित किया गया कि दस गैर सरकारी सदस्य मनोनीत किये जायँ जिनमें से ४ को 'प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाएँ', १ को कलकत्ता का चैम्बर ऑफ कौमर्स और शेष पाँच को गवर्नर जनरल स्वयं मनोनीत करे। बम्बई और मद्रास की व्यवस्थापिका सभाओं में भी बीस बीस सदस्य बढ़ा दिये गये, जिनमें ६ से अधिक सरकारी अफसर नहीं हो सकते थे। गैर सरकारी सदस्यों को मनोनीत करने का अधिकार म्युनिसिपैलिटियों, यूनिवर्सिटी, सीनेट तथा व्यापारिक मण्डलों को

दिया गया था। यद्यपि प्रतिनिधि-प्रणाली का सूत्रपात किया गया था; परन्तु निर्वाचन की प्रथा का अभी श्रीगणेश नहीं हुआ था और इम्पीरियल तथा प्रान्तीय सभाओं में सरकारी सदस्यों का बहुमत रखा गया था। इन कौंसिलों के कार्यक्षेत्र भी कुछ बढ़ा दिये गये थे। इस समय तक वाइसराय की कौंसिल को सरकार की आर्थिक नीति पर बहस करने का अधिकार था, जब नये कर लगाये जाते थे, इनके पश्चात् प्रतिवर्ष वजट इसके सामने रखा जाने लगा और प्रत्येक सदस्य को उस पर बहस करने तथा उसकी आलोचना करने का अधिकार मिल गया था। शासन-प्रबन्ध के सम्बन्ध में एक्जीक्यूटिव अफसरों से प्रश्न पूछने का अधिकार भी सदस्यों को मिल गया था। इन शासन-सुधारों से अभीष्ट सन्तोष प्राप्त न हो सका क्योंकि सरकारी सदस्यों का बहुमत था, परन्तु फिर भी गैर-सरकारी सदस्यों को, भले ही उनका निर्वाचन न होता हो, कौंसिलों में बैठने और अपनी सम्मति प्रकट करने का अधिकार मिल गया था और वे वाइसराय तथा उसके अफसरों की आलोचना कर सकते थे। परन्तु ऐसा करने का साहस बहुत कम में था क्योंकि कौंसिलों में उनकी स्थिति इनके ऊपर ही अवलम्बित थी।

अस्थायी सिविल सर्विस :—इस काल में स्थायी सिविल सर्विस को भी स्वीकृति प्रदान की गई। पिछले अध्यायों में वर्णन किया जा चुका है कि लार्ड लिटन के काल में स्थापित स्टेटुअरी (नियमानुसार) सिविल सर्विस से निराशा प्राप्त हुई थी। सर चार्ल्स एट्किंसन की अध्यक्षता में १८८६-८७ में पब्लिक सर्विस कमीशन नियुक्त किया गया, जिसने पूर्ण रूप से इस प्रश्न की विवेचना की और १८९१ में उसकी सिफारिशों को कार्यान्वित किया गया। स्टेटुअरी सिविल सर्विस का अन्त कर दिया गया। सिविल सर्विस तीन भागों में विभक्त कर दी गई इम्पीरियल इण्डियन सिविल सर्विस, प्रान्तीय सर्विस तथा सबोर्डिनेट (अधीन) सर्विस के लिए भर्ती अब भी इंग्लैंड में होती थी और केवल वही भारतवासी इसमें सम्मिलित हो सकते थे जो इंग्लैंड जाकर लंदन में परीक्षा में बैठ सकते थे। दूसरी दोनों प्रकार की सर्विस की भर्ती भारत में ही होती थी और इनमें अधिकतर भारतवासी ही होते थे। प्रान्तीय सर्विस में तीन प्रकार से भर्ती होती थी; परीक्षा द्वारा, प्रान्तीय सरकारों द्वारा मनोनीत किये जाने से और अधीन सर्विस से उन्नति करके। इम्पीरियल सिविल सर्विस (आई० सी० एस०)

वालों के हाथ में सब ही महत्वपूर्ण स्थान थे। उनसे कम महत्व की जगह पर प्रान्तीय सर्विस के आदमी होते थे और अधीन सर्विस के मनुष्यों को बहुत कम महत्व के स्थानों पर रखा जाता था। १८६३ में हाउस आफ कामन्स में उदार दल के सदस्यों ने यह प्रस्ताव रखा कि सिविल सर्विस की परीक्षा इंग्लैंड तथा भारतवर्ष में साथ साथ होनी चाहिए। भारत की अंग्रेजी सरकार तथा मद्रास के अतिरिक्त और सब प्रान्तीय सरकारों ने इस का घोर विरोध किया और यह प्रस्ताव, केवल एक प्रस्ताव बन कर ही रह गया और ऐक्ट न बन सका।

तेतीसवाँ अध्याय

दुर्भिक्ष, महामारी तथा सीमान्त युद्ध

लेन्सडाउन के काल में भारतवर्ष का राजनीतिक वातावरण बड़ा चुन्ध हो गया था। विनिमय दर का गिरना और देश के वार्षिक बजट में घाटे का होना, इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण था कि देश को समृद्धि का अन्त हो चला था। अब भारतवर्ष में भयंकर दुर्भिक्ष, विनाशकारी महामारी, और घातक सीमान्त युद्धों का युग आरम्भ होने वाला था। जिनके कारण देश का सामाजिक एवं राजनीतिक वातावरण अत्यन्त ही चुन्ध हो उठा था और जिसके परिणाम-स्वरूप महत्वपूर्ण वैधानिक परिवर्तन किये गये। लेन्स डाउन के पश्चात् लार्ड एलगिन—गवर्नर जनरल एलगिन का पुत्र भारत का वाइसराय बन कर आया। आरम्भ में दो वर्ष तक तो उसके काल में शान्ति रही परन्तु इसके पश्चात् चारों ओरसे एक साथ इतनी कठिनाइयाँ उसके सामने आईं; जिनके कारण समस्त शासन आमूल हिल गया था लार्ड एलगिन स्कॉटलैंड के एक प्राचीन उदार घराने से सम्बन्ध रखता था। वह एक गम्भीर एवं सावधान शासक था। यह उसका दुर्भाग्य था कि उसके काल में ऐसी ऐसी समस्याएँ हुईं जिनका निवारण भारत के योग्यतम वाइसराय भी नहीं कर सकते थे। उसने स्वयं कोई महत्वपूर्ण कार्य नहीं किया और न किसी नई योजना का स्वयमेव प्रतिपादन किया, वरन् अधिकतर अपने स्थायी अफसरों की सलाह से ही शासन कार्य का संचालन किया। कदाचित् इस कारण से भी, उसके शासन की कड़ी आलोचना की गई क्योंकि ये अफसर भारतीय हितों के सदा से और सर्वथा विरोधी रहे

थे। निस्सन्देह उसके शासन—काल में भयंकर भूलों की गईं और अनेकों कार्यों में वाइसराय के दृढ़ निश्चय का अभाव साफ़ प्रकट होता है।

आर्थिक व्यवस्था :—टकसालों के बन्द करने से अभीष्ट फल प्राप्त न हुआ और विनिमय दर के निरन्तर गिरते रहने के कारण एलगिन के समस्त बजट में भयंकर घाटे की समस्या उपस्थित हुई। फिर पांच प्रतिशत आयात कर लगाया गया, परन्तु सूती कपड़े पर कर लागू नहीं किया गया, किया भी कैसे जाता क्योंकि अधिकांश सूती कपड़ा लंकाशायर से आता था। इस अपवाद पर जैसाकि स्वाभाविक था, भयंकर बहस आरम्भ हुई। इंगलैंड के उत्पादकों ने यह आपत्ति उठाई कि जब और वस्तुओं पर भारत की सरकार आयात-कर लगा रही है तो सूती कपड़े पर क्यों नहीं लगाया जाता। भारत के हित अहित का कोई ध्यान नहीं था। अंग्रेज उत्पादकों के हित का विशेष ध्यान रक्खा जाता था। इंगलैंड के इस आन्दोलन का यह परिणाम हुआ कि अगले वर्ष सूती कपड़े पर भी आयात-कर लगा दिया गया; परन्तु साथ ही साथ भारत के सूती कपड़े पर भी उतना ही कर लगा दिया गया क्योंकि यह भय था कि कहीं आयात-कर लग जाने से मानचेस्टर के कपड़े का मूल्य बढ़ जाने पर उसकी खपत कम न हो जाय। भारतीय उत्पादकों ने इसके विरुद्ध बड़ी हायवैला मचाई परन्तु सब 'टांग टांग फिस'। १८६६ में इस प्रचण्ड विरोध के फल-स्वरूप कर ५ प्रतिशत से ३॥ प्रतिशत कर दिया गया, परन्तु साथ ही इंगलैंड से आने वाले सूती कपड़े पर भी आयात-कर ३॥ प्रतिशत कर दिया गया। मुद्रा समस्या का भी कुछ निवारण अवश्य हो गया, परन्तु भारतीय हितों का बलिदान करके। भारत बनाम मानचेस्टर-समस्या का निपटारा करने का कोई प्रयत्न नहीं किया गया। जैसा कि पहले भी वर्णन किया जा चुका है रुपये का मूल्य गिरते गिरते १८६५ में १ शिलिंग और एक पैसे रह गया था, परन्तु इसके पश्चात् इसका मूल्य बढ़ना आरम्भ हो गया। कदाचित् इसका कारण टकसालों का बन्द करना और चाँदी का बाहर से न मँगाना रहा हो। कारण कुछ भी हो, रुपये का मूल्य बढ़ते २ एक शिलिंग ४ पैसे तक पहुँच गया था। सरकार यहीं पर विनिमय दर को निश्चित करके भारतवर्ष में १५ रुपये प्रति गिन्नी की दर पर स्वर्ण स्तर का सूत्रपात करना चाहती थी।

सैनिक प्रबन्ध:—१८६५ में सैनिक प्रबन्ध सम्बन्धी एक सुधार

जिसको भारत की अत्यन्त धीरे २ चलने वाली मशीन पिछले १६ वर्षों से करने का विचार कर रही थी, पास किया गया। इस परिवर्तन से भारत-सरकार तथा इंग्लैंड की सरकार दोनों सहमत थीं और इसके ऊपर लार्ड डफरिन और लार्ड लेन्सडाउन के काल में पर्याप्त विवेचना हो चुकी थी। इससे पूर्व भारत में तीन पृथक् २ प्रेजीडेन्सी सेनाएँ थीं; जिनके तीन ही कमाण्डर-इन-चीफ होते थे और जिस प्रकार बंगाल का कमाण्डर-इन-चीफ वाइसराय की कौंसिल का सदस्य होता था, उसी प्रकार मद्रास और बम्बई के कमाण्डर-इन-चीफ भी वहाँ की कौंसिलों के सदस्य होते थे। अब से आगे समस्त भारतीय सेना का केवल एक ही कमाण्डर-इन-चीफ होने लगा और उसके नीचे चार लेफ्टिनेंट जनरल बंगाल, मद्रास, बम्बई तथा उत्तरी पश्चिमी प्रान्त (यू० पी०) पंजाब सहित के लिए होते थे। शासन-सम्बन्धी सुधार तो यह था ही, परन्तु इसमें भारत का एकीकरण भी निहित था। तीन पृथक् सेनाओं की प्रणाली अतिप्राचीन हो चुकी थी और उस समय की याद दिलाती थी जब भारत में अंग्रेजों के तीन प्रेजीडेन्सी नगर एक दूसरे से पृथक् थे; परन्तु अब तो तीनों प्रेजीडेन्सियों का क्षेत्र मिल कर एक हो गया था। अब मद्रास तथा बम्बई को अपनी अपनी सीमाओं की रक्षार्थ पृथक् सेना रखने की आवश्यकता नहीं थी। बिलोचिस्तान से बर्मा तक फैली हुई भारत की सीमा पर यत्र तत्र रक्षा के अतिरिक्त अब देश के भीतरी भाग में सेना रखने की आवश्यकता शेष नहीं रही थी।

अफीम कमीशन की रिपोर्ट :—१८६३ में पार्लियामेंट के एक ऐक्ट ने एक कमीशन इस बात के लिए नियुक्त किया था कि वह भारत में अफीम के उपयोग, उसके द्वारा जन-साधारण के स्वास्थ्य पर पड़ने वाले प्रभाव की जांच करके यह सुझाव रखे कि क्या औषधि रूप में प्रयोग करने के अतिरिक्त अफीम की बिक्री को बन्द किया जा सकता है। अब १८६५ में इस कमीशन की रिपोर्ट प्रकाशित हुई। अफीम को पैदावार पर भारतवर्ष में राज्य का एकाधिकार था। और इससे सरकार को बड़ा लाभ होता था। पोस्ट की कृषि पर सरकार नियन्त्रण रखती थी और गाजीपुर तथा पटना अफीम बनाने के दो कारखाने थे। भारत में पैदा की गई अफीम का एक बड़ा भाग चीन को भेज दिया जाता था और शेष भारतीय उपयोक्ताओं के लिए रख लिया जाता था। भारत में भी इसका निषेध करने वालों की

कमी नहीं थी, और इंग्लैंड में भी एक ऐसा दल था जो सरकार के इस प्रकार अफीम उत्पादन को अनैतिक ठहराता था और उसका कहना था कि इससे कितनी ही आर्थिक हानि क्यों न हो। इनका विश्वास था कि अफीम को खाकर या पीकर उपभोग, स्वास्थ्य तथा चरित्र के लिए हानिकारक है। उनका विचार था कि चीनियों को १८४२ के अफीम युद्ध में अपने देश में अफीम की आयात की आज्ञा अपनी इच्छा-विरुद्ध देने और अपने देश का अहित करने के लिए अन्यायपूर्ण दबाया गया था। परन्तु यदि इस बात को ठीक भी मान लिया जाय तो फिर १८५८ की टीन्सटीन सन्धि में चीनियों ने स्वेच्छा से अपने देश में अफीम उपभोग की बुराइयों को बहुत बड़ा चढ़ा कर वर्णन किया जाता है। उन्होंने अफीम खाने की पश्चिमी देशों में मदिरा पान से तुलना की और कहा कि दोनों ही पदार्थों को कम मात्रा में प्रयोग करने से कोई हानि नहीं होती और जिस प्रकार यूरोपीय देशों में मदिरा-पान का पूर्ण निषेध ठीक नहीं है, उसी प्रकार भारत में अफीम का पूर्ण निषेध ठीक नहीं है। यह चीन की अपनी घरेलू बात है कि वह भारतीय अफीम का आयात करते हैं या नहीं। भारत में राज्य का नियन्त्रण होने से निश्चित क्षेत्रों ही में इसकी खेती होती है। निस्सन्देह भारत की अफीम संसार भर में श्रेष्ठ होती है और यदि चीनी लोग भारत से अफीम नहीं मंगाते तो वे अपने ही देश में पैदा होने वाली निम्न प्रकार की अफीम का उपयोग करेंगे परन्तु इन सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात राज्य की आय की थी। कमीशन ने कहा था कि भारत (की अंग्रेजी सरकार) का कोष अभी ऐसी स्थिति में नहीं है कि अफीम से पैदा होने वाली आय को छोड़ दिया जाय। कमीशन की बातों में कुछ तथ्य अवश्य था क्योंकि सरकार के कानूनों द्वारा अफीम का उपयोग सर्वथा बन्द करना असम्भव था, परन्तु विरोधियों को इससे सन्तोष नहीं था और उनके अधिक जोर देने पर चीन की सरकार के साथ यह निश्चय किया गया कि जनवरी १९०८ से चीन की सरकार कम से कम अफीम का आयात करेगी; परन्तु इससे भारतीय जनता के स्वास्थ्य और चरित्र पर क्या प्रभाव पड़ा ?

१८६६ का दुर्भिक्षः—भारत में पिछले २० वर्षों से कोई दुर्भिक्ष नहीं पड़ा था और १८८३ के पश्चात् प्रथम बार दुर्भिक्ष निवारण नियमों की परीक्षा हुई। १८९५ में भी वर्षा बहुत कम हुई थी और १८९६ में तो

बिल्कुल ही सूखा पड़ गया था। संयुक्त प्रान्त, मध्य प्रान्त, बरार, बंगाल के जिलों, मद्रास, तथा बम्बई, राजपूताना तथा ऊपरी ब्रह्मा में सब जगह अना-वृष्टि तथा अभाव का साम्राज्य था। अकेले ब्रिटिश भारत में ७॥ लाख आदमी अकाल के गाल में समा गये। १८६७ के वसंत में ४० लाख मनुष्यों को सरकारी सहायता दी जा रही थी। लगान की छूट तथा अन्य सब क्रम मिला कर सरकार को २५॥ लाख पौंड व्यय करना पड़ा। दुर्भिक्ष-निवारण का सर्व-श्रेष्ठ कार्य संयुक्त प्रान्त में, जिसको उस समय उत्तरी पश्चिमी प्रान्त कहते थे, किय गया परन्तु मध्य प्रान्त में यह सर्वथा असफल रहा।

१८६६ की महामारी (प्लेग) :—दुर्भिक्ष के साथ ही साथ भारत में एक और भयंकर आपत्ति आई। अगस्त १८६६ में बम्बई से प्लेग की सूचना आई। दुर्भिक्ष की अपेक्षा प्लेग का प्रभाव अत्यन्त भयंकर होता है। यदि प्रकृति विशेषतया असन्तुष्ट नहीं होती तो दूसरे ही वर्ण दुर्भिक्ष का रोग कट जाता है। प्रकृति के मुस्कराते ही पृथ्वी उल्लास के मारे लहलहा उठती है और थोड़े ही काल में उदर-ज्वाल पूर्ववत् शान्त होने लगती है। परन्तु महामारी का विनाशकारी विष धीरे २ बढ़ता ही रहता है और मानवी दूर-दर्शिता एवं वैज्ञानिक प्रयत्नों के हाँते हुये भी इसके दुःखान्त नाटक का क्रम चलता ही रहता है। इस महामारी ने जैसे भारत-भूमि को अपना विनाश बना लिया हो। प्रतिवर्ष यम का यह भयंकर दूत अब भी सहस्रों निर्दोष नर-नारियों को पकड़ कर यमपुरी ले जाता है। यूनान की सभ्यता की भाँति इस महामारा का इतिहास भी बड़ा प्राचीन बतलाया जाता है। कहते हैं कि प्रथम बार इसने एथेन्स में ईसा के ४३१ वर्ष पूर्व दर्शन दिये थे और अनेकों वीर तथा वीराङ्गनाओं और बड़े २ राजनीतिज्ञों की क्षण भर में ऐहिक लीला समाप्त कर डाली थी। फिर चौदहवीं शताब्दी के मध्य में (१३४६-४९) 'काली मृत्यु' बनकर इसने यूरोप के रंग मंच पर नग्न नृत्य किया और अकेले इंग्लैंड की ३ जनता को पटाक्षेप होते २ विलीन कर गई। देश की सामाजिक एवं आर्थिक दशा कुछ से कुछ हो गई। एक बार फिर इसने १६६५ में लंदन यात्रा की और इस बार भी अपनी पूरी बलि लेकर ही संतोष किया।

चीन के कतिपय अधिक जन-संख्या वाले प्रान्तों से इसने निकलना स्वीकार किया। कुछ काल तक ऐसा प्रतीत होने लगा था कि बहुत अधिक यात्रा करने से थक जाने के कारण अब यह विश्राम करेगी, परन्तु उन्नीसवीं

शताब्दी के अन्तिम चरण में इसने एक बार फिर विश्व विजय करने की सोची और अबकी बार इसका प्रथम आक्रमण १८७७-७८ में रूस में अस्ट्राखॉ पर हुआ। फिर बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में इसने चीन से धीरे ९ बाहर जाने का प्रयत्न किया। इसके आने की सूचना लेकर कुछ चूहे अनाज से भरे जहाजों में बैठ कर हांगकांग से बम्बई पहुँच चुके थे। १८०६ की पतझड़ ऋतु में बम्बई में इसका प्रकोप आरम्भ हुआ। नगर-निवासी अपने २ घरों को छोड़कर भाग निकले। फरवरी १८६७ तक नगर से ४ लाख आदमी भाग गये थे। डाक्टरों ने घर २ का निरीक्षण करने, पृथक औषधालय तथा कैम्प स्थापित करने, और टीका लगाने की योजना तैयार की; परन्तु ये सब बातें उस समय भारतीय जनता को अज्ञानवश प्रिय तथा सत्य नहीं थीं। १८६७ में एक सैनिक तथा एक सिविल अफसर जो महामारी निवारण का में लगे हुये थे, पूना में वध कर दिये गये। मार्च १८६८ में बम्बई में भयंकर उपद्रव हुआ। इसी समय हिन्दुस्तानी भाषाओं में प्रकाशित होने वाले समाचारपत्रों ने सरकार की कड़ी आलोचना की थी, इसलिये उनका मुँह बन्द कर दिया गया। इससे विरोध की भावना और भी अधिक बढ़ गई। भारतीय जनता के इस विरोध का आधार यद्यपि अज्ञान तथा भय था तो भी यह विरोध बड़ा भयंकर और वास्तविक था। इसकी वास्तविकता को ध्यान में रखकर उन सब कठोर नियमों को, जिनको डाक्टरों ने लागू करने के लिये सिफारिश की थी, त्याग दिया गया। देश से प्लेग का उन्मूलन न किया जा सका और इसको नियन्त्रण में रखने का ही प्रयत्न किया गया।

सीमान्त प्रदेश की समस्या :—चित्राल के साथ भारत की अंग्रेजी सरकार के बन्धनों का उल्लेख पहले अध्याय में किया जा चुका है। १८६३ के 'दुरंड समझौते' के अनुसार यह छोटी-सी पहाड़ी रियासत भारत की सरकार के प्रभाव क्षेत्र में सम्मिलित कर ली गई थी। अंग्रेजी सरकार रियासत पर नियंत्रण रखने की बहुत काल से इच्छुक थी और उसकी परराष्ट्र नीति पर अधिकार करने की तो उसकी बड़ी ही उत्कट अभिलाषा थी। काश्मीर राज्य मेंगिगित में एक ब्रिटिश एजेन्सी स्थापित कर दी गई थी और चित्राल के मास्तूर पर एक चौकी भी स्थापित कर दी गई थी जहाँ से ब्रिटिश पोलिटिकल अफसर यदा-कदा राजधानी में हो आया करता था। जनवरी १८६१ में चित्राल के महतर (शासक) का शेर अफजल जो पहले महतर रई चुका

था और मंडोल के शासक उम्रखॉ की उत्तेजना से वध कर दिया गया। जब विद्रोह हुआ तो डाक्टर राबर्टसन, जो गिलगित में ब्रिटिश एजेन्ट था चित्राल गया। विप्लवकारी सरदारों ने उससे मास्तूज चले जाने के लिये कहा और जब उसने इन्कार कर दिया, तो उसको राजधानी में ही कैद कर लिया। भारत की सरकार ने सर आर० लो को १५००० इन सैनिकों के साथ मालकंद दर्रे और स्वात राज्य में होकर चित्राल के लिये भेजा। स्वाती लोग भी इस समय चित्रालियों का पक्ष लेकर उठ खड़े हुये थे। कैली ने गिलगित से चल कर शान्दू दर्रे का जो १२००० फुट की ऊँचाई पर है पार किया और २२० मील ऊबड़ खाबड़ शत्रु के पहाड़ी प्रान्त को पार कर चित्राल नगर को विद्रोहियों से बचा लिया। नगर को रक्षार्थ जो ५०० आदमी नगर के भीतर थे अब तक ४६ दिन से वीरता के साथ सामना कर रहे थे। लार्ड एलगिन की इच्छा तो चित्राल पर अधिकार बनाये रखने की थी, परन्तु राजेवरी की (इंगलैंड की) सरकार ने देश को खाली करने की ही आज्ञा दी क्योंकि अधिकार करने में अंग्रेजी सरकार का अधिक हित नहीं था। परन्तु इंगलैंड की उदार दलीय सरकार अपने इस प्रस्ताव को कार्यान्वित होने से पहले ही अपने पद से पृथक् हो गई और सेलिसवरी की सरकार ने चित्राल के अंग्रेजी राज्य की सीमा तक एक सैनिक सड़क बनाने तथा उस पर यत्र-तत्र रक्षार्थ सैनिक ठुकड़ी रखने की आज्ञा दी।

इस प्रश्न को लेकर इंगलैंड में एक बड़ा भारी विवाद उठ खड़ा हुआ था। इसमें संदेह नहीं कि चित्राल की राजनीति में अंग्रेजों के हस्तक्षेप करने के कारण समस्त क़्वायली प्रान्त में उपद्रव होने लगे थे। इसके कुछ और भी कारण रहे होंगे। ये क़्वायली लोग अपनी स्वाधीनता पर प्राण देते थे और गत दस वर्षों में अंग्रेजों की 'आगे बढ़ो' नीति को ये लोग बढ़े सशंक नेत्रों से देख रहे थे। जब उन्होंने अपने प्रान्तों तक रेलों और सड़कों का निर्माण होते और उन पर रक्षार्थ सैनिकों को निरन्तर अपनी ओर बढ़ते देखा, तो उनको यह सब बहुत बुरा लगा। अब वे सोचने लगे थे कि यह सीमा रेखा, जो अंग्रेज अफसरों ने अफगानिस्तान तथा उनके देश के बीच निर्धारित की थी, कुछ समय पश्चात् ब्रिटिश भारत की सीमा बन जायगी। और इसमें कोई सन्देह भी नहीं कि 'आगे बढ़ो' नीति के समर्थकों की ऐसी ही अभिलाषा भी थी। मुस्लिम लोगों ने मुस्लिम जनता में, जो स्वयमेव बढ़ी

युद्धप्रिय थी, वास्तविक ईसाइयों के विरुद्ध, जो उनके वतन को हड़पना चाहते थे, उत्तेजना का प्रचार किया। अब्दुर रहमान ने भी इस समय जिहाद (धर्म युद्ध) के ऊपर एक सैद्धान्तिक लेख प्रकाशित किया था। इसी समय इंग्लैंड में टर्की सुल्तान के विरुद्ध, जो मुसलमानों का मुखिया था, उसके आमिनिया निवासियों पर अत्याचार करने के कारण, भयंकर विषवमन किया जा रहा था। इसलिये क़वालियों को इससे और भी अधिक उत्तेजना मिली।

उत्तरी पश्चिमी सीमा का युद्ध जून १८६७ में आरम्भ हुआ। क़वालियों ने टोची घाटी में अंग्रेज एजेन्ट और उसके रक्तक दल पर आक्रमण कर दिया। जौलाई में स्वात के लोगों ने अंग्रेजों के चकदरा और मालकन्द चौकियों पर भयंकर आक्रमण किया। अगस्त में काबुल नदी के उत्तरी प्रान्त में रहने वाले लोगों ने पेशावर के समीप नदी के दक्षिण और खैबर दर्रे के निकट विद्रोह करने आरम्भ कर दिये। अफरीदी लोगों ने समान चट्टान की चौकियों को घेर लिया। इनमें से एक चोकी पर सिक्ख सैनिकों ने भारतीय वीरता का परिचय दिया और अपनी ड्यूटी पर ही लड़ता हुआ एक २ सैनिक काम आया। अलीमस्जिद और लन्दीकोतल के अंग्रेजी दुर्ग पर भी उनका अधिकार हो गया।

इस प्रकार समस्त पठान देश-विद्रोह की लपटों में जल रहा था। इस भयंकर विद्रोह उजाला को शान्त करने के लिये एक विशाल सेना एकत्रित की गई। दो भयंकर आक्रमण किये गये। पहला आक्रमण मोहम्मद लोगों के विरुद्ध किया गया। बिन्डन बुड की सेना ने चकदरा को जीत कर शत्रुओं के देश में प्रवेश किया। भयङ्कर युद्ध के पश्चात् जनवरी १८६८ में मोहम्मदों ने शस्त्र डाल दिये। दूसरा आक्रमण पेशावर के दक्षिण पश्चिम में अफरीदी प्रान्त में, टिराह घाटी में किया गया। इस प्रान्त से यूरोपियन अभी तक पूर्णरूप से जानकारी नहीं रखते थे। ३५००० सेना को लेकर विलियम लोकहार्ट रवाना हुआ। अक्टूबर में दरगाई की ऊँचाइयों पर सफल आक्रमण किये गये। अंग्रेजों के १६६ सैनिक हताहत हुये। सम्पूर्ण घाटी को छलनी कर दिया गया और उन सब गांवों को जिनकी किलेबन्दी हो रही थी नष्ट भ्रष्ट कर डाला गया। परन्तु अफरीदी लोग बड़े साहस और वीरता से अन्त तक छापामार, प्रणाली से युद्ध करते रहे और इस प्रकार अंग्रेजों को

धन तथा जन की भयंकर हानि पहुँचाई। दिसम्बर १८६७ में लौटती हुई अंग्रेजी सेना को बड़ी क्षति उठानी पड़ी। परन्तु अफरीदी लोग समझ गये थे कि इस प्रकार निरन्तर युद्ध करने से उनको अधिक हानि होगी और इसलिये जब १८६८ की वसन्त ऋतु में अंग्रेजों ने फिर आक्रमण आरम्भ किया तो उन्होंने हथियार डाल दिये और जो क्षतिाना उन पर किया गया था, उसका भुगतान कर दिया। इस युद्ध में उनकी गणना के अनुसार अंग्रेजों के १२०० आदमी हताहत हुए परन्तु अतुल धन-राशि व्यय करनी पड़ी। १८६७ को राज्य-क्रान्ति के पश्चात् अब तक अंग्रेजों की सेना की इतनी कठिन परीक्षा नहीं हुई थी।

चौतीसवाँ अध्याय

(अ) लार्ड कर्जन तथा पश्चिमोत्तर सीमा-नीति

जनवरी १८६६ में लार्ड एलगिन के पश्चात् लार्ड नेथनील कर्जन भारत का वाइसराय बन कर आया। भारत आने के पूर्व उसने इंग्लैंड की पार्लियामेंट तथा मन्त्रिमण्डल में बड़ा नाम प्राप्त कर लिया था। उसकी अवस्था इस समय ४० वर्ष की थी और वह लार्ड सेलिस बरी के शासनकाल में भारतवर्ष तथा परराष्ट्र-विभाग में अण्डर सेक्रेटरी रह चुका था। वह अपनी इच्छा से आयरलैंड का लार्ड बना था, जिससे यदि वह चाहे तो रिटायर होने के पश्चात् भी हाउस ऑफ कामन्स का सदस्य बना रहे। उसकी हार्दिक इच्छा थी कि वह भारत का गवर्नर जनरल नियुक्त किया जाय। वाइसराय बनने से पहले वह चार बार भारत आ चुका था और उसने लंका, अफगानिस्तान, चीन, फारिस, तुर्किस्तान, जापान तथा कोरिया आदि देशों का भी पर्यटन किया था। अन्तिम चार देशों के शासकों के साथ उसने व्यक्तिगत रूप से भेंट की थी। एशिया की समस्या पर वह तीन महत्वपूर्ण पुस्तकें लिख चुका था। संक्षेप में भारत का इतना बृहत् ज्ञान रखने वाला और कोई आदमी उससे पहले वाइसराय नहीं बना था। वह स्वयं बहुत अधिक काम करने वाला था और अपने सहयोगियों तथा आश्रितों से भी बहुत अधिक काम लेता था। शासन का ऐसा कोई विभाग नहीं था जिस पर उसकी छाप न लगी हो, परन्तु उसने कुछ ऐसे कार्य

भी किये, जिनके कारण उसकी इंगलैंड में और विशेषकर भारत में बड़ी आलोचना की गई।

नई सीमान्त नीति—लार्ड कर्जन की परराष्ट्र-नीति का सम्बन्ध विशेषकर उत्तरी पश्चिमी सीमांत प्रदेश, अफ़ग़ानिस्तान, फारिस तथा तिब्बत से रहा। इन समस्याओं में उसको सर्वप्रथम कबाइली प्रान्तों की व्यवस्था की ओर ध्यान देना पड़ा। जैसा कि गत अध्याय में उल्लेख किया जा चुका है, टिह्रा आक्रमण १८६८ की बसन्त ऋतु में समाप्त हो गया था, परन्तु एक वर्ष पश्चात् तक जब कर्जन ने अपना पद संभाला १०,००० सैनिक चित्राल, टोची घाटी, लन्दी कोतल तथा खैबर दर्रे में डटे हुए थे। पार्लियामेंट में लार्ड कर्जन ने चित्राल-सम्बन्धी एलगिन की नीति तथा चित्राल से पेशावर तक सड़क बनवाने का समर्थन किया था और लोग उसको 'आंगे बढ़ो' नीति का सबसे बड़ा प्रतिपादक तथा समर्थक मानते थे। परन्तु भारत में आने पर उसने प्रकट किया कि इस नीति को चरम सीमा तक ले जाने वालों के साथ उसकी सहानुभूति नहीं थी। उसने गत वर्षों की सीमान्त नीति को सर्वथा ही बदल डाला था, क्योंकि अब त्रिचाल, क्वेटा तथा अन्य चौकियों को खाली करने का ही प्रश्न नहीं रह गया था। धीरे-धीरे ब्रिटिश सेना का अधिकांश खैबर दर्रे, कुर्रम घाटी, वज़ीरस्तान तथा साधारणतया कबाइली प्रान्तों से हटा लिया गया, यद्यपि मालकन्द तथा दरगाई आदि चौकियों को अछुएँ रखा गया। उनके स्थान पर कबाइली लोगों की सेना को ब्रिटिश अफसरों के मातहत रखा गया। खैबर दर्रे की रक्षा के लिए, उदाहरणतया १९१४ तक अफ़रीदी सेना रक्खी गई। ब्रिटिश सीमा के भीतर सेना की वृद्धि करके मुख्य-मुख्य स्थानों पर उसको रक्खा गया और सैनिक दृष्टि-कोण से बहुत महत्वपूर्ण रेलवे लाइन खैबर दर्रे तक दरगाई और जमरूद तक और कुर्रम घाटी के लिए थल तक बना दी गई। कबाइलियों के लिए गोला-बारूद की मात्रा सीमित करने का प्रयत्न किया गया और उनको स्पष्ट रूप से यह समझा दिया गया कि अंग्रेज उनकी स्वतन्त्रता का सम्मान करेंगे और उनको चाहिए कि वे ब्रिटिश राज्य पर धावे न किया करें। इस नीति की सफलता इस बात से प्रकट हो जाती है कि १८६७-६८ के पश्चात् दस वर्ष तक शान्तिकाल बना रहा।

उत्तमी-पश्चिमी सीमाप्रान्त :—अब तक उत्तरी पश्चिमी सीमा के

प्रान्त पंजाब के लेफ्टिनेंट गवर्नर के अधीन थे और भारत सरकार का नियंत्रण उन पर सीधा नहीं था। यह व्यवस्था उस समय से चली आ रही थी जब पंजाब स्वयं एक सीमाप्रान्त था और उसका शासन प्रबन्ध अधिकतर उन जिला अफसरों के हाथ में छोड़ दिया गया था जिनको बहुत अधिक स्वतन्त्रता प्राप्त थी। उनके सम्बन्ध जनता के साथ बड़े गहरे तथा व्यक्तिगत होते थे और जब तक यह प्रणाली सफलता-पूर्वक कार्य करती रही, तब तक ये अफसर कलकत्ता या शिमला किसी को भी अधिक नहीं सुनते थे। परन्तु जब ब्रिटिश साम्राज्य की पश्चिमोत्तर सीमा और आगे की बढ़ी तो पंजाब का भी अधिकांश सुव्यवस्थित प्रान्तों की भांति कानून और और व्यवस्था के अन्तर्गत आ गया। लार्ड लिटन ने, जैसा कि पहले भी उल्लेख किया जा चुका है, इन सीमाप्रान्तों को ऐसे अफसरों के अधिकार में रखने का प्रस्ताव रखा था जिन पर सर्वोच्च सत्ता का सीधा नियंत्रण हो, परन्तु यह प्रस्ताव कार्यान्वित नहीं किया जा सका। १९०१ में लार्ड कर्जन ने इसको कार्य रूप में परिणत किया। पंजाब के सिन्ध नदी के पश्चिम के प्रान्तों को मालकन्द, खैबर, कुर्म, टोची आदि से मिला कर ४०,००० वर्गमील के क्षेत्रफल का एक पृथक् पश्चिमोत्तर प्रान्त बनाया गया और भारत सरकार के अधीन एक चीफ कमिश्नर के सुपुर्द कर दिया गया। उसी समय गड़बड़ दूर करने के लिये पुराने उत्तरी-पश्चिमी प्रान्त का नाम बदल कर 'संयुक्त प्रान्त व अवध' कर दिया गया। उस समय इस परिवर्तन का भी विरोध किया गया था। नया प्रान्त बनने से पंजाब के कुछ अफसरों को अपनी शक्ति घट जाने से बड़ा दुख हुआ और उन लोगों ने बड़ा विरोध किया था।

अफ़गानिस्तान :—पश्चिमोत्तर सीमा पर शान्ति और व्यवस्था स्थापित हो जाने से अफ़गानिस्तान के साथ सम्बन्ध भी अपेक्षाकृत अच्छे हो गये। १८६७-६८ के पश्चात् ये सम्बन्ध बड़े बुरे हो रहे थे। अमीर बदी विकट परिस्थिति में था। यद्यपि अनेकों अंग्रेजों ने अब्दुर रहमान पर यह दोषारोपण किया था कि गुसरीति से कबाइलियों में उत्तेजना फैला रहा था, परन्तु यह अपराध निराधार था। कबाइलियों ने स्वयं उससे प्रार्थना की थी और स्वयं उसके देशवासी प्रसन्नतापूर्वक अराजकता से लाभ उठाने के बड़े इच्छुक थे। परन्तु अब्दुर रहमान की विजय हुई और उनको अपने

नियंत्रण में बनाये रखना उसके लिए कुछ कम श्रेय की बात नहीं थी। एक महत्वपूर्ण घोषणा में उसने उनको शान्ति बनाये रखने का आदेश दिया था और कहा कि यह आन्दोलन जहाद या धार्मिक युद्ध नहीं था। उसने घोषणा की कि जब धार्मिक युद्ध का उपयुक्त समय आवेगा, वह स्वयं इसका ऐलान कर देगा और उनका नेता बन कर युद्ध में आगे चलकर भाग लेगा। १६०० में उसने अपना आत्म-चरित्र प्रकाशित किया। निस्सन्देह उनका दृष्टिकोण अंग्रेजों के दृष्टिकोण से स्वाभाविक रूप से भिन्न था; परन्तु ब्रिटिश नीति की जो शिकायतें उसने की हैं उनसे अंग्रेजों के साथ मित्रता बनाये रखने का महत्व सिद्ध होता है। उसका कहना था कि अंग्रेजों की उसके देश के प्रति नीति कभी स्थायी न रही वरन् उसमें समय-समय पर परिवर्तन होता रहता था। ग्रेट ब्रिटेन को चाहिए कि वह अपने मित्र को रूसी आक्रमण के विरुद्ध अधिक से अधिक भौतिक एवं नैतिक सहायता देता। उसको कबाइली प्रान्तों को अपने राज्य में सम्मिलित करने तथा दो बड़े मुसलमानी राज्यों—टर्की और फारिस—से मित्रता करने की आज्ञा होनी चाहिए। इस योग्य शासक का देहान्त १६०१ में हो गया। उसकी योग्यता एवं सर्वप्रियता का सबसे बड़ा सबूत यही था कि उसके पश्चात् उसका पुत्र हबीबुल्ला शान्तिपूर्वक उसका उत्तराधिकारी स्वीकृत कर लिया गया और उसके अनेक पुत्रों में कोई गृहयुद्ध नहीं हुआ, जो अफगान इतिहास की एक नई और आश्चर्यजनक बात थी। नये अमीर के साथ अंग्रेजों के सम्बन्ध आरंभमें इतने अच्छे नहीं थे, जितने कि उसके पिता के साथ थे। अंग्रेजी सरकार अब्दुर्रहमान के साथ की गई सन्धि को व्यक्तिगत मानती थी और यह चाहती थी कि नये अमीर के साथ संधि भी नई की जानी चाहिए। हबीबुल्ला का कहना था कि 'धि दो देशों के बीच में थी और इसलिए उसका नया करना आवश्यक नहीं था। कुछ समय के लिए भारतवर्ष और अफगानिस्तान के बीच सम्बन्ध बन्द रहा है और अमीर ने अपनी वार्षिक सहायता भी लेना बन्द कर दिया। निस्सन्देह उनकी कुछ आन्तरिक कठिनाइयां थीं। तीन वर्ष पश्चात् नवम्बर १६०४ में जब लार्ड कर्जन इंग्लैण्ड में था तो स्थानापन्न वाइसराय लार्ड एम्प्टहिल ने सर लुई डेन को एक मिशन पर काबुल भेजा। यह मिशन जो काबुल में १२ दिसम्बर १६०४ से २६ मार्च १६०५ तक रहा, इस बात में सफल रहा कि अमीर के साथ अच्छे सम्बन्ध स्थापित हो गये, परन्तु

कुछ ऐसी रियायतों के आधार पर, जिनके कारण कुछ समालोचकों की दृष्टि में अंग्रेजों की साख तथा मान को ठेस लगी, हवीबुल्ला ने अपने आपको 'हिज़ मैजेस्टी' (महाराज) कहलवाया। अन्त में सन्धि-सम्बन्धी उसी का दृष्टिकोण स्वीकार किया गया और उसने भी अपनी अब तक आर्थिक सहायता ले लेने की अनुमति दे दी।

फारिस के साथ सम्बन्ध :—लार्ड कर्जन से पहले गत बीस वर्षों में भारत सरकार की परराष्ट्र नीति का मुख्य सम्बन्ध मध्यपूर्व और विशेषकर फारिस की खाड़ी से रहा था। ग्रेट ब्रिटेन का इस खाड़ी में प्रभाव सदा से बड़ा विचित्र रहा था। अंग्रेजों ने बड़ी दूरदर्शिता से काम लेकर कभी भी अपना कोई सुनिश्चित अधिकार इसपर प्रकट नहीं किया था और उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक आकर उनका अधिकार पूर्ण हो गया था। सत्रहवीं शताब्दी में यह खाड़ी अंग्रेजों को व्यापारिक दृष्टि से बड़ी महत्वपूर्ण रही थी। यहाँ पर रहने वाले समुद्री डाकुओं को समाप्त करके तथा यहाँ पर रक्षार्थ पुलिस का कार्य करते हुए १८५३ से अंग्रेजों ने इसमें प्रत्येक जाति के जहाजों को स्वतन्त्र रूप से आने-जाने दिया था। भारत के लिए समुद्री मार्ग को सुरक्षित रखने के विचार से अंग्रेजों को अदन से बिलोचिस्तान तक समुद्र तट की देख-भाल रखनी पड़ती थी, परन्तु अब तक किसी भी स्वतंत्र मुसलमानीराज्य के साथ हस्तक्षेप नहीं किया गया था। इसी प्रकार खाड़ी के किसी ओर भी उन्होंने कोई स्थलीय आधिपत्य स्थापित नहीं किया था; परन्तु वह किसी यूरोपियन शक्ति को भी ऐसा नहीं करने दे सकते थे। १८६८ में एक फ्रेंच राजनीतिज्ञ ने अपनी व्यवस्थापिका सभा में यह घोषणा की कि ग्रेट ब्रिटेन फारिस की खाड़ी में अकेले ही शान्ति बनाये रखने और अरब, फारिस तथा टर्की के सरदारों के पारस्परिक झगड़ों का निपटारा करने का अधिकार यूरोप की किसी भी शक्ति ने स्वीकार नहीं किया है। इस कथन में यद्यपि वास्तविकता पर पर्दा डाला गया था तो भी एक तथ्य था और इसके पश्चात् ११ वर्ष तक फ्रान्स, रूस, जर्मनी तथा टर्की अपनी कूटनीतिक चालों द्वारा अंग्रेजों के गुप्त अधिकारों की मान्यता की परीक्षा लेते रहे। १८६८ में अमन के सुल्तान ने १८६१ के एक गुप्त समझौते के विरुद्ध मसकत से ५ मील दक्षिण-पूर्व में 'जिसा'बन्दरगाह पर फ्रान्स को अपने जहाजों के लिए कोयला पानी लेने का स्टेशन बनाने के

और इसकी किलेबन्दी करने का अधिकार दे दिया। एक वर्ष पश्चात् जब इसका पता चला तो लार्ड कर्जन कलकत्ता से एक जहाजी बेड़े का दस्ता रवाना किया और सुल्तान को उसके राजमहल को तोपों से उड़ा देने का भय दिखा कर फ्रान्स को दिया गया अधिकार वापिस करा दिया। इसके पश्चात् लन्दन तथा पेरिस में जो बातचीत चली, उसमें फ्रान्स के दृष्टिकोण को प्रथम राज्य में १८६२ की एक संधि के अनुसार अमन राज्य में दोनों (इंगलैंड और फ्रांस) में से किसी को भी भूमि-सम्बन्धी अधिकार स्थापित करने का अधिकार नहीं था। १९०० में रूस के भी ऐसे ही एक प्रयत्न को विफल किया गया। खाड़ी के सिरे पर कोवीत नामक एक बड़ा सुन्दर बन्दरगाह है। वहाँ के शासकों को 'शेख मुबारक' की उपाधि प्राप्त है। टर्की उस पर अपना अधिकार स्थापित करना चाहता था, परन्तु अंग्रेजों ने ऐसा न होने दिया और फिर १८९९ में 'शेख मुबारक' के साथ एक समझौता करके उसको इस बात के लिए बाध्य किया कि वह किसी भी विदेशी शक्ति के साथ कोई भी रियायत न करे। फलस्वरूप जब जर्मनो ने १९०० में अपनी बर्लिन-बाग़दाद रेल के लिए स्टेशन बनाने के लिए स्थान की प्रार्थना की तो उसकी यह प्रार्थना ठुकरा दी गई। १९०३ में ब्रिटिश परराष्ट्र सेक्रेटरी लार्ड लेन्स डाउन ने यह महत्वपूर्ण घोषणा की कि यदि कोई शक्ति फारिस की खाड़ी में किसी भी स्थान पर अपना अधिकार स्थापित करने की चेष्टा करेगी तो अंग्रेज जाति अपनी पूरी शक्ति से उसका सामना करेगी।

इस घोषणा की आवश्यकता उपरोक्त घटनाओं के कारण ही नहीं हुई, वरन् इसका एक बड़ा कारण यह भी था कि फारिस का साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो रहा था। यद्यपि दक्षिणी फारिस में व्यापार का अधिकांश अब भी अंग्रेजों के हाथ में था तो भी सम्पूर्ण देश में गत कुछ वर्षों से उनका प्रभाव कम होता जा रहा था। १८८७ में सर हैनरी इमन्ड बुल्क को तेहरान में ब्रिटिश मिनिस्टर के पद पर नियुक्ति होने से अंग्रेजों का गिरता हुआ सम्मान बहुत कुछ सँभल गया था, परन्तु फारिस साम्राज्य के उत्तरी प्रान्त में अंग्रेज रूस का मुकाबला नहीं कर सकते थे। खीवा और बुखारा के पतन के पश्चात् रूस की सीमा १००० मील तक फारिस की सीमा से आ मिली थी। ट्रांसकेस्पियन रेलवे बन जाने और बाल्गा नदी को जहाजों के चलने के योग्य बनाये जाने पर उत्तरी तथा मध्य फारिस का अधिकांश

व्यापार रूसियों के हाथ में चला गया था। परन्तु रूस की व्यापारिक नीति अभी तक एकाधिकार तथा प्रतिबन्ध के नियमों में विश्वास करती थी। फ़ारिस में रेलों के बनने तथा देश की उन्नति के अन्य साधनों पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया था। राजनीतिक एवं व्यापारिक दृष्टिकोण से उत्तरी फ़ारिस में अधिकाधिक रूस का प्रभुत्व स्थापित हो रहा था। क्योंकि फ़ारिस की उत्तरी सीमा सुनिश्चित नहीं थी, इसलिए उसको सरलता से ही भंग किया जा सकता था। फ़ारिस की राजधानी तेहरान रूसी सीमा से लगभग १०० मील के अन्तर पर थी और फ़ारिस की सब से अधिक महत्वपूर्ण सेना फ़ारिसी कज़ाकों की थी जिसके अफसर रूसी लोग थे। सम्भवतः यदि दक्षिणी फ़ारिस में इंग्लैंड का प्रभाव न होता तो सम्पूर्ण देश को ज़ार साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया जाता। लार्ड कर्जन की अनेकों वर्षों से यह धारणा थी कि फ़ारिस में अंग्रेजी प्रभाव को अधिक विस्तृत और प्रबल बनाना चाहिए। १९०३ में फ़ारिस की खाड़ी में जाना, खाड़ी के बन्दरगाहों और देश के भीतरी व्यापारिक केन्द्रों में दूतावास स्थापित करना, सर हैनरी सेकमेहोन की अध्यक्षता में बीमा निर्धारण के लिए सीस्तान में मिशन का जाना, तथा सीस्तान तक एक व्यापारिक मार्ग बनाने के लिए क्वेटा से नज़्की तक रेल बनाने की योजना तैयार करना ऐसे कार्य थे जो ब्रिटिश प्रभाव को बढ़ाने के विचार से किये गये थे। लार्ड कर्जन की इस उत्तेजक नीति की, जो इंग्लैंड की सरकार की भी नीति थी, कड़ी आलोचना की गई है। लार्ड कर्जन का कहना था कि फ़ारिस में ब्रिटिश प्रभाव के सर्वथा लुप्तप्राय हो जाने का भय था। उसकी इस कार्यवाही का इंग्लैंड के लिए लाभकारी यह परिणाम हुआ कि दूसरी शक्तियों ने अपने-अधिकार स्थापित करने के प्रयत्नों को त्याग दिया।

(आ) तिब्बत-समस्या

लार्ड कर्जन की पश्चिमोत्तर सीमाना नीति निस्सन्देह सफल रही, परन्तु तिब्बत-समस्या के सुलझाने में उसने जिस नीति का आश्रय लिया, उसकी कड़ी आलोचना की गई और उसका परिणाम भी सर्वथा असन्तोषजनक ही रहा।

तिब्बत की प्राकृतिक बनावट:—तिब्बत का पठार हिमालय पर्वत के उत्तर में फैला हुआ है। इसकी पश्चिमी तथा दक्षिणी सीमा लगभग

१००० मील तक काश्मीर, पंजाब, गढ़वाल, संयुक्तप्रान्त, नेपाल, शिकम, भूटान, पूर्वी बंगाल तथा ऊपरी ब्रह्मा की सीमा से मिली हुई है। इसके पूर्व में चीन साम्राज्य और उत्तर में पूर्वी तुर्किस्तान हैं। इसका क्षेत्रफल लगभग फ्रान्स और जर्मनी के संयुक्त क्षेत्रफल के समान है; परन्तु इसकी जनसंख्या कोई २० लाख के लगभग होगी। संसार का और कोई इतना बड़ा देश इतनी अधिक औसत ऊंचाई पर नहीं है। इसकी राजधानी लासा समुद्र के धरातल से १२,६०० फुट की ऊंचाई पर है। फरी नगर १५००० फीट की ऊंचाई पर स्थित है। यंग हज्वेंड की साहसिक यात्रा के समय कारोला के स्थान पर १८-१६ हजार फुट की ऊंचाई पर सैनिक कार्यवाही करनी पड़ी थी। तिब्बत पठार की ऊंचाई कहीं-कहीं पर २४ हजार से २५ हजार फीट तक हो गई है। यद्यपि यत्र तत्र उसमें नीची-नीची घाटियाँ भी हैं। देश का अधिकांश भाग वर्ष के बारह महीने बरफ से ढका रहता है और मीलों तक कोई वृक्ष दिखलाई नहीं पड़ता और तेज आँधियाँ चला करती हैं। परन्तु घाटियाँ बड़ी उपजाऊ हैं और उनमें फसलें लहलहाती हुई दृष्टि-गोचर होती हैं। यातायात के साधन बड़े दुर्गम हैं। किसी भी प्रकार की गाड़ियाँ यहां पर चल ही नहीं सकतीं। व्यापारिक मार्ग ऐसी-ऐसी ऊंचाइयों पर होकर जाते हैं, जहां पर वायु तेज होने के कारण मनुष्य चेतनाहीन होने लगते हैं। प्रकृति ने ही देश को सब से पृथक् बनाया है। फिर यहाँ की सामाजिक, धार्मिक तथा राजनीतिक व्यवस्था शेष मानव जाति के विशेष सम्पर्क को अधिक पसन्द नहीं करती।

राजनीतिक दशा :—तिब्बत निवासी बौद्धधर्म के मानने वाले हैं। यहाँ के राज्य का आधार धर्म है और शासन की बागडोर कुलीन वर्ग के हाथ में है। कुलीन तन्त्र के दो मुख्य अधिपति होते हैं। लासा का दलाई लामा और तालिशहुन्यो मठ का ताशी लामा। इनको बुद्ध का अवतार माना जाता है। जब इनमें से किसी का देहान्त हो जाता है तो उसकी मृत्यु के समय पैदा हुए नवजात शिशुओं में से कोई एक उसका उत्तराधिकारी नियुक्त किया जाता है। जब तक वह वयस्क होता है, तबतक शासन-कार्य एक कौंसिल के हाथ में रहता है। आध्यात्मिक विषयों में ताशीलामा बड़ा माना जाता है, परन्तु राजनीतिक क्षेत्र में दलाईलामा का प्रभुत्व है। पिछले कई सौ वर्षों में ऐसा देखा गया है कि दलाईलामाओं की मृत्यु

अधिकतर उनके वयस्क होने के पूर्व ही हो जाती है और इसलिये राजकार्य धार्मिक कौंसिल के हाथ में ही चलता रहता है। दलाईलामा या वह कौंसिल जो उसका प्रतिनिधित्व करती है तथा कार्यकारिणी को सलाह देने के लिये एक राष्ट्रीय सभा होती है, जिसको सोंग-दु कहते हैं और जिस पर कतिपय वंशपरम्परागत सरदारों एवं लासा के तीन मठों के लामाओं का नियन्त्रण रहता है। अठारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही तिब्बत पर चीन का प्रभुत्व रहा है और चीन के दो बड़े अफसर जो अमवन कहलाते हैं, लासा में रहते हैं तथा तिब्बत की सरकार पर नियन्त्रण करते हैं। ये अफसर रेजीडेण्ट, राजदूत तथा वाइसराय तीनों का कार्य करते हैं। सम्पूर्ण देश में मठों का जाल-सा बिछा हुआ है, जो देश के सामाजिक जीवन पर पूरा नियन्त्रण रखते हैं। मनुष्यों का जीवन बड़ा सादा है और उनका मुख्य उद्यम खेती है। तिब्बत का आदमी अपने जीवन से सन्तुष्ट प्रतीत होता है, और वह आज के मानव की भांति व्याकुल एवं चिन्तातुर नहीं दिखाई देता।

तिब्बत के साथ अंग्रेजों का सम्बन्ध १७७४-७५ से प्रारम्भ होता है। जब वारेन हेस्टिंग्स ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी के एक लेखक वेगिल को ताशीलामा से भेंट करने के लिये भेजा था, उसका बड़ा अच्छा स्वागत किया गया। फिर १७८३ में सेम्युअल टर्नर को भेजा गया, परन्तु उसका इतना अच्छा स्वागत नहीं किया गया और तिब्बत निवासियों ने अंग्रेजों के साथ व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित करने के लिये अरुचि का परिचय दिया। १८११-१२ में मेनिंग, जो एक स्वतन्त्र राजनीतिज्ञ था, लासा तक पहुँचने और बालक दलाईलामा से भेंट करने में सफल हो गया। १८८५-८६ में, जैसा कि पहले वर्णन किया जा चुका है, चीन सरकार ने अनिच्छा से अंग्रेजों को तिब्बत में एक व्यापारिक मिशन भेजने की अनुमति दे दी थी, परन्तु बाद में चलकर यह अधिकार अंग्रेजों को ऊपरी ब्रह्मा को अपने साम्राज्य में सम्मिलित करने का अधिकार प्राप्त करने के बदले त्यागना पड़ा था। १८८७ में तिब्बत-निवासियों ने शिकम के संरक्षित राज्य पर आक्रमण कर दिया था, परन्तु अगले वर्ष उनको निकाल बाहर किया गया। १८९० में ग्रेट ब्रिटेन और चीन की एक सम्मिलित कॉन्फरेन्स में तिब्बत और शिकम की विवादग्रस्त सीमा का निपटारा किया गया और दोनों देशों

का एक सम्मिलित कमीशन व्यापार की सुविधाओं को बढ़ाने और सीमा-वर्ती चरागाहों के प्रश्न का निपटारा करने के लिये नियुक्त किया गया। उन दिनों तिब्बत तथा शिकम दोनों देशों के लोग एक-दूसरे की सीमा के भीतर अपने-अपने जानवरों को चरा लिया करते थे। १८६३ में कमीशन ने एक और सुनिश्चित समझौता किया और तिब्बत शिकम सीमा पर यातुंग में एक व्यापारिक मण्डी की स्थापना की गई। परन्तु कोई व्यवहारिक व्यापार का लाभ न हो सका। चीन वाले नम्रतापूर्वक अफसोस प्रगट करते हुए कहते कि तिब्बत वाले अंग्रेजों के हस्तक्षेप को सहन करने को तैयार नहीं हैं और तिब्बत वाले कहते कि वे चीन की सम्मति के बिना कुछ भी नहीं कर सकते थे।

इसी प्रकार यह अनिश्चितता का वातावरण कुछ समय तक चलता रहा। इस समय लार्ड कर्जन भारत का वाइसराय बनकर आया, उस समय तिब्बत के राजनीतिक वातावरण में दो मुख्य बातें हो रही थीं। प्रथम तो अमचन लोगों का तिब्बत के शासन के ऊपर नियन्त्रण ढीला होता जा रहा था। तिब्बत वाले चीन के प्रभुत्व से छुटकारा पाने की बड़ी उत्कण्ठ अभिलाषा रखते थे और रूस के प्रभाव का स्वागत करने को तैयार थे। दूसरे इस समय दलाईलामा वयरक होकर स्वयं राज्य करने लगा था। उसने कौंसिल को पृथक् कर दिया था। वह स्वयं बड़ा योग्य और महत्वाकांक्षी था। उसके ऊपर दोरजिफ नामक एक रूसी प्रजाजन का, जिसने उन्नति करते २ शासन में एक उंचा पद प्राप्त कर लिया था, बड़ा प्रभाव पड़ा। इस आदमी को १८६८ में ज़ार की बौद्ध प्रजा से धार्मिक कृत्यों के लिये चन्दा लेने के लिये भेजा गया था। इसके पश्चात् वह कई बार रूस गया और १९०० तथा १९०१ में उसने रूसी सम्राट् से भेंट की। रूसी प्रेस ने इस घटना का, यह कहकर कि तिब्बत में रूस का प्रभाव बढ़ रहा था, बड़ा प्रचार किया। रूस के परराष्ट्र सचिव ने सेंट पीटर्सबर्ग में ब्रिटिश राजदूत को यह आश्वासन दिया कि दोरजिफ की रूस-यात्रा का कोई राजनीतिक महत्व नहीं था और रूस का ज़ार भी धार्मिक कार्य के लिये आये हुए दूत को प्रत्यक्षतः मिलने से इन्कार भी नहीं कर सकता था। परन्तु इस घटना से भारत सरकार की बेचैनी बढ़ने लगी। अंग्रेजों को पूर्ण विश्वास था कि दोरजिफ तिब्बत में रूस का एजेण्ट बनकर रहेगा। सम्भवतः दलाई

लामा स्वयं ही रूस की ओर मुका हुआ था। हो सकता है दोरजि ने दलाईलामा को यह सुझाया हो कि चीन से छुटकारा पाने के लिए किसी महान् शक्ति का आश्रय लिया जाय और उनको इंग्लैंड की अपेक्षा रूस से अधिक रुचि थी, जहाँ पर बहुत-से बौद्ध भी रहते थे। सोंग-दु ने दलाई लामा की इस नीति का विरोध किया।

लार्ड कर्जन ने इंग्लैंड की सरकार पर तिब्बत को एक मिशन भेजने पर बड़ा जोर दिया। तिब्बत निवासियों के विरुद्ध अनेकों शिकायतों की गईं कि उन्होंने शिकम सीमा को भंग किया है, गियागोंग में लुंगी-घर स्थापित कर लिया है, जहाँ पर सीमा-स्तम्भ गिरा दिये हैं, और तिब्बत से यातु ग को जाने वाली एकमात्र सड़क को रोक लिया है। इसके अतिरिक्त यह भी कहा गया कि तिब्बत राज्य का इस दशा में रहना भारत के अंग्रेजी साम्राज्य के लिये अहितकर सिद्ध होगा। परन्तु मिशन भेजने के ये सब कारण थोथे थे और यदि दोरजिफ़ रूस न गया होता, तो इनमें से एक भी शिकायत न की गई होती।

इंग्लैंड की सरकार तिब्बत की ओर प्रगति के विरुद्ध थी। उसका कहना था कि तिब्बत की सरकार चीन की राजनीतिक अधीनता में थी और इसलिये चीन पर दबाव डालकर तिब्बत को ठीक मार्ग पर लाना ठीक होगा। इसलिये १९०२ में, जब यह समाचार प्राप्त हुआ कि रूस और चीन के बीच चीन और तिब्बत के सम्बन्ध में एक समझौता हो गया है तो लार्ड लेन्स डायन ने रूसी राजदूत से कहा कि लासा भारत की उत्तरी सीमा के बहुत कम अन्तर पर है, जब कि रूस के एशियाई साम्राज्य से यह लगभग १००० मील है। इसलिये रूस की अपेक्षा इंग्लैंड को तिब्बत की समस्याओं में अधिक दिलचस्पी है और यदि रूस ने तिब्बत की आन्तरिक व्यवस्था में कुछ हस्तक्षेप किया तो इंग्लैंड भी आवश्यक कार्यवाही करने के लिये बाध्य होगा। उधर पेकिंग में ब्रिटिश राजदूत ने चीन सरकार से कह दिया था कि यदि चीन ने तिब्बत के सम्बन्ध में किसी और शक्ति से समझौता किया तो ब्रिटिश सरकार अपने हितों की रक्षा के लिये उचित कार्यवाही करने पर बाध्य हो जायगी। लार्ड कर्जन का पूरा विश्वास था कि सेंट पीटर्सबर्ग और लासा के बीच यदि सन्धि नहीं तो एक समझौता अवश्य हो गया है और उसने इंग्लैंड की सरकार पर सीधा तिब्बत को एक

मिशन भेजने पर जोर दिया। कर्जन और उसके समर्थकों की दृष्टि में इंग्लैंड रूस की सत्ता को तिब्बत में स्थापित होते नहीं देख सकता था। तिब्बत से होकर भारत पर आक्रमण करना असम्भव था, परन्तु रूस की तिब्बत में उपस्थिति पूर्वी देशों में ग्रेट ब्रिटेन की महत्ता को ठेस अवश्य पहुँचाती। सेक्रेटरी आर्थर स्टेट ने कहा कि जब तक इंग्लैंड और रूस में बातचीत चल रही है, तब तक तिब्बत में मिशन का भेजना अनुपयुक्त होगा और इसलिये उसने देरी की। इसी बीच रूसी राजदूत ने ब्रिटिश सरकार को आश्वासन दिया कि तिब्बत के सम्बन्ध में कोई समझौता नहीं हुआ था और न कोई रूसी एजेण्ट ही तिब्बत में था। यद्यपि रूस ने यह स्वीकार किया कि तिब्बत चीन साम्राज्य का एक भाग था और वे यह नहीं चाहते थे कि वह छिन्न भिन्न हो जाय।

सम्पूर्ण स्थिति बड़ी विकट थी। कर्जन ब्रिटिश सरकार पर 'आगे बढ़ो' नीति को अपनाने का जोर दे रहा था; इंग्लैंड की कैबिनेट कर्जन के उत्तावलेपन को रोकने और रूस को असन्तुष्ट न करने का प्रयत्न कर रही थी। अंग्रेजी राजदूत पेकिंग में चीनी सरकार पर दबाव डालने का प्रयत्न कर रहा था; चीन अंग्रेजी हस्तक्षेप को घृणा करता था और तिब्बत पर दबाव डालने में असमर्थ था, परन्तु असमर्थता छिपाने का प्रयत्न कर रहा था; और रूस यह घोषणा कर रहा था कि तिब्बत के उद्देश्य में उसके कोई उद्देश्य नहीं हैं। परन्तु अंग्रेजों के हस्तक्षेप की सम्भावना पर बेचैन था। अब लार्ड कर्जन ने यह प्रस्ताव रक्खा कि चीन और तिब्बत के साथ खम्बाजोंग नामक स्थान पर, जो शिकम सीमा से १५ मील ऊपर की ओर है, बातचीत करनी चाहिये और उनसे सन्धि की शर्तों को पूरा करने के लिये कहा जाय और यदि उनके दूत वहाँ पर न आयें तो ब्रिटिश कमिश्नरों को ज्ञान्तसे की ओर बढ़ने का अधिकार होगा। अब इंग्लैंड की सरकार भी चुप लगा गई। उन्होंने एफ० इ० जंग की अध्यक्षता में अनिच्छा से खम्बाजोंग के लिये एक मिशन भेजने की आज्ञा दे दी और यद्यपि उन्होंने कर्जन के इस प्रस्ताव को मानने से इन्कार कर दिया कि तिब्बत पर लासा में एक अंग्रेज एजेण्ट रखने पर जोर दिया जाये, तो भी उन्होंने उस मार्ग का अनुसरण प्रारम्भ कर दिया था जो अन्तिम रूप से उनको लासा-विजय की ओर ले जाता।

नौलाई में कर्नल यंग हज़बेंड खम्बाजोंग पहुँचा, परन्तु यद्यपि

चीनी प्रतिनिधि तो वहां पर उपस्थित थे, तिब्बत वालों ने कान्फरेन्स में भाग लेने से इन्कार कर दिया जब तक कि मिशन वापिस ल्जोमा तक न चला जाये। कर्नल यंग हज्जबेंड ने यह स्वीकार किया कि तिब्बतियों की यह मांग सर्वथा उपयुक्त थी और कान्फरेन्स की कार्यवाही उनके राज्य के भीतर नहीं, वरन् राज्य की सीमा पर होनी चाहिये थी और अंग्रेजों को उनकी इस उपयुक्त मांग को स्वीकार करना न्यायसंगत था। इस प्रश्न पर गतिरोध प्रारम्भ हुआ और तिब्बतियों ने खम्बाजोंग के निकट अपने सैनिक एकत्रित करने आरम्भ कर दिये। अब कर्जन ने इंग्लैंड सरकार पर और दबाव डाला और अन्त में सरकार ने ज्ञान्तसे तक ब्रिटिश सेना के बढ़ने की आज्ञा दे दी, परन्तु इस शर्त पर कि इतिपूर्ति कराते ही वह सेना वापिस बुला ली जायगी : इस पर रूस ने आपत्ति उठाई। परन्तु परराष्ट्र सेक्रेटरी लार्ड लेन्स डौन ने यह आश्वासन दिया कि तिब्बत को ब्रिटिश साम्राज्य में नहीं मिलाया जायेगा और न स्थायी रूप से उस पर आधिपत्य ही स्थापित किया जायेगा।

मार्च १९०४ में ज्ञान्तसे की ओर ब्रिटिश सेना ने प्रस्थान किया और ३१ तारीख को तिब्बत की सेना से मुठभेड़ हुई। गुरु नामक स्थान पर तिब्बत की सेना बुरी तरह पराजित किया गया। इंग्लैंड में कर्जन के विरोधियों ने उसके विरुद्ध आन्दोलन खड़ा कर दिया। तिब्बत वालों ने मार्ग रोक लिया और हटने से इन्कार कर दिया। अंग्रेजी सेना ने अपने आधुनिक अस्त्रों से क्षणभर में ७०० तिब्बतियों को धराशायी कर दिया। ११ अप्रैल को ब्रिटिश सेना ज्ञान्तसे जा पहुँची, परन्तु यहां भी दलाई लामा ने सन्धि की बातचीत करने से इन्कार कर दिया। अब लासा की ओर प्रस्थान किया गया। परन्तु अब युद्ध की भयंकरता बढ़ने लगी। करोला दर्रे की ऊँचाइयों पर, जहां हर समय बरफ पड़ी रहती है, अंग्रेजों ने तिब्बतियों को परास्त किया। अब दलाई लामा ने भयभीत होकर सन्धि की बातचीत करने के लिये एक के बाद दूसरा मिशन भेजा, परन्तु अब यंग हज्जबेंड लासा पहुँचने से पहले बातचीत करने से इंकार कर दिया। ३ अगस्त को अंग्रेजी सेना ने लासा के पवित्र तथा रहस्यमय नगर में पदार्पण किया जिसमें लामाओं का पोटाला महल सब से ऊपर एक पहाड़ी पर अपनी पूर्ण आभा से चमक रहा था और जिसकी स्वर्णिम छत पर सूर्य की

किरणें चमक रही थीं। इससे तीन सप्ताह पूर्व दलाई लामा यह समझकर कि रूस की कोई सहायता प्राप्त नहीं हो सकती और अंग्रेजों की प्रगति को रोका नहीं जा सकता, नगर त्याग कर भाग गया था।

अब दलाई लामा ने उस रेजीडेण्ट के साथ बातचीत प्रारम्भ की जिसको दलाईलामा अपने स्थान में छोड़ गया था। ७ सितम्बर को सन्धि पर हस्ताक्षर हो गये और इसके १६ दिन पश्चात् ब्रिटिश सैनिकों ने वापस प्रस्थान किया। सन्धि में तायुंग, ज्ञान्तसे तथा गारटोक में व्यापारिक मण्डियाँ बनाने और भारत तथा तिब्बत के बीच व्यापार को उन्नति देने का आयोजन किया गया था। एक ब्रिटिश व्यापारिक एजेण्ट ज्ञान्तसे में रक्खा गया और उसको आवश्यकता पड़ने पर लासा भी जाने का अधिकार दिया गया। तिब्बत पर ७५ लाख रुपया युद्ध का जुर्माना किया गया जिस का १ लाख प्रतिवर्ष के हिसाब से भुगतान होना निश्चित हुआ। जब तक उस समस्त जुर्माने का भुगतान हो, शिकम और भूटान के बीच तिब्बत की चुम्बी घाटी पर अंग्रेजों का आधिपत्य स्वीकार किया गया। तिब्बत की बाह्य नीति पर अंग्रेजों का प्रभाव स्थापित हो गया। तिब्बत राज्य का कोई भी भाग किसी अन्य शक्ति को नहीं दिया जा सकता था और न अन्य किसी शक्ति का एजेण्ट इन अधिकारों के साथ देश के भीतर स्वीकृत किया जा सकता था। रेल या सड़क बनाने, तार लगाने, खान खोदने आदि का कोई अधिकार किसी विदेशी राज्य या वहाँ के निवासियों को नहीं दिया जा सकता था। यदि किसी को इस प्रकार के अधिकार प्रदान किये गये तो ब्रिटिश सरकार को भी वैसे ही अधिकार देने पड़ेंगे।

परन्तु तिब्बत सरकार से इस प्रकार के अधिकार प्राप्त करने में यंग हजबेंड ने अपने अधिकारों से बाहर काम किया था। सेक्रेटरी आव स्टेट ने कहा था कि क्षतिपूर्ति इतनी प्राप्त की जावे जिसको तिब्बत तीन वर्षों में थोड़ा २ करके भुगतान कर दे। ज्ञान्तसे या लासा में ब्रिटिश रेजीडेण्ट के रखने का अधिकार प्राप्त करने की अनुमति नहीं दी गई थी। इंगलैंड की सरकार तिब्बत की समस्या को साम्राज्यवादी दृष्टिकोण से देख रही थी और उसने कुछ काल पहले ही रूस को यह आश्वासन दिया था कि यदि और किसी महान् शक्ति ने तिब्बत की समस्याओं में हस्तक्षेप नहीं किया तो ब्रिटिश सरकार तिब्बत को अपने साम्राज्य में सम्मिलित नहीं

करेगी और न वहाँ अपना संरक्षण स्थापित करेगी और न किसी प्रकार उसके आन्तरिक शासन में हस्तक्षेप करेगी। परन्तु यंग हजबेंड ने इस समस्या का तंग दृष्टिकोण से अध्ययन किया और ब्रिटिश सरकार की सब आज़ाओं की अवहेलना की। भारत की अंग्रेजी सरकार ने यंग हजबेंड की नीति का समर्थन किया। परन्तु सेक्रेटरी आफ स्टेट सेंट जान ब्रोडरिक अपनी आज़ाओं की इस प्रकार अवहेलना होते देखकर बहुत क्रुद्ध हुआ और उसने दोबारा सन्धि करने पर जोर दिया। क्षतिपूर्ति का धन ७५ लाख से २५ लाख रुपया कर दिया गया और यह निश्चित किया—यदि तिब्बत की सरकार सन्धि की अन्य शर्तों का पालन करती रही तो तीन वर्ष तक वार्षिक किरतों का भुगतान होने पर चुम्बी घाटी खाली कर दी जायगी। ज्ञान्तसे के एजेंट से लासा जाने का अधिकार छीन लिया गया।

जिन आधारों पर १८७८ में लार्ड लिटन ने अफगानिस्तान में 'आगे बढ़ो' नीति को अपनाया था, उन्हीं आधारों पर कर्जन ने १९०४ में तिब्बत में यह कार्यवाही की। दोनों ही अवसरों पर वाइसरायों ने इंगलैंड की सरकार की विशेष परवाह नहीं की और 'आगे बढ़ो' नीति का पूर्ण प्रदर्शन किया। तिब्बत एक स्वतन्त्र एवं शान्तिप्रिय बौद्ध राज्य था। उस का कोई दोष या अपराध नहीं था। उसका एकमात्र अपराध था उसकी निर्बलता और इसीलिये उसको कर्जन की साम्राज्यवादी लिप्सा का शिकार होना पड़ा। साम्राज्यवादी भेड़ियों को दुर्बल मैमनों द्वारा पानी गन्दा करने का बहाना मिल ही जाता है।

[इ] लार्ड कर्जन तथा आन्तरिक शासन

दुर्भिक्ष तथा महामारी :—जिस समय लार्ड कर्जन वाइसराय नियुक्त होकर भारत आया, देश में चारों ओर महामारी और दुर्भिक्ष के कारण 'त्राहि माम्' 'त्राहि माम्' का शब्द गूँज रहा था। १८९९-१९०० जैसा वर्षा का अभाव अब तक नहीं हुआ था। अभी देश १८९६ की आपत्ति से भली प्रकार छुटकारा न पा सका था कि यह नई आपत्ति आ पड़ी और विसूचिका तथा जूड़ी ने अकाल-पीड़ितों की दशा को और भी अधिक शोचनीय बना दिया। इन आपत्तियों का प्रभाव ४७५००० वर्ग मील में फैला हुआ था और लगभग ६ करोड़ आदमी इसके पंजे में थे।

पंजाब, राजपूताना, बड़ौदा, बम्बई, मध्य प्रान्त, बरार, हैदराबाद और गुजरात भर में दुर्भिक्ष का आतंक छाया हुआ था। अकेले ब्रिटिश भारत में दस लाख मनुष्य दुर्भिक्ष की भेंट चढ़ गये थे।

१९०० के पश्चात् भारत को दुर्भिक्ष से तो छुटकारा मिला परन्तु प्लेग कर्जन के शासन-काल भर चलती रही और पहले की अपेक्षा अधिक तीव्र हो गई। प्लेग को नष्ट करने का प्रयत्न भी किया गया परन्तु सब व्यर्थ रहा और कर्जन के शासन के अन्त तक १ लाख आदमी उसके शिकार बन चुके थे। अप्रैल १९०० में कानपुर में प्लेग-निवारण नियमों के विरुद्ध भयंकर उपद्रव हुआ। सात उत्तेजना फैलाने वालों को मृत्यु दण्ड दिया गया।

आर्थिक व्यवस्था:—उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में भारत की आर्थिक व्यवस्था बहुत कुछ सुधर गई थी। टकसाल बन्द करने का प्रभाव अब दृष्टिगोचर होने लगा था। १८९९ के पश्चात् भारत के बजट के घाटे के स्थान पर बचत होने लगी थी। इसलिए १८९३ की नीति को अन्त तक चलाने का निश्चय किया गया। १८९९ में एक एकट पास करके अंग्रेजी साबरन को भारत का कानूनी सिक्का बना दिया गया और एक गिन्नी का मूल्य १४ रुपये नियत किया गया। अब भारत में सोना बाहर से आने लगा और चाँदी के सिक्कों के ढालने से जो लाभ होता था उसको स्वर्ण-रक्षित कोष में एकत्रित किया जाने लगा और जिस समय कर्जन भारत से वापिस गया तो इस कोष में ६० लाख पौंड था। १९०२ में उन प्रान्तों को, जिनको दुर्भिक्ष-काल में भयंकर हानि उठानी पड़ी थी, मूमि-कर का १२ लाख ५० हजार रुपया वापिस मिल गया और दो वर्षों में नमक-कर की दर भी कम कर दी गई। लार्ड मेयो ने इम्पीरियल सरकार और प्रान्तीय सरकार के बीच जो आर्थिक व्यवस्था स्थापित की थी, उसमें संशोधन कर दिया गया। और पंचवर्षीय प्रणाली के स्थान पर इसको चिरस्थायी बना दिया गया।

शासन सुधार:—लार्ड कर्जन ने अपने शासन-काल में शासन-सुधार की ओर विशेष ध्यान दिया। निस्सन्देह सरकार के अनेकों विभागों की कड़ी परीक्षा की गई। सुधार का यह नियम बनाया गया कि कमेटी नियुक्त करके विभाग-विशेष की बुराइयों पर रिपोर्ट प्राप्त की जाती थी और

फिर उस रिपोर्ट के सुधार पर आवश्यक कानून बनाये जाते थे। लार्ड कर्जन ने कमीशनो से बड़ा लाभ उठाया। पहले की भांति कमीशन की रिपोर्ट के असुविधाजनक प्रश्नों को उठा कर अलमारी में बन्द नहीं किया जाता था, वरन् उसके आधार पर कठोर कार्यवाही की जाती थी। परवर्तित स्थिति में प्राचीन सिविल सर्विस की प्रथा कुछ अंशों में बेकार और कुछ अंशों में सर्वथा हानिकरक हो गई थी। परन्तु जैसाकि स्वाभाविक है सुधार कैसे ही लाभदायक क्यों न हों कभी भी सर्वप्रिय नहीं होते। इसमें कुछ सन्देह नहीं कि सुधार करने में कछ भूल भी की गई और बहुत से सुरक्षित हितों को ठेस भी लगी। परन्तु परिणाम अन्त में अच्छा ही निकला सुधार की आवश्यकता को सब ने स्वीकार किया। पुलिस-विभाग सबसे अधिक विकृत अवस्था में था। जाँच करने वाले कमीशन ने अपनी रिपोर्ट में लिखा था कि इसको व्यवस्था तथा नियन्त्रण सर्वथा त्रुटिपूर्ण था और सम्पूर्ण विभाग “अष्ट तथा अत्याचारी माना जाता था।” कमीशन की रिपोर्ट ऐसी कठोर एवं आलोचनापूर्ण थी कि यद्यपि १९०३ में इस पर हस्ताक्षर किये गये थे परन्तु दो वर्ष तक उनको प्रकाशित नहीं किया गया। कुछ नियम बनाकर सुधार का प्रयत्न किया गया परन्तु अंग्रेजी सरकार का पुलिस-विभाग अन्त तक अष्ट तथा अत्याचारी रहा।

भूमि-कर-सम्बन्धी सुधार :— भारत में अंग्रेजी सरकार की भूमि-कर नीति को सदा से ही कड़ी आलोचना की जाती रही थी। आलोचकों का तो यहाँ तक कहना था कि सरकार इतना अधिक भूमि-कर वसूल करती है कि लोगों के पास दुर्भिक्ष-निवारण के लिए कुछ नहीं बच रहता और वे कुत्ते बिल्ली की मौत मरते हैं। कभी २ दुर्भिक्ष का एक प्रबल कारण अधिक भूमि-कर ही बन जाता है। सम्भवतः यह आलोचना शत-प्रतिशत सत्य न हो परन्तु भूमि-कर सम्बन्धी अनेकों बुराइयाँ थीं जिनको कर्जन ने स्वयं स्वीकृत किया था। दुर्भिक्ष-काल तक में कृषकों से अत्याचार कर करके पूरा और पूरे से भी अधिक भूमि-कर वसूल करने के उदाहरण मिले थे। लगान वसूल करने वाले कृषकों शोचनीय दशा का ध्यान न करके सरकार के प्रति राज्यभक्ति प्रदर्शित करने के लिए बड़ी कठोरता का व्यावहार करते थे। १९०० में दस रिपोर्ट सिविल अफसरों ने जिनमें एक भारतीय भी

था, सेक्रेटरी आफ स्टेट के सम्मुख एक स्मृति-पत्र उपस्थित किया और उसमें उन लोगों ने लार्ड सेलिसबरी के १८७५ के उन शब्दों को याद दिलाया जिनमें उसने अंग्रेजी सरकार की भावी आर्थिक नीति का प्रतिपादन करते हुए लिखा था कि भारत की सरकार के राज्य कर का अधिकांश भाग दीन किसानों से नहीं वरन् नगरों से प्राप्त किया जाना चाहिए जहाँ पर पूँजी की अधिकता होती है और उसका एक अंश व्यर्थ ही नष्ट हो जाता है। उनके निम्नलिखित सुझाव थे :—(१) जहाँ पर भूमिकर सीधा कृषकों से वसूल किया जाता है वहाँ पर उनके कृषि-सम्बन्धी आवश्यक व्यय को निकाल कर उनकी आय का आधा भाग कर रूप में लेना चाहिए; (२) जहाँ कर भूमि-पतियों से वसूल किया जाता है वहाँ लगान के प्राप्ति से अधिक नहीं होना चाहिए; (३) भूमि-व्यवस्था ३० वर्ष के लिए होनी चाहिए, (४) सामान्य मूल्य में वृद्धि होने या सिंचाई के साधनों के कारण भूमि का मूल्य बढ़ जाने पर ही भूमि-कर में वृद्धि होनी चाहिए; (५) भूमि पर और अतिरिक्त स्थानीय कर दस प्रतिशत से अधिक नहीं होना चाहिए। इन सुझावों तथा अन्य आलोचनाओं का उत्तर भारत की सरकार ने १६ जनवरी १९०२ के 'भूमि प्रस्ताव' में दिया। एक दो बातों के अतिरिक्त इन सुझावों को यथावत् स्वीकार नहीं किया गया। श्री आर. सी. दत्त ने जो भारत का प्रतिनिधि था, 'भूमि प्रस्ताव' के सम्बन्ध में कहा था—“यदि वाइसराय ने रैयतवादी प्रान्तों में सरकार की मांगों की निश्चित तथा व्यवहारिक सीमाएँ निर्धारित कर दी होतीं और इन प्रान्तों में भूमि कर की वृद्धि के उचित सुधार की व्याख्या कर दी होती तो सरकार के भूमि-प्रस्ताव से लाखों, करोड़ों कृषकों को आवश्यक सुरक्षा तथा आश्वासन प्राप्त हो जाता।”

संक्षेप में लार्ड कर्जन ने चार प्रकार से भूमि-कर की बुराइयों को दूर करने का प्रयत्न किया। १९०० में पहले ही उसने 'पंजाब लैंड एली-नेशन एक्ट' पास करके उन किसानों को भूमि से पृथक् होने से बचा दिया था, जिन्होंने अपनी भूमि साहूकारों को रहन कर दी थी। अब से आगे वंश-परम्परागत [किसानों] की भूमि बेची नहीं जा सकती थी। इस एक्ट ने पंजाब के किसानों को भूमि से बेदखल होने से बचा लिया। १९०२ के लैंड रिज़ोल्यूशन (भूमि-प्रस्ताव) द्वारा यह निश्चित किया गया कि यदि बन्दोवस्त में भूमि-कर बहुत अधिक बढ़ाया जाये तो यह वृद्धि क्रमशः होनी

चाहिए और फिर १९०५ के 'सस्पेन्शन तथा रेमिशन रिज़ोल्यूशन' (भूमि-कर के त्याग तथा भविष्य के लिए छोड़ देने के प्रस्ताव) में ऐसे नियम बनाये गये कि ऋतु के साथ २ सरकार की मांग में परिवर्तन होना चाहिए । तीसरी बात उसने यह की कि कृषकों को कम व्याज पर रुपया देने के लिए सड़कारी समितियाँ स्थापित की गईं । अन्त में इन्स्पेक्टर जनरल आब एग्रीकल्चर (कृषि का सर्वोच्च निरीक्षक) नियुक्त किया गया और एक इम्पीरियल कृषिविभाग की स्थापना की गई और उसके अधीन कृषि में वैज्ञानिक साधनों द्वारा उन्नति करने के लिए एक अनुसन्धान संस्था, प्रयोग-शालाएँ तथा प्रयोगात्मक फार्म स्थापित किए गये ।

सेना-सम्बन्धी सुधार :—सेना में जब लार्ड किचनर कमाण्डर-इन-चीफ था, देशीय रेजीमेंटों को नये हथियार दिये गये, तोपखाने में अच्छी अच्छी तोपें रखी गईं, तथा समस्त सामान ढोने के साधनों की पुनर्व्यवस्था की गई । १९०१ में इम्पीरियल कैडेट कोर स्थापित की गई जिसमें राज-वंश एवं कुलीन वंशों के लड़के भर्ती किये जाते थे । भारत की रक्षा के अतिरिक्त अब भारतीय सेनाओं को अन्य बृहत् कार्यों के लिए भी प्रयोग किया जाने लगा था । चीन में बोक्सर विद्रोहियों और सुमाली लैंड में मुल्ला के विरुद्ध उनको प्रयोग किया गया । दक्षिणी अफ्रीका में भी भारतीय सैनिकों ने लेडी स्मिथ पर अधिकार बनाये रखा और नेटाल की रक्षा की ।

रेल तथा सिंचाई :—कर्जन के शासन-काल में रेलों के ऊपर भी बहुत अधिक व्यय किया गया और ६००० मील लम्बी रेल और बनाई गई । कृषि की उन्नति के लिए सिंचाई का भी समुचित प्रबन्ध किया गया ।

व्यापार तथा व्यवसाय :—कर्जन ने व्यापार और व्यवसाय की उन्नति के लिए एक नया विभाग स्थापित किया जिसको उसने वाइसराय की कौंसिल के छठे सदस्य के अधीन रखा । प्राचीन इमारतों तथा स्मृति-चिन्हों को सुरक्षित रखने का भी प्रयत्न किया गया ।

शिक्षा-सम्बन्धी सुधार :—शिक्षा-समस्या की जाँच करने के लिए कर्जन ने एक कमीशन नियुक्त किया, परन्तु इसमें एक भी भारतीय या गैर सरकारी सदस्य नहीं था । कमीशन की रिपोर्ट शिक्षा के सम्बन्ध में बड़ी निराशा-जनक थी । भारत के विश्वविद्यालयों का मुख्य एवं एकमात्र कार्य केवल परीक्षा लेना था । ये राज्य के नियंत्रण से छुटकारा पाने का प्रयत्न कर

रहे थे इसमें कुछ सफलता भी प्राप्त कर ली थी। रटने की प्रथा को प्रोत्सरहन दिया जाता था जिसका बालकों के मस्तिष्क पर बुरा प्रभाव पड़ता था। रटने की यह प्रथा, दुख के साथ लिखना पड़ता है, आज तक भी प्रचलित है। भारत की शिक्षा-पद्धति को एक सामालोचक ने “मशीन जैसी निर्जीव एवं विकृत” बतलाया है। १९०४ में विश्वविद्यालयों की शासन समितियों की इस विचार से पुनर्व्यवस्था की गई कि ये केवल परीक्षा लेने वाली संस्था न रह कर शिक्षा-प्रदान करने वाली सच्ची संस्थायें बन जाँय और शिक्षकवर्ग मशीन के पुर्जे ढालने के लिये स्थान में सच्ची शिक्षा देने का प्रयास करें। परन्तु इस सुधार का भारतीय सुधार दल (इण्डियन रिफार्म पार्टी) ने विरोध किया और बंग-भंग के प्रश्न पर यह विरोध और भी अधिक तीव्र हो गया था।

पहली जनवरी १९०३ को लार्ड कर्जन ने दिल्ली में एक बड़े शानदार दरबार में एडवर्ड सप्तम के सम्राट् होने की घोषणा की। अप्रैल १९०४ में उसकी अवधि समाप्त हो गई परन्तु फिर उसको दूसरी बार वाइसराय नियुक्त किया गया। वह कुछ महीने के आराम के लिए इंग्लैंड गया और उसकी अनुपस्थिति में मद्रास का गवर्नर लार्ड एम्प्टहिल स्थानापन्न वाइसराय बना। दिसम्बर १९०४ में वह वापिस भारत लौटा और अब की बार आकर उसने दो ऐसे कार्य किए जिनके कारण उसकी बड़ी आलोचना की गई और उसको अपनी अवधि समाप्त होने के पूर्व ही त्याग-पत्र देने के लिए बाध्य होना पड़ा।

बंग-भंग की समस्या :—लार्ड कर्जन ने अपनी दूसरी अवधि के आरम्भ में आते ही बंगाल-विच्छेद के प्रश्न को उठाया। बंगाल के लेफ्टिनेंट गवर्नर के कार्य भार को हल्का करने की आवश्यकता पहले ही से महसूस की जा रही थी। उसका कार्य इतना बढ़ गया था कि अकेले आदमी के लिए सुचारु रूप से उसको चलाना बड़ा कठिन हो गया था। प्रान्त की जन-संख्या ग्रेटब्रिटेन की जन-संख्या के दो गुने से भी अधिक ७ करोड़ ८० लाख थी; कार्य की अधिकता का एक परिणाम यह बतलाया जाता था कि गंगा के पूर्व के जिले लेफ्टिनेण्ट गवर्नर जनरल के नियंत्रण से बाहर रह जाते थे। प्रान्त के इस भाग की बड़ी अवहेलना होती थी और यहाँ पर शासन शेष ब्रिटिश भारत के शासन-प्रबन्ध की अपेक्षा विकृत अवस्था में

था। अनुपस्थित भूमिपतियों के अत्याचारों का कृपक वर्ग शिकार बन रहा था और यहाँ की पुलिस सब जगह से अधिक भ्रष्ट एवं अत्याचारी थी। इस प्रान्त की शान्ति-व्यवस्था भी बहुत ही बिगड़ी हुई थी। अनाचार और अत्याचार का बोल बाला था।

बंगाल का विच्छेद करने के लिए प्राचीन ऐतिहासिक उदाहरण दिए गये। १८६५ में बंगाल की प्रारम्भिक फोर्ट विलियम प्रेज़ीडेंसी को दो भागों में विभक्त करके उत्तरी-पश्चिमी प्रान्त बनाया गया जो १६०१ से संयुक्त प्रान्त आगरा व अवध कहलाने लगा तथा आसाम को १८७४ में पृथक् करके एक हाई कमिश्नर के अधीन कर दिया गया। सरकार ने निश्चय किया कि प्रान्त के एक बार फिर विभाजन का समय आगया है। विभाजन के करने में अधिक शीघ्रता भी नहीं की गई थी और न कोई विशेष कठोरता ही बर्ती गई थी। विभाजन नीति पर बड़ा विचार-विनिमय किया गया था और बाह्य आलोचना को दृष्टि में रखते हुए अनेकों परिवर्तन भी किए गये थे। अन्त में आसाम, चिटगाँव तथा प्राचीन बंगाल के १५ जिलों को मिलाकर एक पृथक् प्रान्त बना दिया गया। नये प्रान्त का क्षेत्रफल लगभग १०६,००० वर्ग मील और जन-संख्या ३१,०००,००० के लगभग थी।

नये प्रान्त का जन्म होने से पूर्व ही इसके विरुद्ध एक भयंकर आंदोलन उठ खड़ा हुआ था। आन्दोलन का आधार निस्सन्देह बिल्कुल सच्चा था, यद्यपि बाद में चलकर इसमें कुछ भावुकता तथा मतिभेद का समावेश हो गया था। सम्भवतः आन्दोलन की जान पूछ कर उत्तेजना भी दी गई थी। परन्तु इसका यह आशय नहीं है कि भारतवासी प्रजातन्त्र शासन के सर्वथा अयोग्य थे या इतने योग्य नहीं थे जितने के यूरोपनिवासी। इंग्लैंड के इतिहास में भी ऐसे उदाहरण भरे पड़े हैं जब आवश्यक एवं हितकार प्रस्ताव जनता की अज्ञानता के कारण पास न किये जा सके थे। अंग्रेजी सरकार की दृष्टि में बंगाल का विभाजन, कर्जन के शब्दों में “शासन सम्बंधी सीमाओं की पुनर्व्यवस्था करना” था। परन्तु वंग-निवासियों की दृष्टि से यह एक राष्ट्र का विभाजन था। यह एक जाति को इच्छापूर्वक विभक्त करने का प्रयत्न था; बंगालियों के इतिहास, भाषा तथा परम्पराओं पर नीचता-पूर्ण आक्रमण था। भारत के विनम्र विचार वाले, इंग्लैंड के उदारदलीय तथा सिविल सर्विस के कुछ आदमियों का भी यह विचार था। सार्व-

जनिक विरोध के सामने प्रस्ताव को त्याग देना चाहिए था, भले ही इससे लाभ होता हो। अकेले बंगाल ही में नहीं, लगभग समस्त देश में बंग-भंग के प्रस्ताव पर बड़ा भारी आन्दोलन चल रहा था। इस समस्या को सुलझाने के लिए उन लोगों ने यह प्रस्ताव रखा था कि मद्रास और बम्बई की भांति बंगाल का शासन भी एक गवर्नर के हाथ में होना चाहिए और उसकी सहायता के लिए एक कार्य-कारिणी होनी चाहिए। ऐतिहासिक आधार पर इन लोगों का पक्ष सबल था; क्योंकि १८३३ और १८५३ के आज्ञापत्रों में ऐसी व्यवस्था करने का अधिकार प्रदान किया गया

परन्तु कर्जन ने इन लोगों के सुझाव पर ध्यान नहीं दिया। उसका कहना था कि बंगाल और बम्बई तथा मद्रास की दशा में बड़ा भारी अन्तर था। बंगाल में अनेकों जातियाँ तथा समस्या होने के कारण, कर्जन की दृष्टि में एक लेफ्टिनेन्ट गवर्नर ही उचित शासन-प्रबन्ध कर सकता था क्योंकि वहाँ पर कठोर शासन की आवश्यकता थी। यदि वहाँ पर कार्यकारिणी की स्थापना कर दी जाय तो इससे लेफ्टिनेन्ट गवर्नर की स्वतन्त्रता में बाधा पैदा होती है और उत्तरदायित्व में विभाजन पैदा होता है। संक्षेप में लार्ड कर्जन लेफ्टिनेन्ट गवर्नर की शक्ति को क्षीण नहीं करना चाहता था, जबकि उसके विरोधी विकेन्द्रीकरण के पक्षपाती थे। परन्तु कर्जन ने भयंकर विद्रोह की तनिक परवाह नहीं की और १८०५ में बंगाल का विच्छेद कर दिया गया।

दूसरी मुख्य समस्या जिसके कारण लार्ड कर्जन को अपनी अवधि से पहले ही त्यागपत्र देने के लिये बाध्य होना पड़ा, सैनिक शासन-प्रबन्ध के सम्बन्ध में लार्ड किचनर के साथ झगड़े का होना था। अब तक भारतवर्ष में कमाण्डर-इन-चीफ सेना का स्वामी होता था और वह वायसराय की कौंसिल का असाधारण सदस्य भी होता था। इसके अतिरिक्त कौंसिल के एक साधारण सदस्य के अधीन सेना का एक शासन-विभाग भी था, जो सरकार को सेना के शासन से इतना अधिक अवगत रखता था कि कमाण्डर-इन-चीफ को अपने अन्य कार्यों के कारण ऐसा करना सम्भव नहीं था। कौंसिल का यह सदस्य भी एक सैनिक होता था, परन्तु उसको अपने अवधि काल में सेना की कमान संभालने की आज्ञा नहीं दी जाती थी। सैनिक विषयों में वह वायसराय का वैधानिक सलाहकार होता था और गवर्नर जनरल के पास कमाण्डर-इन-चीफ के सैनिक सदस्यों पर प्रस्तावों को अपनी समा

लोचनाओं सहित भेजना उसका कर्तव्य होता था। लार्ड किचनर ने, जसने सेना के शासन में अनेकों आवश्यक सुधार किये थे, इस प्रणाली का विरोध किया। उसका कहना था कि इस प्रकार बहुत देर हो जाती है और व्यर्थ का वाद-विवाद बढ़ता है। उसने कहा कि केवल एक सेना विभाग होना चाहिये जिसका कमाण्डर-इन-चीफ अधिपति हो और सैनिक शासन का सब कार्य उसके सुपुर्द होना चाहिये। इस प्रस्ताव का लार्ड कर्जन ने विरोध किया क्योंकि उसकी दृष्टि में सम्पूर्ण शक्ति सैनिक कमाण्डर-इन-चीफ के हाथ में चली जायगी।

लार्ड किचनर के असंतोष का एक आधार यह था कि प्रचलित प्रथा के अनुसार कमाण्डर-इन-चीफ को अधिक देर हो जाने के कारण बड़ी परेशानी होती थी। लार्ड किचनर का कहना था कि उसके प्रस्ताव में सिविल सरकार के अधिकार में किसी प्रकार की कमी नहीं आती थी, क्योंकि वाइसराय को प्रस्तावों को स्वीकार या अस्वीकार करने का अधिकार है, परन्तु वह चाहता था गवर्नर जनरल, सीधा कमाण्डर-इन-चीफ के सम्पर्क में रहे। उसको यह बात बुरी लगती थी कि कमाण्डर-इन-चीफ के प्रस्तावों को वाइसराय की कौंसिल का एक सदस्य सैनिक दृष्टिकोण से आलोचना करे जो कमाण्डर-इन-चीफ से पद और सैनिक अनुभव में कम होता है। कर्जन का कहना था कि एक सिविल वाइसराय को एक दृढ़ विचार कमाण्डर-इन-चीफ के प्रस्तावों का विरोध करना, जब तक कि उसको सलाह देने वाला कोई अनुभवी एवं योग्य सैनिक न हो, असम्भव होगा और इस प्रकार वाइसराय कमाण्डर-इन-चीफ पर आश्रित हो जायगा। उसने यह भी कहा कि यह कोई नया प्रश्न नहीं था। गत ४० वर्षों से वाइसराय और कमाण्डर-इन-चीफ इस प्रश्न पर विचार विनिमय करते आ रहे हैं और सब ने इसी प्रचलित प्राचीन प्रथा को अब तक अपनाया है। भारत में अफसरों की सहायु-भूति लार्ड कर्जन के साथ थी।

इंग्लैंड की सरकार को इस जटिल समस्या का निपटारा करना था। सब से अच्छी बात तो यह थी-एक या दूसरा दल अपने हठ को छोड़ देता। सरकार ने दोनों में समझौता कराने का प्रयत्न किया। इससे लार्ड किचनर भी असंतुष्ट नहीं हुआ, कर्जन को ऐसा लगा कि उसको अपने शत्रु के सामने सर झुकाने के लिये बाध्य किया गया है और एक निष्पक्ष आदमी को ऐसा

प्रतीत हुआ कि गुत्थी को और अधिक जटिल बना दिया गया है। केबिनेट ने यह फैसला दिया कि सैनिक शासन के सर्वथा सैनिक विभाग पर अकेले कमाण्डर-इन-चीफ का पूर्ण नियन्त्रण होना चाहिये और उसको ही सैनिक समस्याओं के सम्बन्ध में वाइसराय की कौंसिल में बोलने का अधिकार होना चाहिये। परन्तु सहायक विभागों के दिये, जो सर्वथा सैनिक नहीं हैं, कौंसिल में एक मिलिटरी सप्लाइ मेम्बर होना चाहिये। यह सुझाव भी रक्खा गया कि सर एडमण्ड एल्लोस को रिटायर कर दिया जाय और लार्ड कर्जन उसके स्थान पर एक और अफसर को मनोनीत करे। परन्तु जिस आदमी को उसने मनोनीत किया था, इंग्लैंड की सरकार ने उसको अस्वीकृत कर दिया। फिर सेक्रेटरी ऑफ स्टेट ने कर्जन को लिखा कि इस सम्बन्ध में वह किचनर की सलाह ले ले। अब कर्जन को ऐसा लगा कि सरकार नहीं चाहती कि उसको अपनी इच्छा का सलाहकार मिले और इसलिये उसने अगस्त १९०५ में त्यागपत्र दे दिया। सरकार ने त्यागपत्र वापिस लेने को कहा, परन्तु उसने अस्वीकार कर दिया।

लार्ड कर्जन के पश्चात् लार्ड मिण्टो भारत का वाइसराय बन कर आया। वह १८७८ में लार्ड राबर्ट्स के अधीन अफगानिस्तान में युद्ध कर चुका था और १८९८ से १९०४ तक कनाडा का गवर्नर जनरल रह चुका था।

पैंतीसवाँ अध्याय

मार्ले-मिण्टो सुधार तथा इंग्लैंड और रूस का समझौता

वास्तव में लार्ड कर्जन के साथ भारत में अंग्रेजी राज्य के एक युग का अन्त होता है। लार्ड कर्जन के वाइसराय पद के समाप्त होते-होते इंग्लैंड में उदार दल की सरकार बनी। अब तक ऐसे उदार दल की सरकार नहीं थी। लार्ड मार्ले सेक्रेटरी ऑफ स्टेट बना रहा। वह बड़ा योग्य तथा सुधारवादी था। वह सच्चे अर्थ में भारत का सेक्रेटरी बनना और भारत के शासन प्रबन्ध में वैधानिक सुधार करना चाहता था। उससे पहले जितने भी सेक्रेटरी ऑफ स्टेट हुए थे वे सब वाइसराय और केबिनेट के बीच आवश्यक 'कड़ी' थे। परन्तु मार्ले केवल एक कड़ी बनना नहीं चाहता था, और यद्यपि वह वाइसराय को अपना एजेंट भी नहीं बनाना चाहता था,

परन्तु अब तक के सेक्रेटरियों की अपेक्षा वह भारत के शासन में अधिक भाग लेना चाहता था। उसके सौभाग्य से लार्ड मिंटो इस समय भारत का वाइसराय नियुक्त किया गया। दोनों की नियुक्ति एक दूसरे से कुछ सप्ताह के आगे पीछे हुई और दोनों ने लगभग साथ-साथ शासन किया। दोनों ने अपने-अपने कर्मचारियों की सलाह पर अधिक ध्यान नहीं दिया। माल्ले-मिंटो सुधारों के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि ये सुधार “दो राजनीतिज्ञों के विचार-विनिमय का परिणाम थे जिनको भारत के विषय में विशेष ज्ञान नहीं था।

जिस समय लार्ड मिंटो भारत का वाइसराय बनकर आया, देश में बंग-भंग का आन्दोलन चल रहा था और वाइसराय तथा कमाण्डर-इन-चीफ का विवाद भी अभी समाप्त नहीं हुआ था। उदार दल, जिसकी इस समय इंग्लैंड में सरकार थी, बंगाल-विच्छेद के विरुद्ध और लार्ड किचनर के साथ था। यद्यपि माल्ले निर्वाचन-काल में पिछले सेक्रेटरी आब स्टेट के कार्य की आलोचना कर चुका था, तो भी अब उसने की हुई बातको बदलना उचित नहीं समझा और कमाण्डर-इन-चीफ को वाइसराय की कौंसिल का एक साधारण सदस्य बना दिया गया। मिलिटरी सप्लाइ विभाग का निर्माण किया गया और उसको एक और वाइसराय की कौंसिल के सदस्य को दे दिया गया परन्तु माल्ले की दृष्टि में यह व्यवस्था शासन और मित-व्ययता की दृष्टिकोण से अच्छी नहीं थी। १९०७ में इसका अन्त कर दिया गया। यद्यपि लार्ड किचनर की विजय हुई, परन्तु बारह वर्ष पश्चात् कर्जन की नीति की सार्थकता सिद्ध हुई। इस बीच में भारत की सरकार का देश की सैनिक नीति पर नियन्त्रण बहुत क्षीण हो गया था। सब शक्तियों को अकेले कमाण्डर-इन-चीफ के हाथ में दे देने का परिणाम यह हुआ कि प्रथम महायुद्ध काल (१९१४-१८) में मैसोपोटामिया में युद्ध में यातायात तथा दवा-दारु की व्यवस्था बहुत बिगड़ गई थी। जाँच के लिए जो कमीशन नियुक्त किया गया था उसने अपनी रिपोर्ट में कहा था कि युद्ध-काल में एक आदमी कमाण्डर-इन-चीफ तथा सैनिक सदस्य के कार्यों को सुचारु रूप से सम्पन्न नहीं कर सकता।

माल्ले ने बंगाल के विच्छेद को बदलने से भी इन्कार कर दिया। उसकी दृष्टि में उसके पूर्वजों की नीति के साधन त्रुटिपूर्ण थे परन्तु बंग-भंग

उसके लिए एक सुनिश्चित समस्या थी। देश भर में और विशेषकर बंगाल में अब भी एक भयंकर आन्दोलन चल रहा था और एक ऐसी घटना घटी जिसके कारण सरकार की कड़ी आलोचना की गई। बंगाल के सब स्कूल और कालिज विरोध में बन्द थे और विद्यार्थी भी राजनीतिक सभाओं में भाग लेते थे। बंगाल के नये प्रान्त के प्रथम लेफ्टिनेंट गवर्नर ने शिक्षा-विभाग के लिए एक चिट्ठी भेजी थी जिसमें यह धमकी दी गई थी कि जिन स्कूलों के विद्यार्थी राजनीतिक आन्दोलन में भाग लेंगे उनकी सरकारी आर्थिक सहायता बन्द कर दी जायगी और कलकत्ता विश्वविद्यालय से उनका सम्बन्ध विच्छेद करा दिया जायगा। कहते हैं कि पटना जिले के दो स्कूलों ने इस आदेश का उल्लंघन किया और दो शरारत फैलाने वालों को अपने विद्यार्थियों में छिपा लिया। लेफ्टिनेंट गवर्नर ने कलकत्ता विश्व-विद्यालय से उनका सम्बन्ध विच्छेद करने की प्रार्थना की। इस पर भारत की सरकार ने लेफ्टिनेंट गवर्नर से अपनी प्रार्थना इस आधार पर वापस लेने के लिए कहा कि उस समय के वातावरण में विश्वविद्यालय की सीनेट में ऐसा वितण्डावाद उठ खड़ा होगा जो वांछनीय नहीं था। इस पर लेफ्टिनेंट गवर्नर ने त्यागपत्र दे दिया और वह स्वीकार कर लिया गया। इसको आन्दोलन कर्त्ताओं ने अपनी विजय समझा। लार्ड कर्जन ने लाट सभा में घोषणा की कि—“फुलर (लेफ्टिनेंट गवर्नर) को इस भ्रम में बलि चढ़ा दिया गया कि इससे आन्दोलन शान्त हो जायगा।”

उदार दल की सरकार को अपनी परराष्ट्र नीति में बड़ी सफलता मिली। सबसे महत्वपूर्ण सफलता रूस के साथ समझौता था। एशिया में रूस और इंग्लैंड का झगड़ा तिब्बत, अफगानिस्तान तथा फारिस तीन देशों में चल रहा था। अब १९०७ में इन सब का निपटारा हो गया। यहाँ हम मिन्टो काल में भारत के इन तीनों देशों के साथ सम्बन्ध का पृथक् वर्णन करेंगे।

तिब्बत :—यंग हजवेंड की लासा के साथ सन्धि का उल्लेख किया जा चुका है। १९०४ की सन्धि के ऊपर चीन की अनुमति प्राप्त करना आवश्यक था। १९०६ में पेकिन में चीन के साथ एक सन्धि हुई, जिसमें उसने लासा सन्धि ही को स्वीकार नहीं किया वरन् दो और बातें भी निश्चित की गईं। प्रथम ग्रेट ब्रिटेन ने वचन दिया कि न तो वह देश को

अपने साम्राज्य में सम्मिलित करगा और न उसके अतिरिक्त शासन में हस्तक्षेप करेगा। दूसरे चीन ने इसी प्रकार के प्रतिबन्ध अन्य विदेशी शक्तियों पर भी लगाने का वचन दिया। इस दूसरी बात से जितना अंग्रेजों को लाभ था, उतना ही चीन को भी था। इसके द्वारा उस कथन की कुछ पुष्टि हो जाती है कि तिब्बत में अंग्रेजी हस्तक्षेप से चीन ने लाभ उठाया। भारत की अंग्रेज सरकार तो लार्ड कर्जन की सन्धि के अनुचरशः पालन पर जोर दे रही थी, परन्तु सेक्रेटरी आरव स्टेट ने उसकी बातों का स्वीकार नहीं किया। क्षतिपूर्ति का धन तिब्बत के स्थान पर चीन ने देना स्वीकार किया और भारत सरकार की इच्छा के विरुद्ध सैक्रेटरी आरव स्टेट ने चुम्बी वादी को खाली करने का आदेश दिया। फरवरी १९०८ में चुम्बी वादी से अंग्रेजी सेना हटा ली गई। इसी बीच अगस्त १९०७ में इंग्लैंड और रूस के समझौते ने किसी भी यूरोपियन शक्ति के तिब्बत में प्रवेश करने पर प्रतिबन्ध लगा दिया था। दोनों देशों ने तिब्बत की सत्ता को अछूट रखने, देश के आन्तरिक शासन में किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप न करने, तिब्बत की सरकार से चीन सरकार द्वारा बातचीत करने और लासा को कोई दूत न भेजने का प्रण किया। इसके दो परिणाम निकले। दलाईलामा को पदच्युत करके शासन की बागडोर चीनी रेजीडेण्टों के हाथ में चली गई और उन्होंने ब्रिटेन के प्रति द्वेष का परिचय दिया। जौलाई १९०८ में दलाई लामा को पेकिन बुलाया गया और वहाँ पर उसको अपनी वास्तविक स्थिति का ऐसा दुःखपूर्ण ध्यान कराया कि १९१० में लासा पहुँच कर उसने लासा पर आक्रमण करने वाली चीनी सेना के विरुद्ध अंग्रेजों से सहायता की प्रार्थना की। इसी वर्ष फरवरी के महीने में वह एक बार और भागा और दार्जिलिंग आया। १९०५-६ में ताशीलामा पहले ही भारत आ चुका था और उस समय वायसराय तथा वेल्स के राजकुमार ने उसका स्वागत किया था और अब दलाई लामा भी जो १९०४ में लासा से इस लिए भाग गया था कि वह यूरोपियनों का मुँह न देख सके, ब्रिटिश भारत की राजधानी में आया और लार्ड मिन्टो से भेंट की। उसने चीन के विरुद्ध सहायता की प्रार्थना की जिसने उसको फरवरी में एक आदेश से पदच्युत कर दिया था परन्तु यह प्रार्थना व्यर्थ गई। अंग्रेज एक सन्धि के द्वारा चीन के साथ बँधे हुए थे और वे युद्ध में चीन का विरोध नहीं कर सकते थे। कुछ समय पश्चात्

एक और दलाईलामा खोज निकाला गया जिस पर चीनी रेजीडेण्टों का पूर्ण नियन्त्रण था ।

मोर्ले की तिब्बत सम्बन्धी नीति के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि उसने एक जटिल समस्या का बड़ा अच्छा निपटारा करके अंग्रेजों को विकट परिस्थिति से निकाल लिया था । विरोधियों के अनुसार इसके द्वारा लार्ड कर्जन की नीति के सब उद्देश्यों को त्याग दिया गया था । परन्तु यंग हज़बेंड की साहसिक यात्रा का एकमात्र उद्देश्य तिब्बत में रूसी प्रवेश को रोकना था और यह १९०७ के रूस के साथ किये गये समझौते से पूर्ण हो गया था । दुःख की बात तो यह है कि १९०३ में इंग्लैंड तथा रूस ऐसा समझौता न कर सके । यदि उस समय ऐसा हो जाता तो तिब्बत युद्ध में किया गया अतुल व्यय बच जाता, गुरु में सैकड़ों तिब्बतियों की बलि नहीं चढ़ाई जाती, दलाईलामा को पदच्युत न किया जाता और तिब्बत पर चीन का निरंकुश शासन स्थापित नहीं होता ।

अफगानिस्तान :—१९०७ के इंग्लैंड और रूस के समझौते में रूस ने निश्चित रूप से यह वचन दिया कि अफगानिस्तान उसके प्रभाव-क्षेत्र से सर्वथा बाहर है और वह उसके साथ सब राजनीतिक सम्बन्ध इंग्लैंड के द्वारा ही रखेगा । वह कभी कोई अपना एजेण्ट वहाँ पर नहीं भेजेगा अंग्रेज और रूसी व्यापारियों को समान अधिकार दिये गये, परन्तु यह निश्चित किया गया कि जब तक ग्रेट ब्रिटेन इसके सम्बन्ध में अमीर की अनुमति रूस के पास न भेज दे तब तक समझौते की शर्तों को कार्यान्वित नहीं किया जा सकता । यद्यपि समझौते में यह सावधानी बर्ती गई थी तो भी हबीबुल्ला ने अपने देश के सम्बन्ध में दो यूरोपियन शक्तियों के इस समझौते को अपना अपमान समझा—यह ठीक भी था—और अनुमति देने से इन्कार कर दिया ।

फारिस :—इंग्लैंड तथा इसका समझौता फारिस के सम्बन्ध में तिब्बत तथा अफगानिस्तान की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण था । इस समझौते ने इंग्लैंड तथा रूस के अवश्यम्भावी भयंकर युद्ध को टाल दिया था और उस काल की इसको यदि सब से अधिक महत्वपूर्ण कूटनीतिक विजय कहा जाय तो अतिशयोक्ति न होगी । फारिस राज्य का अंग-भंग हो रहा था । १९०५ से १९१० तक देश में अराजकता फैलती जा रही थी । देश की

अव्यवस्था का एक कारण यह भी था कि जनता में पश्चिमी नियमानुमोदित शासन की भावना जागृत होती जा रही थी और शासक निरंकुश था। ऐसी परिस्थिति में इंग्लैंड और रूस का समझौता फारिस और इन दोनों देशों के लिए निस्सन्देह लाभदायक सिद्ध हुआ। समझौते में इंग्लैंड और रूस दोनों ने फारिस की स्वतन्त्रता का सम्मान करने का वचन दिया। उत्तरी फारिस को रूस का प्रभाव क्षेत्र और दक्षिणी फारिस को इंग्लैंड का प्रभाव-क्षेत्र निश्चित किया गया। दोनों देशों ने दूसरे के प्रभाव क्षेत्र में किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप न करने का वचन दिया। इस समझौते की आलोचना भी की गई और यह कहा गया कि रूस का प्रभाव क्षेत्र इंग्लैंड के क्षेत्र से बहुत बड़ा था और वास्तव में था भी ऐसा ही, परन्तु उत्तरी फारिस में रूस पहले ही दक्षिण की ओर बहुत बढ़ चुका था। कुछ भी हो इस समझौते से एक भयंकर युद्ध की आशंका जाती रही थी।

देश की राजनीतिक बेचैनी :—जैसा कि पहले भी वर्णन किया जा चुका है कि बंग-भंग के प्रश्न को लेकर न केवल बंगाल में वरन् समस्त भारत में बेचैनी की एक लहर दौड़ गई थी। मोर्ले के शब्दों में “धीरे-धीरे समस्त भारत में राजनीतिक बेचैनी की एक लहर” कुछ मौलिक कारणों से देश भर में फैल रही थी। क्रान्तिकारी आवाजें, कुछ धोमी, कुछ उग्र और बड़ी तेज, चारों ओर से सुनाई पड़ने लगीं, अपने देश के शासन में जनता का अधिकाधिक हाथ रखने की भावना ने सुव्यवस्थित रूप धारण कर लिया था।” यह आन्दोलन भारतीय इतिहास की बड़ी महत्वपूर्ण घटना थी। पूर्वी देशों में अंग्रेजों की स्थिति पर इसका बड़ा प्रभाव पड़ा था। यहाँ इसके कारणों का संक्षिप्त इतिहास दे देना आवश्यक है।

भारतवर्ष का यह आन्दोलन एक बृहत् आन्दोलन का भाग था। शताब्दियों की दासता के पश्चात् एशिया ने करवट बदली थी और राजनीति तथा विचार के क्षेत्र में उसने यूरोप के आधिपत्य से अपने को मुक्त करने के हाथ पैर फैलाने आरम्भ कर दिये थे। जापान ने रूस की विशाल सेना को परास्त कर दिया था। लार्ड कर्जन के शब्दों में “इस विजय की प्रतिध्वनि समस्त पूर्वी देशों में बिजली की भाँति दौड़ गई थी।” जापान के छोटे से देश ने पश्चिमी युद्ध-कला के बूते पर ही रूस की विशाल शक्ति को पछाड़ दिया था। चीन, भारत और फारिस में इसका बड़ा प्रभाव पड़ा।

३३८

जिस प्रकार युद्ध-कला में पश्चिमी साधनों को अपनाकर जापान विजयी हुआ था, उसी प्रकार राजनीतिक क्षेत्र में भी पश्चिमी साधनों को इन देशों में अपनाया जा रहा था और पश्चिम को अपनी अवश्यम्भावी पराजय की सम्भावना हो चली थी।

उस समय भारत के आन्दोलन का एक कारण यह भी था कि इंग्लैंड में सुधारवादी दल की सरकार बन गई थी, जिसको भारतीय समस्या से अपेक्षाकृत अधिक सहानुभूति थी। वैसे तो भारत के लिए अंग्रेज सब एक समान थे चाहे कन्जरवेटिव हों या उदार दल के हों। भावना में कोई विशेष अन्तर नहीं था, हाँ साधनों में अन्तर अवश्य हो जाता था। दूसरे देश में इण्डियन नेशनल काँग्रेस का प्रभाव निरन्तर बढ़ता जा रहा था और हिन्दू तथा मुसलमान अब पहले की अपेक्षा एक दूसरे के अधिक सम्पर्क में आते जाते थे। दोनों ने एक होकर सामान्य पितृदेश के उद्धार के लिए प्रयत्न करना आरम्भ कर दिया था। तीसरा मुख्य कारण आन्दोलन का यह था कि भारत के राष्ट्रवादी नेता कर्जन के निरंकुश शासन से बहुत अधिक अप्रसन्न थे।

भारत के प्रगतिशील दल के दो भाग थे—एक नम्र दल तथा दूसरा उग्र दल था। ए० सी० दत्त, गोखले तथा सर सत्येन्द्र सिन्हा पहले दल से सम्बन्ध रखते थे, परन्तु दूसरा दल क्रान्तिकारियों का था जो हिंसा में विश्वास करते थे। इस दल के उग्र प्रचार के कारण देश में यत्र-तत्र झगड़े होने लगे थे। अप्रैल में लाहौर तथा रावलपिंडी में भयंकर उपद्रव हुए। अंग्रेज सरकार ने बड़ी कठोरता से इनका दमन किया। यह नियम बना दिया गया कि बिना सात दिन का नोटिस पहले दिये हुए कोई मीटिंग नहीं हो सकती और नियम भंग करने वालों को 'काले पानी' का दण्ड दिया जायगा। इसके पश्चात् जब सूरत में काँग्रेस का अधिवेशन हुआ तो उसमें उदार तथा उग्र दलों में झगड़ा हो गया। झगड़े का आधार प्रधान का निर्वाचन था। उग्र दल वाले एक ऐसे आदमी को प्रधान बनाना चाहते थे जिसको पंजाब के झगड़ों में देशनिकाले का दण्ड मिल चुका था। अधिवेशन समाप्त हो गया और इसके पश्चात् उदार दल वालों ने अपने उद्देश्यों की घोषणा की कि वे वैधानिक साधनों से भारत के लिए वही अधिकार प्राप्त करना चाहते हैं, जो ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत रहते हुए कनाडा तथा अन्य उपनिवेशों

को प्राप्त हैं। परन्तु दूसरी ओर हिंसात्मक साधनों में विश्वास रखने वालों की कार्यवाही भी जारी थी और अनेकों यूरोप निवासियों को उनकी हिंसा का शिकार होना पड़ा। इस पर भारत की अंग्रेजी सरकार ने इन हिंसात्मक कार्यों को दबाने के लिये इंग्लैंड की सरकार से उसको विशेषाधिकार देने की प्रार्थना की। दो एकट पास करके विस्फोटक पदार्थों का बनाना, प्रेस के द्वारा हिंसात्मक उत्तेजना फैलाना 'देशद्रोहिता' ठहराया गया और न्यायालयों को ऐसे काम करने वालों के अभियोगों की अधिक छान-बीन किए बिना कठोर दण्ड देने का अधिकार दिया गया।

कहने को लार्ड मार्ले तथा मिंटो भारत के लिए अति उदार पद उठाने की सात्विक इच्छा रखते थे, परन्तु उदार दल की उस अत्यन्त उदार अभिलाषा को भी, जिसका ऊपर वर्णन किया जा चुका है, पूरा करना उस समय असम्भव ठहराया गया। लार्ड मार्ले ने निश्चय किया कि उग्र दल को निःशक्त करने का एकमात्र साधन यह था कि कुछ राजनीतिक अधिकार देकर उदार दल की सहायता प्राप्त की जाय, परन्तु साथ ही साथ आन्दोलन को कुचलने के लिए भी कठोरता का बर्ताव करने का निश्चय किया गया और वैलेन्टाइन शिरोल के शब्दों में "लार्ड मिंटो के शासन के प्रथम दो विनाशकारी वर्षों में अनेकों भोले भाले मनुष्यों को शिकार होना पड़ा।" लाट सभा में अंग्रेजी शासन की पेट भर प्रशंसा करने के पश्चात् लार्ड मार्ले ने कहा, "मेरे वाइसराय तथा गवर्नर जनरल और दूसरे सलाहकारों की दृष्टि में अब समय आ गया है जब प्रतिनिधित्व के नियम को और अधिक बढ़ाया जा सकता है।" १९०६ में इण्डियन कौंसिल ऐक्ट पास किया गया। इसके द्वारा वाइसराय और प्रान्तों की कौंसिलों में सदस्यों की संख्या बढ़ा दी गई। मद्रास और बम्बई की कार्य-कारिणियों में सदस्यों की संख्या बढ़ाने तथा लेफ्टिनेन्ट गवर्नरों के प्रान्तों में कार्यकारिणी की स्थापना करने का आयोजन किया गया। व्यवस्थापिका सभाओं में निर्वाचन-पद्धति का सूत्रपात किया गया, परन्तु मनोनीत करने की प्रथा को समाप्त नहीं किया गया; किन्तु ये सब बातें यथावत् अनिवार्य नहीं थीं। इनके अन्तर्गत सेक्रेटरी को नियम बनाने का अधिकार दिया गया था और बहुत कुछ इन नियमों पर अवलम्बित था। निस्सन्देह यह एकट "सेक्रेटरी के नाम एक खाली चैक था, जिसमें नियमों की अन्तिम रूपरेखा का पूर्ण अधिकार,

जिन पर प्रत्येक बात आश्रित थी, उसी को दिया गया था।”

ऐक्ट का भारत के आन्दोलन पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। क्रान्तिकारियों की कार्यवाही निरन्तर चलती रही। फरवरी में एक बंगाली विद्यार्थी ने बंगाल के पब्लिक प्रोसीक्यूटर को गोली मार दी। जौलाई में एक पंजाबी ने लन्दन के इम्पीरियल इन्स्टीट्यूट में कर्जन बिली की यही दशा की और बम्बई के एक थियेटर में मरहटा ब्राह्मण ने जैकसन नामक एक सिविलियन की जीवन-लीला समाप्त की। जनवरी में अहमदाबाद में वाइसराय के प्राण लेने का भी प्रयत्न किया गया था, परन्तु वह सफल न हो सका। ये सब हिंसात्मक कार्यवाहियाँ इस बात का प्रतीक थीं कि भारत की आत्मा स्वतन्त्र होने के लिए छुटपटा रही थी। सरकार की कठोर एवं अमानुषिक दमन नीति ने लोगों को और भी अधिक उग्र बना दिया था। क्योंकि पुज्य बापू के शब्दों में ‘घृणा’ घृणा से और ‘हिंसा’ हिंसा से पराजित नहीं की जा सकती।

नवम्बर में इण्डियन कौंसिल ऐक्ट (१९०६) के कार्यक्रम की व्याख्या करने वाले नियम प्रकाशित किये गये। ये नियम बड़े ही पेचीदा और शब्दाडम्बर से ऐसे परिपूर्ण हैं कि उनका सरल एवं संक्षिप्त-रीति से वर्णन करना कठिन कार्य है। व्यवस्थापिका सभाओं में अनेकों जातियों, हितों तथा अल्प मतों के प्रतिनिधित्व के लिए बड़े पेचीदा नियम बनाये गये। मुसलमानों, भूमिपतियों, चाय तथा चाय व्यवसायों और भारतीय व्यापार के प्रतिनिधित्व का आयोजन किया गया था। इम्पीरियल लेजिस्लेटिव कौंसिल के सदस्यों की संख्या २१ से बढ़ाकर अधिक से अधिक ६० कर दी गई तथा अन्य लेजिस्लेटिव कौंसिलों के सदस्यों की संख्या लगभग दो गुने से कुछ अधिक कर दी गई थी। मद्रास और बम्बई की एक्जीक्यूटिव कौंसिलों में अब दो के स्थान पर चार सदस्य होने लगे। वाइसराय की कार्यकारिणी में अब एक भारतीय होने लगा। मद्रास एवं बम्बई की कार्य-कारिणी में भारतीयों की संख्या बढ़ा दी गई, और इंडिया आफिस की कौंसिल में भी अब दो भारतवासी होने लगे। परन्तु ये सब बातें राष्ट्रीय नेताओं की आशा से बहुत कम थीं। और इनमें जाति-भेद का विष बोया गया था। यदि यह कहा जाय कि पाकिस्तान का बीज १९०६ के सुधारों में बोया गया था तो इसमें अतिशयोक्ति न होगी।

मुसलमानों को पृथक् प्रतिनिधित्व देकर देश में भयंकर हिन्दू-मुसलमान समस्या को जन्म दिया गया जिसके कारण देश को क्या २ आपदाएँ न उठानी पड़ीं। भिन्न २ जातियों का पृथक् २ प्रतिनिधित्व देश की एकता तथा राष्ट्रीयता की जड़ पर करारी चोट थी। भारतीय जनता के इन उद्देश्यों को पूरा करना ऐक्ट के रचयिताओं का कभी अभिप्राय नहीं था। लाट-सभा में लार्ड माले ने कहा था, ".....यदि यह कहा जाय कि इन सुधारों के कारण किसी भी प्रकार से प्रजातन्त्र पद्धति की स्थापना होती है या मैं ऐसा करने का प्रयत्न कर रहा हूँ, तो मुझको इससे कुछ सम्बन्ध नहीं" यदि मेरा जीवन सेक्रेटरी रूप में या वैसे भी, जितना यह होना है उससे २० गुना अधिक हो जाय तो भी एक क्षण-भर के लिये मैं भारत के लिये प्रजातन्त्र पद्धति की इच्छा नहीं कर सकता।" माले मिन्टो सुधारों का राग अलापने वालों को माले के इन शब्दों का बार-बार अध्ययन करना चाहिए। मोन्टेग्यू तथा चेम्सफोर्ड ने १९१८ में अपनी रिपोर्ट में माले मिन्टो विधान की बड़ी आलोचना की थी और कहा था कि सीधा निर्वाचन न करके और बहुत कम मनुष्यों को अधिकार देकर वास्तविक प्रजातन्त्र-पद्धति के प्रभाव में सदस्यों में अनुत्तरदायित्व की भावना को जागृत कर दिया था।

छत्तीसवाँ अध्याय

राज्याभिषेक दरबार तथा मांटेग्यू चेम्सफोर्ड सुधार

लार्ड मिन्टो के पश्चात् भारत का वाइसराय लार्ड हार्डिज नियुक्त किया गया। वाइसराय पद पर नियुक्त किये जाने से पहले वह परराष्ट्र विभाग में स्थायी अगडर सेक्रेटरी रह चुका था। उसके शासन-काल में तिब्बत की राजनीतिक दशा में और भी परिवर्तन हुए और इसका कारण चीन की क्रान्ति थी। १९११ में लासा में रक्षा रहने वाली चीनी सेना ने पेरिंग से अपना वेतन तथा राशन बन्द हो जाने के कारण, लासा में ग़दर कर दिया और राज्यकोष लूट लिया। अन्त में तिब्बत निवासियों ने उनको निकाल कर बाहर किया। दलाईलामा इस अवसर से लाभ उठाकर दो वर्ष पश्चात् अपने 'बनवास' से वापिस लौट आया। उसने रेज़ीडेण्ट से एक समझौता कर लिया, जिसमें यह निश्चित हुआ कि वह लासा ही में रहता रहे और अपने व्यक्ति की रक्षा के लिए कुछ अंगरक्षक रखे तथा देश

के शासन में किसी प्रकार का हस्तक्षेप न करे। इस पर पेकिंग की एक आज्ञा के अनुसार दलाई लामा को उसके सब प्राचीन अधिकार तथा विशेषाधिकार प्रदान किये गये। १९१२ में यह अफवाह फैली कि चीन तिब्बत की पुनर्विजय के लिये तैयारी कर रहा था। इस पर ब्रिटिश सरकार ने चीन को सूचित किया कि यद्यपि वह तिब्बत पर चीन के अधिकार को स्वीकार करते हैं, परन्तु यदि चीन ने तिब्बत को अपने साम्राज्य का एक प्रांत बनाने का प्रयत्न किया; तो ग्रेट ब्रिटेन इसका विरोध करेगा। भारत सरकार के परराष्ट्र सचिव की प्रधानता में दिल्ली और शिमला में चीन और तिब्बत के प्रतिनिधियों की एक कान्फ्रेंस हुई जिसमें इस प्रस्ताव का निपटारा हो गया। तिब्बत के साथ अंग्रेजों के सम्बन्ध अच्छे स्थापित हो गये थे जिसके परिणाम-स्वरूप दलाईलामा ने १९१४ के युद्ध में अंग्रेजों को सहायता भेजी।

दक्षिणी अफ्रीका में भारतवासी :—लार्ड हार्डिज के शासनकाल में दक्षिणी अफ्रीका में रहने वाले भारतीयों से सम्बन्ध रखने वाली एक जटिल समस्या उठ खड़ी हुई। आज भी यह समस्या बड़ी भयंकर बनी हुई है। १९१३ में दक्षिणी अफ्रीका की सरकार ने एक ऐक्ट पास करके भारतवासियों के यहाँ प्रवेश करने पर प्रतिबन्ध लगा दिया था और ओरेंज फ्री स्टेट में उनको खेती करने, व्यापार करने और वास्तविक सम्पत्ति पर अधिकार करने की आज्ञा नहीं दी गई। इससे भारत में जनता में बड़ा रोष फैला और सरकार ने दक्षिणी अफ्रीका की सरकार के इस कार्य का विरोध करने के लिए आग्रह किया गया। महात्मा गाँधी के नेतृत्व में लगभग २५०० भारतवासियों ने नेटाल के ट्रान्सवाल में यह सिद्ध करने के लिये कि उनको एक प्रांत से दूसरे प्रांत में जाने का अधिकार है, प्रवेश किया। गाँधीजी का सत्याग्रह आन्दोलन प्रारम्भ हो गया था। महात्माजी तथा अन्य नेताओं को बन्दी बना लिया गया। इस पर देश में बड़ा उपद्रव उठ खड़ा हुआ। लोगों ने काम करना बन्द कर दिया। मजदूरों ने कार्य करने के लिये बाध्य करने के हेतु सैनिक शक्ति का प्रयोग किया गया, जिसके परिणाम-स्वरूप अनेकों भोले-भाले मजदूरों को अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ा। दीन भारतवासियों पर बड़े २ अत्याचार किये गये। दक्षिणी अफ्रीका की सरकार की आलोचना करते हुए मद्रास में लार्ड हार्डिज ने एक व्या

ख्यान दिया, जिसके कारण भारत में उसकी सर्वप्रियता बढ़ गई। उसने ऐक्ट की निन्दा की, भारतीयों के साथ सहानुभूति का प्रदर्शन किया और उनके साथ किये गये दुर्व्यवहार का विरोध किया। उसने कहा कि दक्षिणी अफ्रीका की सरकार को अपनी स्थिति साफ करने के लिये 'जाँच करने वाली एक समिति' नियुक्त करनी चाहिये, जिसमें भारतवासियों को भी सदस्यता प्राप्त हो। वाइसराय की स्पीच का इतना प्रभाव पड़ा कि दक्षिणी अफ्रीका की सरकार ने जाँच करने के लिये एक कमीशन नियुक्त किया, परन्तु उसमें भारतवासियों को कोई स्थान नहीं दिया गया था। नेताओं को मुक्त कर दिया गया। प्रारम्भ में तो नेता लोग कमिशन का बहिष्कार करना चाहते थे, परन्तु बाद में वे इसके सामने उपस्थित हो गये। अन्त में एक ऐक्ट पास किया जिसने भारतवासियों की सब माँगों को तो पूरा नहीं किया, परन्तु दक्षिणी अफ्रीका में यह उनकी स्वतन्त्रता का प्रथम महान् आज़ापत्र था। दक्षिणी अफ्रीका में तो भारतवासियों को प्रविष्ट होने का सीमित अधिकार मिल गया, परन्तु अन्य अंग्रेजी उपनिवेशों—कनाडा, ब्रिटिश कोलम्बिया में यह अधिकार नहीं दिया गया। इसके विरोध में 'वमागाता मारू' नामक जहाज को लेकर ३०० सिख वैनकोवर गये, परन्तु उपनिवेश में प्रविष्ट होने की उनको आज्ञा नहीं मिली और कुछ कठिनाई के पश्चात् उनको वापिस कलकत्ता आने पर बाध्य होना पड़ा जहाँ जहाज से आते समय उनका पुलिस के साथ झगड़ा हो गया।

राज्याभिषेक दरबार :—एडवर्ड सप्तम की मृत्यु के पश्चात् जार्ज पंचम मई १९१० में ग्रेट ब्रिटेन के राजसिंहासन पर बैठे। २२ जून, १९११ को वेस्टमिन्स्टर ऐबे में उसका राज्याभिषेक किया गया। अपने मन्त्रियों की सलाह से जार्ज पंचम ने यह निश्चय कर लिया था कि प्रतिवर्ष के अन्त में वह स्वयं रानी के साथ भारत जाकर राज्याभिषेक-दरबार में सरकार के बड़े-बड़े कर्मचारियों तथा संरक्षित रियासतों के राजाओं से सम्मान प्राप्त करेगा। राजा की अनुपस्थिति में चार सदस्यों की एक कौंसिल बना दी गई थी। महत्वपूर्ण बातें प्रतिदिन तार द्वारा सम्राट के पास भेज दी जाती थीं। सम्राट के साथ सेक्रेटरी ऑफ स्टेट भी पधारे थे। १२ दिसम्बर को दिल्ली में एक विराट दरबार लगा, जिसमें लगभग ८०००० आदमी उपस्थित थे। लोगों को जागीर, कर्मचारियों को १ महीने का अतिरिक्त

वेतन, जनता की शिक्षा के लिए ५० लाख रुपया प्रदान किया गया। यह घोषणा की गई कि अब से भारतवासी भी 'विक्टोरिया क्रॉस' प्राप्त करने के अधिकारी होंगे। इसके पश्चात् महत्वपूर्ण राजनीतिक परिवर्तन की घोषणा की गई जिसको अब तक गुप्त रखा गया था। कलकत्ता के स्थान पर अब दिल्ली को भारत की राजधानी बनाया गया। बंगाल के दोनों प्रान्तों को मिला कर एक गवर्नर-इन-कौंसिल के सुपुर्द किया गया। बिहार, उड़ीसा और छोटा-नागपुर के लिये एक पृथक् लेफ्टिनेंट गवर्नर की नियुक्ति की गई और आसाम एक बार फिर चीफ कमिश्नर का प्रान्त रह गया। राजधानी के परिवर्तन का एक मुख्य कारण यह बतलाया गया कि देश में ब्रिटिश सत्ता के सुट्ट हो जाने तथा देश में आवागमन के साधनों के पूर्णतया सम्पन्न हो जाने के कारण राजधानी को समुद्र-तट पर रखना आवश्यक नहीं रह गया था। अपनी केन्द्रीय स्थिति तथा ऐतिहासिक महत्व के कारण दिल्ली अन्य नगरों की अपेक्षा राजधानी बनने के लिए सब से अधिक उपयुक्त थी। बंगाल के दोनों भागों को मिलाकर एक गवर्नर के अधीन करके भारत के बंग-भंग से पैदा हुए रोष को शान्त किया गया। इन परिवर्तनों की आलोचना की गई। पालियामेंट से इनको गुप्त रखा गया था, परन्तु अब उसकी स्वीकृति के बिना इनको कार्यान्वित करना सम्भव नहीं था। सम्राट की घोषणा का उल्लंघन करना भी वांछनीय नहीं था, क्योंकि ऐसा करने से ब्रिटिश साम्राज्य के सम्मान को ठेस लगने की आशंका थी। फिर दिल्ली को नई राजधानी बनाने में एक बड़ी धनराशि की आवश्यकता थी। अर्थ-शास्त्रियों के अनुमान के अनुसार ४,०००,००० पाँड की आवश्यकता पड़ती। बंगाल के सम्बन्ध में भी इंग्लैण्ड में घोषणा की बड़ी आलोचना की गई। कहा गया कि बंगाल-विच्छेद से पैदा हुआ रोष तथा आन्दोलन अब जब दब चुका है और इस प्रकार विद्रोहियों को सन्तुष्ट करने का परिणाम उनको और अधिक उत्तेजित करना होगा। परन्तु इस प्रकार की सब आलोचनाओं के होते हुए भी इन राजकीय घोषणाओं को कार्यान्वित करना पड़ा।

१९१४ में प्रथम महायुद्ध आरम्भ हुआ जिसमें भारत ने धन-जन से अंग्रेजों की सहायता की। इस समय भारत के राष्ट्रीय जीवन के कर्णधार 'बापू' बन चुके थे और उन्होंने देश में घूम-घूम कर संकट-काल में सरकार

की सहायता करने के लिए घोर परिश्रम किया। फलस्वरूप लाखों मनुष्यों ने योग दिया और करोड़ों, अरबों की सम्पत्ति भारत ने इंग्लैंड के युद्ध में लगाई। युद्ध के कारणों, वास्तविक युद्ध और उसके सब परिणामों का विशद वर्णन करने के लिए प्रस्तुत पुस्तक में पर्याप्त एवं उपयुक्त स्थान नहीं है। युद्ध के कारण अधिक धन की आवश्यकता थी इसलिये बाहर से आने वाले सब सामान पर ७½ प्रतिशत आयात-कर लगाया गया। इसमें लंकाशायर से आने वाला सूती कपड़ा भी सम्मिलित था। परन्तु इस बार भारत के बने कपड़ों पर इतनी ही चुंगी नहीं लगाई गई। मानचेस्टर के उत्पादकों ने विरोध तो बहुत किया, परन्तु कहीं भारतीय जनता पर युद्ध-काल में बुरा प्रभाव न पड़ जाय, इसलिए उसकी अधिक पूर्वाह नहीं की गई। कुछ भी हो सरकार का यह कार्य भारतवासियों की पुरानी शिकायत को दूर करने के विचार से नहीं किया गया, हाँ शिकायत इससे दूर अवश्य हो गई थी, यद्यपि बहुत काल पश्चात् और बहुत अधिक हानि उठाने के पश्चात् लंदन की इम्पीरियल कान्फ्रेंस में दो भारतीय प्रतिनिधि, महाराजा बीकानेर तथा सर सत्येन्द्र सिन्हा को आमन्त्रित किया गया था। १९१८ में सिन्हा को लार्ड बना कर भारत के लिए अएडर सेक्रेटरी भी बना दिया गया था।

मोन्टेग्यू घोषणा :—२० अगस्त १९१७ को भारत के सेक्रेटरी ई० एस० मोन्टेग्यू ने भारत के सम्बन्ध में इंग्लैंड की भावी नीति की घोषणा की। भारत के शासन से सम्बन्ध रखने वाली ब्रिटिश नीति के भविष्य में पथ-प्रदर्शन के लिए उसने चार नियमों का प्रतिपादन किया। प्रथम, 'भारतवासियों को देश के शासन में अधिकाधिक संख्या में भाग देना था। दूसरा, "ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत भारत में उत्तरदायी शासन को जन्म देने के विचार से स्वायत्त संस्थाओं की धीरे धीरे शक्तिशाली बनाना" था। तीसरा यह था कि "इस नीति में प्रगति क्रमशः ही प्राप्त की जा सकेगी।" चौथा यह था "कि इंग्लैंड की सरकार, भारत की सरकार के साथ मिल कर, जिस पर भारतीय जनता की समृद्धि का उत्तरदायित्व है, यह निर्णय करेगी कि कौन समय वैधानिक प्रगति के दूसरे पद के लिए उपयुक्त है।

लार्ड चेम्स फोर्ड १९१६ में लार्ड हार्डिङ्ग के पश्चात् भारत का वाइसराय बनाया गया था। सेक्रेटरी आर स्टेट, चेम्स फोर्ड के साथ घोषणा

के सम्बन्ध में विचार-विनियम करने के लिए भारत आया। मोन्टेग्यू के यहाँ से वापिस जाने पर एक बहुत बड़ी रिपोर्ट प्रकाशित की गई। रिपोर्ट में व्यवस्थापिका सभाओं को उत्तरदायित्व देने पर ध्यान दिया गया था। “उनके पास करने के लिए वास्तविक कार्य हो और उनके वैसा करने पर उनको उत्तरदायी ठहराने के लिए वास्तविक आदमी ठहराने के लिए वास्तविक आदमी भी होना चाहिये।” लार्ड साउथवरो की अध्यक्षता में दो समितियाँ भारत में निर्वाचन क्षेत्रों को बनाने के लिए भेजी गईं। इसके पश्चात् दोनों समितियों की रिपोर्ट के साथ एक बिल तैयार करके पार्लियामेंट के दोनों भवनों की सम्मिलित समिति के सामने पेश किया गया। दिसम्बर १९१९ में यह एकट पास हुआ जिसके अनुसार भारत के शासन-विधान में निम्नलिखित परिवर्तन किए गये।

१९१९ का ऐक्ट :—प्रान्तों में द्वैत शासन स्थापित किया गया। कार्य कारिणी समिति दो भागों विभक्त कर दी गई थी। एकट में कौंसिल के दो से चार तक सदस्य होते थे जिनको सम्राट् मनोनीत करता था और जिनमें से आधे सामान्य रूप से भारतवासी होते थे। यह कौंसिल अन्ततोगत्वा सेक्रेटरी आव स्टेट के सामने उत्तरदायी होती थी। दूसरे भाग में मन्त्री लोग होते थे जिनको गवर्नर लेजिस्लेटिव कौंसिल के निर्वाचित सदस्यों में से चुनता था। प्रान्त के सब विषयों को दो भागों में विभक्त कर दिया गया था : रक्षित तथा हस्तान्तरित। रक्षित विषयों में महत्वपूर्ण विभाग सम्मिलित थे और हस्तान्तरित में वह विभाग आते थे जिनको वैसे तो राष्ट्र निर्माण के विभाग कहा जाता था, परन्तु जिनको बहुत कम महत्व दिया जाता था। “हस्तान्तरित विषय वे विभाग होने चाहिये जिनमें स्थानीय ज्ञान और सार्वजनिक सेवा का अधिक अवसर प्राप्त हो, जिनमें भारतवासियों ने अधिक रुचि प्रदर्शित की हो, जिनमें यदि त्रुटियाँ चाहे गम्भीर भी हों परन्तु ऐसी न हों जिनका उपचार न किया जा सके, और जिसमें प्रगति की सब से अधिक आवश्यकता हो।” हस्तान्तरित विषयों के मन्त्रियों की दशा बाह्य रूप से ब्रिटिश केबिनेट के मन्त्रियों से मिलती जुलती थी। उनकी नियुक्ति गवर्नर करता था परन्तु वे भी तभी तक मन्त्री रह सकते थे जब तक व्यवस्थापिका सभा का विश्वास उनको प्राप्त हो और जब तक वे उसके सदस्य रहें। यह कहा गया था कि धीरे धीरे रक्षित विषय हस्तान्तरित कर

दिये जायेंगे और अन्त में जाकर सब विभागों पर व्यवस्थापिका सभा के समक्ष उत्तरदायी मन्त्रियों का अधिकार हो जायगा। आरम्भ में शिक्षा स्वाध्याय आदि विषय ही हस्तान्तरित किए गये थे।

संयुक्त प्रान्त, पंजाब, बिहार, उड़ीसा १९२३ में बर्मा और १९३२ में उत्तरी पश्चिमी सीमाप्रान्त गवर्नर और कौंसिल के सुपुर्द कर दिये गये। प्रांतीय व्यवस्थापिका सभाओं में सदस्यों की संख्या बढ़ा दी गई। बंगाल में १३६, मद्रास में १२७ और बम्बई में १११ सदस्य रखे गये। यह नियम रखा गया कि निर्वाचित सदस्यों की संख्या, कुल संख्या की कम से कम ७५ प्रतिशत होनी चाहिए। परन्तु १९०६ में लगाये गये जाति-भेद के पौधे को उखाड़ फेंकने के स्थान पर और अधिक प्रोत्साहन दिया गया और मुसलमानों, पंजाब में सिक्खों, यूरोपियनों, ऐंग्लो इण्डियनों तथा इण्डियन क्रिश्चियनों के लिए पृथक् निर्वाचन का अधिकार दिया गया। लेजिस्लेटिव कौंसिलों को आवश्यक धन स्वीकृत या अस्वीकृत करने का अधिकार दिया गया, परन्तु गवर्नर को यह अधिकार दिया गया था कि वह रक्षित विषयों के लिए जितना चाहे उतने धन की माँग कर सकता था। चार वर्ष परचात कौंसिलों को अपने प्रधान स्वयं चुनने का अधिकार दिया गया था।

केन्द्र में द्वैत शासन नहीं स्थापित किया गया था और गवर्नर जनरल सीधा सेक्रेटरी आफ स्टेट तथा पार्लियामेंट के सामने उत्तरदायी होता था। उसकी कार्यकारिणी के सदस्यों की संख्या अपरिमित कर दी गई थी। यह आशा की गई थी, यह आदेश नहीं था, कि कौंसिल के आधे सदस्य ऐसे हों जिनका जन्म भारत में हुआ हो। केन्द्रीय व्यवस्थापिका को दो भवनों में विभक्त कर दिया गया था। एक कौंसिल आफ स्टेट जिसमें ६९ सदस्य थे और जिनमें से अधिकतर निर्वाचित होने चाहिए। इसके निर्वाचक बड़े-बड़े धनी, भूमिपति या पूँजीपति ही हो सकते थे। दूसरे भवन का नाम लेजिस्लेटिव असेम्बली था, इसमें कुल १४६ सदस्य थे, जिनमें १०६ निर्वाचित और ४० मनोनीत होते थे। मनोनीत सदस्यों में २५ सरकारी अफसर होते थे। कौंसिल की अवधि ५ वर्ष, असेम्बली की अवधि ३ वर्ष रखी गई। यदि दोनों भवनों में मतभेद हो जाय, तो गवर्नर जनरल को दोनों भवनों का सम्मिलित अधिवेशन बुलाने का अधिकार दिया गया था। यद्यपि असेम्बली को अर्थसम्बन्धी सब अधिकार प्राप्त थे, परन्तु

गवर्नर जनरल को अपने निर्णय के अनुसार कितने ही धन की माँग देश की 'शान्ति तथा व्यवस्था' के लिए करने का अधिकार था। यदि वह आवश्यक समझे तो किसी भी बिल को, जिसको व्यवस्थापिका सभा पास न करती हो, पास कर सकता था। उसके आर्डिनेन्स बनाने का अधिकार पृथक् रहा। प्रान्तों में गवर्नरों और केन्द्र में गवर्नर जनरल को इतने अधिक अधिकार प्राप्त थे कि उनका न्यूनाधिक निरंकुश शासन ही चलता था। वे यदि उत्तरदायी थे तो इंग्लैण्ड की सरकार के सामने, भारत की व्यवस्थापिका सभाओं के समक्ष नहीं।

१९१६ के एक्ट में यह भी लिखा गया था कि १० वर्ष पश्चात् इंग्लैण्ड की पार्लियामेंट एक कमीशन नियुक्त करेगी जो इस बात की रिपोर्ट देगा कि १९१६ के वैधानिक सुधार कहाँ तक सफल हुए हैं। उनको और बढ़ाया जाय, उतना ही रखा जाय या और कम कर दिया जाय। सम्राट की स्वीकृति प्राप्त होते ही एक घोषणा द्वारा नरेन्द्र-मण्डल की स्थापना की गई जिसका कार्य केवल विचार-विनिमय करना और सलाह देना था। सब राजबन्दियों को मुक्त कर दिया गया। डाक्टर ए० बी० कीथ के शब्दों में "असेम्बली को सरकार की आलोचना करने का सफल साधन बना दिया गया" परन्तु कार्यकारिणी व्यवस्थापिका सभा के सीधे नियन्त्रण से सर्वथा स्वतन्त्र रही।"

सैंतीसवाँ अध्याय

द्वैत शासन तथा असहयोग आन्दोलन

१९१६ के एक्ट से प्रान्तों में जैसाकि गत अध्याय में वर्णन किया जा चुका है, द्वैत शासन स्थापित किया गया था। ऐसा इसलिए किया गया था कि ब्रिटिश सरकार की दृष्टि में भारतवासी उत्तरदायी शासन के योग्य नहीं थे और उनको वैधानिक शासन की पाठशाला में एक के पश्चात् दूसरा पाठ पढ़ा कर योग्य बनाना था। श्री मोन्टेग्यू की घोषणा का यही सारांश था और इसीलिए प्रान्तों में हस्तान्तरित विषयों को जन्म दिया गया था। परन्तु इस शासनप्रणाली को इसके जन्मदाता लिमोनेल करटिस के अतिरिक्त कभी किसी ने पसन्द नहीं किया। 'इसमें परेशानी के बीज छिपे थे।' इसमें सन्देह नहीं कि इतिहास में ऐसे परिवर्तन के काल आते रहते हैं परन्तु उनका

बोध उनके अन्त होने पर होता है और ऐसे काल में किए गये वैधानिक परिवर्तन उस समय के लिए अन्तिम प्रतीत होते हैं। परन्तु १९१६-२६ के काल में एक विशेष बात थी। इसकी पहले ही से घोषणा कर दी गई थी यह परिवर्तन का काल है और इसका विधान भी स्थायी नहीं वरन् एक बीच के काल के लिए है। यह भी एक कारण था कि जनता की इसके प्रति कभी अच्छी भावना न हो सकी। दूसरा बड़ा कारण यह था कि जनता पूर्ण उत्तरदायित्वपूर्ण शासन चाहती थी और सरकार उसकी क्षमता में अविश्वास रखती थी या ऐसा बहाना करती थी। युद्धकाल में धन जन से बड़ी महत्वपूर्ण सेवा करने के पश्चात् जनता की आशा अपने देश के शासन में वास्तविक शक्ति प्राप्त करने में बड़ी प्रबल हो गई थी और उनको मिला गवर्नर, गवर्नर जनरल के आर्डिनेन्सों का राज और मिला उनको रौलट एक्ट। इसके अतिरिक्त परिस्थिति भी ऐसी थी कि उसमें १९१६ जैसा विधान जनता को प्रिय हो ही नहीं सकता था। युद्ध के पश्चात् अन्य देशों की भांति भारत के भी आर्थिक, सामाजिक तथा मनोवैज्ञानिक क्षेत्र में असन्तोष तथा बेचैनी फैली हुई थी और ऐसा समय वैधानिक प्रयोगों के लिए उपयुक्त नहीं होता।

महात्मा गांधी की महानता का एक कारण यह था कि हिंसा के युगों में उसने अहिंसा के शस्त्र से संसार की सबसे महान् शक्ति को पराजित करने का व्रत लिया था और उसमें सफलता प्राप्त की। चर्खा, असहयोग, सत्याग्रह, बहिष्कार, हड़ताल आदि साधनों से उसने सरकार की शक्ति का सामना किया। चर्खे का शब्द उसके लिये वेद मन्त्र था। उसकी मधुर ध्वनि में उसको स्वतन्त्र भारत का संगीत सुन पड़ता था। यह सत्य है कि उसकी अछूतोद्धार नीति कट्टर पन्थियों को प्रिय नहीं थी परन्तु यह स्वाभाविक बात थी। सामाजिक कुरीतियों का एक दिन में अन्त नहीं होता।

रौलट एक्ट :— १९१६ में महात्मा गांधी ने असहयोग आन्दोलन आरम्भ किया जिसके कारण दक्षिणी अफ्रीका में उनको बड़ी ख्याति तथा सफलता प्राप्त हो चुकी थी। असहयोग आन्दोलन आरम्भ करने का आधार रौलट एक्ट का पास होना था। क्रान्तिकारी प्रचार की जाँच करने के लिए रौलट की अध्यक्षता में एक समिति स्थापित की गई थी और उसकी सिफारिशों के सुधार पर रौलट एक्ट बनाया गया था, जिसके अन्तर्गत प्रेस

३२०

की स्वतन्त्रता का हनन किया गया, बिना जूरी राजनीतिक बन्दीयों के अभियोगों का निर्णय करने का न्यायाधीशों को अधिकार दिया गया, और सरकार की दृष्टि में जिन लोगों पर नियम भंग करने का सन्देह किया जाय, उनको अनिश्चित काल के लिए बन्दीगृह में डाल देने का नियम बनाया गया। एक ओर जनता को एक हाथ से आंशिक उत्तरदायित्वपूर्ण शासन दिया जा रहा था, दूसरे हाथ से उनकी मौलिक स्वतन्त्रता का हनन किया जा रहा था। युद्ध काल में भारत में भारत-रक्षा कानून था जो अब युद्ध समाप्त होने वाला था। उससे जो अधिकार सरकार को प्राप्त थे, उन अधिकारों को अच्युत बनाये रखने के लिए रौलट एक्ट पास किया गया था। अन्य देशों में ऐसे कानून युद्धकाल में ही सहन किये जाते और युद्ध के साथ ही साथ उनको भी दफना दिया जाता है परन्तु भारतवर्ष में इसके विपरीत किया गया और इसलिये महात्मा जी को लाचार होकर असहयोग आन्दोलन आरम्भ करना पड़ा।

जलियानवाला बाग :—जनता ने सरकार की नीति का विरोध किया। मार्च, अप्रैल १९१६ में पंजाब, गुजरात तथा दिल्ली में उपद्रव हुए। सरकार ने अमानुषिक दमन नीति से काम लिया। पंजाब के हत्याकांड की बातों को याद कर कर के रोमांच हो जाता है। अमृतसर में दो चार यूरोपियनों की हत्या अवश्य हो गई थी परन्तु इस पर सरकार ने प्रतिशोध की भावना का जो परिचय दिया और नृशंसता का ताण्डव नृत्य खेला उसकी उपमा स्पेनी अत्याचार के नीदरलैंड्स के इतिहास में मिल जाय तो मिल जाय। अमृतसर में १३ अप्रैल को जलियानवाला बाग में एक मीटिंग हो रही थी जिसमें सदस्यों की संख्या में आबाल बृद्ध, नर-नारी एकत्रित थे। जहाँ पर सभा हो रही थी वह स्थान चारों ओर से घिरा हुआ था, केवल एक द्वार था, जिस पर हत्यारे डायर ने खड़े होकर निःशस्त्र जनता पर अग्नि-वर्षा कराई। भागने का कोई रास्ता नहीं था, युद्ध करने के कोई साधन नहीं थे, इसलिए सैकड़ों वहीं धराशायी हो गये और हजारों घायल हुए। इस घटना ने समस्त देश को चुन्ध कर दिया था। स्वयं एसक्विथ ने पार्लियामेंट के समक्ष भाषण देते हुए कहा था कि जलियानवाला बाग का नर संहार “हमारे इतिहास के निकृष्टतम अत्याचारों में से एक है।” अंग्रेज इतिहासकारों ने भी जनरल डायर की तीन भयंकर भूलों को स्वीकार किया

है :—प्रथम, सैनिकों को गोली चलाने का आदेश देने के पहले उसने सभा की जनता को तितर-बितर होने का आदेश नहीं दिया। दूसरे, वह इतनी अधिक देर तक गोलियाँ चलवाता रहा, और तीसरे, आठ दिन पश्चात् नीचतापूर्ण 'रेंग कर चलने का आदेश' दिया, जिसके अनुसार भारतवासियों को सड़क-विशेष पर चलते समय रेंग कर चलने की कठोर आज्ञा दी गई थी। इस कुकृत्य के लिए दण्ड देने के स्थान पर डायर को पद की उन्नति दी गई। लगभग २० वर्ष पश्चात् उधमसिंह ने इंग्लैंड ही में इस नृशंस का अपनी पिस्तौल से काम तमाम किया।

नये चुनाव:—ऐसे क्षुब्ध दातावरण में अक्टूबर १९२० में नये एक्ट के अनुसार निर्वाचन किया गया गया। कांग्रेस पार्टी ने निर्वाचन का बहिष्कार किया। केवल ३३ प्रतिशत निर्वाचकों ने मतदान किया। प्रान्तों में मन्त्रिमण्डल बनाये गये परन्तु मद्रास को छोड़कर जहाँ एक दल का बहुमत था अन्य प्रान्तों में अनेकों राजनीतिक दलों में से मन्त्रिमण्डल बनाने पड़े। १ फरवरी १९२१ को कानोट के ज्यूज ने नई केन्द्रिय व्यवस्थापिका सभा का उद्घाटन किया और सम्राट् की यह सूचना पढ़कर सुनाई, "वर्षों से.....देशभक्त-तथा राजभक्त भारतवासी अपनी प्रिय मातृभूमि के लिए स्वराज्य का स्वप्न देख रहे थे। आज मेरे साम्राज्य के अन्तर्गत तुम स्वराज्य को प्रारम्भ कर रहे हो और मेरे अन्य उपनिवेशों की भांति स्वाधीनता की उन्नति एवं समृद्धि के लिए विस्तृत क्षेत्र तथा पर्याप्त से भी अधिक अवसर (तुमको प्राप्त होंगे)।"

द्वैत शासन की असफलता के कारण :—१९२३ में श्री पंडित मोतीलाल नेहरू—पंडित जवाहरलाल नेहरू के पिता—की अध्यक्षता में कांग्रेस की स्वराज्य पार्टी के चुनाव लड़ने का निर्णय किया। निर्वाचन में पार्टी की विजय हुई। अब तक जो कुछ भी द्वैत-शासन के सफल होने की आशा थी, वह सब समाप्त हो गई। द्वैत-शासन की असफलता के अन्य अनेकों कारणों में से कुछ महत्वपूर्ण कारण इस प्रकार थे। (१) सर वेसिल ब्लेकेट ऐक्ट ने नमक-कर दोगुना कर दिया था जिसको वाइसराय रीडिंग ने अपने विशेष अधिकार से पास किया। (२) भारतवासी शीघ्रता से सेना के भारतीयकरण के पक्षपाती थे, परन्तु उनकी आशा फलवती होती प्रतीत नहीं होती थी। (३) भारत को राष्ट्रसंघ तथा इम्पीरियल कॉन्फरेन्स में

३५२-

स्थान तो दिया गया, परन्तु उसके प्रतिनिधियों का इतना मान नहीं किया जाता था जितना कि अन्य उपनिवेशों के प्रतिनिधियों का और जब उन्होंने दूसरी डोमीनियनों में भारतवासियों पर किये जाने वाले अत्याचारों को समाप्त करने की माँग की तो कोई ध्यान नहीं दिया गया। (४) १९२१ में जब प्रिंस आर वेल्स भारत आया तो बम्बई में उसका बहिष्कार किया गया। इस पर उपद्रव हो गया और १९२२ में चोरीचोरा की घटना के पश्चात् महात्माजी को बन्दीगृह में डाल दिया। इस घटना से दुखी होकर महात्माजी ने सत्याग्रह आन्दोलन स्थगित कर दिया था। (५) बंगाल तथा मध्यप्रान्त में उग्रदल के द्वैत शासन को अन्त करने पर शासन की बागडोर गवर्नरों ने अपने हाथ में ले ली और पूर्ववत् निरंकुश शासन प्रारम्भ हो गया। (६) १९२३ में भारतीय सर्विस पर ला कमीशन नियुक्त किया गया, इसकी सिफारिशों का स्वागत नहीं किया गया, क्योंकि वे भारतीय आशा से बहुत दूर थीं। (७) १९२५ में मुडीमेन कमेटी ने १९१९ के शासन के सम्बन्ध में अपनी रिपोर्ट प्रकाशित की, जिसमें महत्वपूर्ण अल्पमत ने यह सम्मति दी कि द्वैत शासन सर्वथा दोषपूर्ण तथा अव्यवहारिक है।

अड़तीसवाँ अध्याय

(क) साइमन कमीशन तथा गोलमेज़ कांफ्रेंस

१९२६ में लार्ड इरविन भारत का वाइसराय बन कर आया। निस्सन्देह वह बड़ा योग्य, विद्वान् तथा धार्मिक वृत्ति का मनुष्य था और उसको भारत की समस्या से किसी अंश तक सहानुभूति थी परन्तु एक तो कन्जरवेटिव दल का सदस्य और दूसरे साम्राज्यवादी मशीन का एक बड़ा पुर्जा होने के कारण वह अधिक कुछ कर नहीं सकता था और न कर सका। परन्तु फिर भी कभी २ उसके कन्जरवेटिव दल के सहयोगी उसकी तथा कथित अति उदार नीति का विरोध करते रहते थे।

साइमन कमीशन :—१९१९ के ऐक्ट में यह रखा गया था कि १० वर्ष के पश्चात् ऐक्ट कमीशन नियुक्त किया जायगा, जो यह देखेगा कि ऐक्ट के अन्तर्गत भारत ने कितनी प्रगति की है। क्या उसको और अधिक अधिकार दिये जा सकते हैं या प्रदत्त अधिकारों को भी कम करने की आवश्यकता है। यह निर्णय करने का अधिकार ब्रिटिश केबिनेट तथा

भारत की अंग्रेजी सरकार को ही था। उत्तरदायित्वपूर्ण शासन की एक और स्टेज प्रदान करने के लिए यह आवश्यक ठहराया गया था कि १९१६ के ऐक्ट के साथ भारतवासी सहयोग दें और जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, भारत की एकमात्र राजनीतिक पार्टी इण्डियन नेशनल कांग्रेस ने इन अधूरे सुधारों का आरम्भ से ही बहिष्कार किया था। इस प्रकार यह आवश्यक शर्त पूरी नहीं होती थी।

दस वर्ष की अवधि के २ वर्ष पूर्व नवम्बर १९२७ में सर जान साइमन की अध्यक्षता में एक कमीशन नियुक्त किया गया। इसके सात सदस्य थे और वे सब गोरी चमड़ी वाले अंग्रेज ही थे। इसलिए इसका 'ह्वाइट' (श्वेत) कमीशन नामपड़ा। कमीशन में भारतवासियों को सदस्यता नहीं दी गई थी। इसलिए कांग्रेस के दोनों उदार तथा उग्र दलों ने क्रमशः सर तेजबहादुर सप्रू तथा प्रंडित मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता में इसका विरोध किया। देश भर में इसका विरोध किया गया। जब ३ फरवरी १९२८ को कमीशन बम्बई पहुँचा तो इसका बहिष्कार किया गया। नगर में हड़ताल की गई, और काले झंडों के साथ प्रदर्शन किया गया तथा 'गो बैक साइमन' (साइमन वापिस जाओ) के नारे लगाये गये।

बाद में यह घोषणा की गई कि केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा के सात सदस्यों का सहयोग लिया जायगा और उनको अपनी पृथक् रिपोर्ट, कमीशन की रिपोर्ट के साथ पेश की जायगी। परन्तु केन्द्रीय सभा ने अन्त तक कमीशन का विरोध किया और कोई सहयोग नहीं दिया। प्रान्तीय सभाओं कतिपय अल्पमतों, तथा दलित वर्गों को सरकार ने अपनी "मतभेद करो और शासन करो" की नीति से अपनी ओर मिला लिया था। डाक्टर ए० बी० कीथके शब्दों में 'यह एक ऐसी भूल थी, जिसको टाला जा सकता था।' इस बात का निर्णय करने का अधिकार कि क्या भारतवर्ष स्वायत्त शासन के लिए आगे बढ़ने के लिए योग्य था, किसी तीसरे निष्पक्ष दल को होना चाहिए था। कमीशन के विरोध स्वरूप देशभर में हड़तालों की गईं, अनेकों मिल और कारखानों के मजदूरों ने काम करना बन्द कर दिया। बंगाल और पंजाब में भयंकर उपद्रव हुए। इन उपद्रवों और हड़तालों का दमन करने के लिए अंग्रेजी सरकार ने सुरक्षा ऐक्ट और व्यवसायिक झगड़ों का ऐक्ट पास किया।

३५४

कमीशन अपना काम करता रहा। देश में चारों ओर हड़ताल तथा बायकाट हो रहा था। स्थिति और भयंकर थी। उधर इंग्लैंड में रैम्जे मैकडोनल्ड की अध्यक्षता में मजदूरों की सरकार स्थापित हो चुकी थी। लार्ड इरविन सरकार से सलाह करने इंग्लैंड दौड़ गया और वहाँ से शीघ्र आकर घोषणा की कि सरकार की नीति भारतवर्ष में औपनिवेशिक स्वराज्य स्थापित करने की है तथा साइमन कमीशन की रिपोर्ट के प्रकाशित होते ही लन्दन में एक गोलमेज सभा का आयोजन किया जायगा, जिसमें अंग्रेज तथा भारतीय राजनीतिज्ञ साथ-साथ बैठ कर भारत के भावी विधान पर विचार-विनिमय करेंगे। सरकार ने इसकी घोषणा तो कर दी थी परन्तु इसका पालन करना उसका उद्देश्य नहीं था। इससे पहले सरकार ने भारतीय जनता को अपना सर्वसम्मत विधान तैयार करने का चैलेंज दिया था जिसको स्वीकार कर पंडित मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता में एक विधान तैयार किया गया जिसमें भारत को एक औपनिवेशिक दर्जे की मांग थी, परन्तु उसमें यह साफ लिखा था कि यदि सरकार इसको स्वीकृत नहीं करती है तो कांग्रेस अपने अगले अधिवेशन में अपना ध्येय पूर्ण स्वराज्य रखेगी। ऐसा ही हुआ, सरकार ने सर्वसम्मत विधान को अस्वीकृत कर दिया था और परिणामस्वरूप १९२६ में लाहौर अधिवेशन में कांग्रेस ने अपना लक्ष्य पूर्ण स्वराज्य घोषित कर दिया और २६ जनवरी १९३० को देश भर में स्वतन्त्रता दिवस मनाया गया। तब से प्रतिवर्ष २६ जनवरी स्वतन्त्रता दिवस मनाया जाता है। मई १९३० में साइमन कमीशन की रिपोर्ट प्रकाशित हुई। जैसा प्रकट था कांग्रेस ने इसकी कड़ी आलोचना को इंग्लैंड की सरकार ने भी इसको पूर्णतः स्वीकार नहीं किया। कुछ बातें रिपोर्ट की, बाद में चलकर, सरकार ने अवश्य स्वीकृत कर ली थीं।

महात्माजी की डण्डी-यात्रा :—इंग्लैंड में उधर साइमन कमीशन की रिपोर्ट प्रकाशित हो रही थी और उधर भारत में सरकार का दमनचक्र जारी था। इसी समय अप्रैल १९३० में महात्मा गांधी ने नमक कानून को भंग करने के लिए अपना डण्डी प्रस्थान किया और अनेक देशभक्तों को साथ लेकर पैदल मार्ग में गाँवों और नगरों के निवासियों में स्वतन्त्रता का मन्त्र फूँकते हुए समुद्र-तट पर पहुँच कर कानून को भंग किया। देशभर में नमक बनाने का आन्दोलन आरम्भ हुआ। इस पर सरकार ने अपने दमन-

चक्र को और तेज किया। विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार किया गया, मादक वस्तुओं की दूकानों पर धरना दिया गया और कृषकों को लगान न देने की सलाह दी गई। परिणामस्वरूप देश भर में सरकार की दानवी वृत्तियों का नग्न नृत्य होने लगा। इस आन्दोलन में महिलाओं ने भी बड़ा भारी कार्य किया था। उत्तरी पश्चिमी सीमाप्रान्त में 'सीमान्त गान्धी' अब्दुलगफ्फारखों के नेतृत्व में बर्बर पठान जाति ने 'बापू' के महामन्त्र 'अहिंसा को' अपना कर, अपूर्व आत्मबल का परिचय दिया।

गोलमेज कान्फ्रेंस :—गोलमेज कान्फ्रेंस के प्रथम अधिवेशन की सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात यह थी कि देशी राज्यों के प्रतिनिधियों ने यह घोषणा की कि यदि केन्द्र में उत्तरदायित्वपूर्ण शासन स्थापित किया जाता है तो हम (देशी राज्य) भारत संघात्मक शासन में पूर्णतया सम्मिलित होने के लिए तैयार हैं। इंग्लैण्ड की सरकार इस घोषणा को सुनने के लिए भी तैयार नहीं थी, फिर स्वीकार करने की कौन कहे? भारत के राष्ट्रवादी एवं देशीय नरेश केन्द्र के अनुत्तरदायित्वपूर्ण शासन के सर्वथा विरुद्ध थे। अंग्रेजी सरकार की परिस्थिति कुछ विकट-सी थी। १६ जनवरी को इंग्लैण्ड के प्रधानमन्त्री ने घोषणा की कि यदि केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा की रचना संघात्मक आधार पर हो तो ब्रिटिश सरकार केन्द्र में उत्तरदायित्वपूर्ण शासन स्थापित करने को तैयार है।

महात्मा जी के भारत वापिस लौटने से पहले ही विलिंगडन ने, जो अप्रैल में वाइसराय बन कर आगया था, दमन आरम्भ कर दिया था, संयुक्त प्रान्त के किसानों में भारी संकट पैदा हो गया था और देश के बड़े २ नेता पण्डित जवाहरलाल नेहरू आदि सब बन्दी-गृह में डाल दिये गये। भारत आने पर महात्मा जी ने वाइसराय से मुलाकात करना चाहा, परन्तु वाइसराय ने इन्कार कर दिया। फिर सत्याग्रह आन्दोलन आरम्भ हुआ परन्तु दमन और अमानुषिकता के अवतार विलिंगडन ने बड़ी कठोरता से कार्य किया, कांग्रेस गैरकानूनी करार दे दी गई। लाठी चार्ज, भारी २ जुमाने, कठोर और लम्बी २ सजाएँ, जायदादों का अपहरण आदि नाना प्रकार से भीषण दमन किया गया। महात्मा जी को भी बन्दी बना लिया गया था।

साम्प्रदायिक निर्णय :—दूसरी गोलमेज सभा में भारत के राज-

नीतिज्ञों ने इंग्लैंड के प्रधान मंत्री रैम्जे मैकडॉनेल्ड से भारत की साम्प्रदायिक समस्या के सम्बन्ध में अपना व्यक्तिगत निर्णय देने की प्रार्थना की थी क्योंकि वे स्वयं इस विषय में निश्चय पर नहीं पहुँच सके थे। परन्तु मैकडॉनेल्ड ने अपने ही राजनीतिक दलों के सहमत होने पर १७ अगस्त १९३२ को अपना 'कम्प्यूनल अवार्ड' — साम्प्रदायिक निर्णय दिया। इस निर्णय में मुसलमानों, सिक्खों, ऐंग्लो इण्डियनों और भारतीय ईसाइयों के पृथक् प्रतिनिधित्व का प्रबन्ध किया था परन्तु साथ ही साथ दलित जातियों को हिंदुओं से पृथक् निर्वाचन का भी अधिकार दे दिया गया था। महात्मा जी ने पहले ही गोलमेज़ कांग्रेस में कह दिया था कि यदि दलितों को हिंदुओं से पृथक् करने का विचार किया गया तो मैं अपने प्राणों की बलि देकर भी इसका विरोध करूँगा। जब महात्मा जी ने रैम्जे मैकडॉनेल्ड के साम्प्रदायिक निर्णय का समाचार सुना तो उस समय वह बन्दीगृह में थे। अपने पूर्व निश्चय के अनुसार उन्होंने २० सितम्बर १९३२ को इस व्यवस्था को बदलने के लिये आमरणव्रत आरम्भ कर दिया। फिर क्या था, देश भर में सनसनी फैल गई।

पूना पैकट :—बम्बई और पूना में महामना मालवीय जी के नेतृत्व में समस्त हिंदू-वर्गों के नेताओं का सम्मेलन हुआ जिसमें दलित जातियों के नेताओं ने धारा-सभा में एक निश्चित अनुपात में अपने लिये स्थान सुरक्षित रखे जाने की शर्त को स्वीकृत किये जाने पर पृथक् निर्वाचन की बात त्याग दी। इतिहास में यह समझौता पूना पैकट कहलाता है। इसकी सूचना इंग्लैंड के प्रधान मंत्री को भी दे दी गई, जिसको उसने स्वीकार कर लिया। २५ सितम्बर को महात्मा जी ने उपवास तोड़ दिया। इस समय मुसलमान भी महात्मा जी से मिलकर समझौता करने के पक्ष में थे, परन्तु सरकार को यह प्रिय नहीं था और इसलिये इसमें सफलता प्राप्त न हो सकी।

श्वेतपत्र तथा १९३५ का विधान :—गोलमेज़ कांग्रेस के तीसरे अधिवेशन (१७ नवम्बर से २४ दिसम्बर १९३२ तक) के समाप्त होने पर ब्रिटिश सरकार ने इन गोलमेज़ सभाओं के परिणाम-स्वरूप भारत के शासन विधान में परिवर्तन करने का निश्चय किया। इन परिवर्तनों का इंग्लैंड के उदार दल ने तो समर्थन किया परन्तु चर्चिल तथा कम्पनी के अनुदार दल ने इनका यह कहकर विरोध किया कि भारतवर्ष की जनता प्रजातन्त्र

शासन के सर्वथा अयोग्य है। इस समय परिवर्तन करना कांग्रेस के समक्ष पराजय स्वीकार करना होगा, तथा जिन विभागों का प्रबन्ध भारत-वासियों को १९१६ के एक्ट के अन्तर्गत दिया गया था, उनमें वे सर्वथा असफल सिद्ध हुए हैं और जब पुलिस आदि के विभाग भी उनको दे दिये जायेंगे तो देश में अराजकता छा जायेगी। ब्रिटिश सरकार के ये प्रस्ताव एक श्वेत-पत्र के रूप में प्रकाशित किये गये, जिनका भारत के प्रत्येक राजनीतिक दल ने विरोध किया। श्वेत-पत्र को ब्रिटिश पार्लियामेंट की एक सम्मिलित कमेटी के सुपुर्द किया गया। कमेटी ने इसको स्वीकृत कर लिया। २० सितम्बर १९३५ को भारत का नया तथा संघात्मक शासन पास हो गया। यों तो भारत के संघ-शासन में संसार के अन्य इस प्रकार विधानों की अपेक्षा अनेकों विचित्र बातें थीं परन्तु सबसे विचित्र बात यह थी कि सब ही संघ शासन विधानों में प्रथम भवन का निर्वाचन सीधा होता है और दूसरे का सीधा नहीं होता परन्तु भारत के संघ में इसका सर्वथा विपरीत रक्खा गया था।

(ख) १९३५ का संघ शासन

१९३५ का विधान इतना बृहत् तथा पेचीदा है कि उसके विस्तृत वर्णन के लिए एक पृथक् पुस्तक की आवश्यकता है। इसलिए प्रस्तुत पुस्तक में उसका अति संक्षिप्त वर्णन ही किया जा सकता है। स्वतन्त्र राज्यों के एक साथ मिलने और अपने २ कुछ अधिकारों को केन्द्रीय शासन को अर्पण करने से जिस प्रकार संघ शासन की स्थापना की जाती है, वैसा भारत में नहीं हुआ। यहाँ पर प्रान्तों के लिए संघ में सम्मिलित होना आवश्यक था और देशीय राज्यों के लिए संघ में सम्मिलित होना उनकी इच्छा पर निर्भर था। प्रान्तों को शासन विधान में तथा कथित स्वायत्त शासन प्रदान किया गया था। और देशीय राज्य केन्द्रीय शासन को केवल वही अधिकार देते जिनको वे अपने 'इन्स्ट्रुमेंट ऑफ एक्सेशन' 'सम्मेलन पत्र' में स्वीकार कर लेते। इस प्रकार भारत का संघ अपनी रचना ही में अन्य संघ शासनों से सर्वथा विचित्र था।

जिस समय भारत के इतने देशीय राज्य जिनको भारत की केन्द्रीय धारा सभा के दूसरे भवन में ५२ प्रतिनिधि भेजने का अधिकार हो तथा जिनकी जन-संख्या ३६४६०६५ से कम न हो, संघ में सम्मिलित होने के

लिए तैयार हो जायं, उस समय ब्रिटिश पार्लियामेंट के दोनों भवन ब्रिटेन के सम्राट् से प्रार्थना करते कि भारत में संघ शासन की स्थापना की जाय और उस समय संघ-स्थापना की तिथि की घोषणा की जाती। केन्द्रीय प्रान्तीय तथा देशीय राज्यों के क्षेत्रों का निर्णय करने के लिए एक संघीय न्यायालय की स्थापना होती परन्तु शासन-विधान में संशोधन या परिवर्तन करने का अधिकार ब्रिटेन की पार्लियामेंट को ही था। भारत के उन राज्यों पर जो संघ में सम्मिलित नहीं होते तथा उनके उन अधिकारों पर जिनको वे संघ के केन्द्रीय शासन को नहीं देते। गवर्नर जनरल को अपनी इस हैसियत में नियन्त्रण रखने का अधिकार नहीं था, वरन् देशीय राज्यों के सम्बन्ध में सम्राट् के प्रतिनिधि के रूप में, अर्थात् वाइसराय के रूप में वह ऐसा कर सकता था। वह कार्य भी गवर्नर जनरल ही करता परन्तु यह आवश्यक नहीं था; परन्तु ऐसा करते समय वह सम्राट् का प्रतिनिधि था, भारतीय शासन का अधिपति नहीं।

संघीय कार्यकारिणी :—कार्यकारिणी का अधिपति गवर्नर जनरल था। वह सम्राट् के प्रतिनिधि के रूप में भारतीय राज्यों से सम्बन्ध तो रखता ही था, इसके अतिरिक्त उसके दो और प्रमुख कार्य-क्षेत्र थे। प्रथम ऐसे कार्यों में जैसे देश की सुरक्षा तथा परगट्ट नीति में वह किसी की सलाह या सम्मति स्वीकार करने के लिए बाध्य नहीं था। यद्यपि उसकी सहायता के लिये तीन सलाहकार थे। दूसरे क्षेत्र में उसको उन मन्त्रियों की सम्मति मान्य थी जो केन्द्रीय धारा सभा के सामने उत्तरदायी थे। परन्तु यहाँ पर भी उसको अपने व्यक्तिगत निर्णय के अनुसार कार्य करने का अधिकार था।

संघीय धारा सभा :—संघीय धारा सभा के दो भवन थे, कौंसिल ऑफ स्टेट और एसेम्बली, कौंसिल ऑफ स्टेट में कुल २६० सदस्य थे जिनमें १२६ ब्रिटिश भारत या प्रान्तों के और १०४ देशी राज्यों के १२६ में १२० का सीधा निर्वाचन होता था, परन्तु निर्वाचक लोग बहुत अधिक धनाढ्य वा शिक्षित ही हो सकते थे और ६ सदस्यों को गवर्नर जनरल को अल्पमतों स्त्रियों तथा दलित जातियों का प्रतिनिधित्व करने के लिए मनोनीत करने का अधिकार था, राज्यों के प्रतिनिधियों को राजा लोग मनोनीत करते थे। इस प्रकार प्रान्तों के प्रजा द्वारा निर्वाचित सदस्यों की प्रगतिशील भावनाओं का सन्तुलन करने के लिए राज्यों के राजाओं द्वारा मनोनीत अनुदार सदस्यों

को उनकी संख्या के अनुपात से भी अधिक स्थान दिये गये थे। असेम्बली में कुल ३७५ सदस्य थे, जिनमें २५० ब्रिटिश भारत के और १२५ राज्यों के ब्रिटिश इण्डिया के सदस्यों के निर्वाचन का अधिकार सीधा जनता को नहीं दिया गया था। वरन प्रान्तीय असेम्बलियों, व्यापार-संघों भूमिपतियों के समुदायों, तथा श्रम-जीवियों के संघों आदि को यह अधिकार प्राप्त था। राज्यों के प्रतिनिधि इस भवन में भी राजाओं द्वारा मनोनीत किये जाते थे।

प्रान्तीय कार्यकारिणी :—जिस प्रकार के अधिकार केन्द्र में गवर्नर जनरल को प्राप्त थे, लगभग वैसे ही अधिकार प्रान्तों में गवर्नरों को भी दिये गये थे। प्रान्तों में स्वायत्त-शासन की स्थापना कर द्वैत शासन का अन्त किया गया था। साधारणतया गवर्नर लोग अपने मन्त्रि-मण्डल की सलाह से काम करते थे, जो अन्तिम धारासभा के सामने उत्तरदायी होता था, परन्तु गवर्नरों को विशेष अधिकार प्राप्त थे और प्रान्त की शान्ति तथा व्यवस्था सुस्थिर रखने के लिए ये भी समस्त प्रान्तीय शासन को अपने हाथ में ले सकते थे। ऐसी परिस्थिति में उनकी तानाशाही चलती थी।

धारासभायें:—छः प्रान्तों में दो भवनों वाली धारासभायें स्थापित की गईं और पाँच में एक एक भवन वाली केन्द्रीय धारा सभा की भाँति प्रथम भवन की अवधि ५ वर्ष रखी गई थी और दूसरा भवन चिर-स्थायी था, जिसके $\frac{2}{3}$ सदस्य प्रत्येक तीसरे वर्ष पृथक् होते थे। सभाओं में भिन्न २ जातियों के प्रतिनिधियों की संख्या ४ अगस्त १९३२ के 'कम्यूनल अवार्ड'—साम्प्रदायिक निर्णय—और २५ सितम्बर १९३२ के पूना पैक्ट के अनुसार निश्चित की गई थी।

१९३६ का निर्वाचन :—१९३५ के ऐक्ट के दो भाग थे। केन्द्र में संघ-शासन की स्थापना तथा प्रान्तों में स्वायत्त शासन। काँग्रेस ने यद्यपि इस ऐक्ट की आलोचना की थी परन्तु फिर भी अपनी शक्ति का प्रदर्शन करने और शासन-विधान को २१ करने के लिए काँग्रेस ने नवम्बर १९३६ में प्रान्तीय धारासभाओं के निर्वाचन में भाग लिया और ११ प्रान्तों में से ६ प्रान्तों में काँग्रेस को भारी बहुमत प्राप्त हुआ।

उनतालीसवाँ अध्याय

(क) प्रथम महायुद्ध के पश्चात् वैदेशिक सम्बन्ध

१९१७ के पश्चात् कुछ समय तक पश्चिमी तथा मध्य एशिया में रूस का श्वेत भालू यूरोपियन शक्तियों को बड़ा भयंकर प्रतीत हो रहा था। १९०७ में ग्रेट ब्रिटेन के साथ रूस का जो समझौता हो गया था, जिसका पहले वर्णन किया जा चुका है, उसके द्वारा दोनों देशों की प्रमुख समस्याओं का निर्णय हो गया था और प्रथम महायुद्ध काल (१९१४-१८) में रूस ग्रेट ब्रिटेन का मित्र था। परन्तु बोलशेविक क्रान्ति के पश्चात् ज़ार सत्ता के नष्ट हो जाने पर रूस में कुछ काल के लिए अराजकता सी छा गई थी। सोवियट शक्ति के सुस्थापित हो जाने के पश्चात् उसने प्राचीन रूसी साम्राज्य के सीमान्त प्रदेशों को ही पुनर्विजय करने का प्रयत्न नहीं किया वरन् खीवा और दुखारा पर विजय प्राप्त करने का यत्न किया। ये दोनों प्रान्त स्वतन्त्र हो चुके थे। इन दोनों खान राज्यों के पश्चात् रूस और भारत की अंग्रेजी सरकार के बीच फारिस तथा अफगानिस्तान दो ही देश रह गये थे और बोलशेविक प्रचार भारत की उत्तरी पश्चिमी सीमा पर अंग्रेजी सरकार का सिरदर्द बना रहा।

(ख) द्वितीय महायुद्ध के पश्चात्

जब सरकार ने दूसरा विश्व-व्यापी युद्ध आरम्भ होने पर भारतवर्ष को भी युद्ध में शामिल कर दिया, तो कांग्रेस मन्त्री-मण्डलों ने त्याग-पत्र दे दिया था। कांग्रेस ब्रिटिश सरकार से युद्ध के उद्देश्य पूछना चाहती थी और उसका कहना था कि यदि युद्ध का उद्देश्य प्रजातन्त्र की रक्षा करना है तो क्या भारत को भी यह शासन-प्रणाली प्रधान की जायेगी। परन्तु सरकार ने कोई निश्चित उत्तर नहीं दिया और अपना उद्देश्य शीघ्र से शीघ्र भारत में औपनिवेशिक स्वराज्य स्थापित करना बतलाया। कांग्रेस एक वर्ष तक सरकार के साथ समझौते का प्रयत्न करती रही परन्तु सब निष्फल रहा भाषण की स्वतन्त्रता के प्रश्न पर महात्मा जी ने व्यक्तिगत सत्याग्रह आरम्भ किया और सहस्रों मनुष्य हँसते २ जेलखानों में चले गये। भारत-

वासियों का युद्ध में अधिक से अधिक सहयोग प्राप्त करने तथा अन्य देशों की आंखों में धूल झोंकने के विचार से वाइसराय ने अपनी कौंसिल में ५ भारत-वासी और बढ़ा लिए। १९४१ में जापान ने भी अंग्रेजों के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। युद्ध को अति निकट आता और स्थिति को विकट होता देखकर ब्रिटिश सरकार ने अपने लार्ड प्रिंसीपल सर स्टेफोर्ड क्रिप्स को भारतीय नेताओं से समझौते की बातचीत करने के लिये भेजा। उसने कहा कि युद्ध समाप्त होने पर भारतवासी एक विधान परिषद के द्वारा अपना विधान बना सकेंगे, परन्तु उसी समय सरकार कोई अधिकार नहीं देना चाहती थी। परिणाम-स्वरूप कोई समझौता न हो सका और क्रिप्स महाशय को वापस जाना पड़ा। कांग्रेस, बिना पूर्ण स्वतन्त्रता को एक निश्चित अवधि में प्राप्त किये, सहायता करने को तैयार नहीं थी।

‘भारत छोड़ो’ प्रस्ताव :—इन्हीं दिनों प्रशान्त महासमर में जापान ने अंग्रेजों को खूब छकाया। अंग्रेज लोग पूर्वी प्रदेशों में भारतवासियों को उनके भाग्य पर छोड़ कर चले आये। दीन भारतवासियों को नाना प्रकार की यातनाएं सहनी पड़ीं। सहस्रों की संख्या में पैदल ही भारत की ओर चल पड़े क्योंकि यातायात के साधनों पर अंग्रेजों का अधिकार था। उनमें से अधिकतर थकान, भूख, रोग और शत्रुओं के आक्रमण के कारण मार्ग ही में सदा के लिए सो रहे। महात्माजी को इससे बड़ी वेदना हुई और उन्होंने ८ अगस्त १९४२ को बम्बई के कांग्रेस अधिवेशन में ‘क्रिट-इंडिया’—भारत छोड़ो—प्रस्ताव पास कराया। इस प्रस्ताव को पास कराने का आशय यह था कि यदि अंग्रेज जापानी आक्रमण के समय भारत-वासियों को उनके भाग्य पर छोड़ कर भाग निकले तो देश को महान् संकट का सामना करना पड़ेगा, इसलिए पहले ही उनसे देश छोड़ कर चले जाने की प्रार्थना की गई थी। परन्तु जबतक महात्माजी वाइसराय से मिलकर समझौते के सब सम्भव प्रयत्न समाप्त न कर लें तब तक कोई आन्दोलन आरम्भ होने को नहीं था। परन्तु सरकार तो दमन का पहले ही पूर्ण निश्चय कर चुकी थी और ९ अगस्त को बहुत सबेरे ही कांग्रेस वर्किंग कमेटी के सब सदस्यों तथा अन्य सहस्रों राष्ट्रीय नेताओं को बन्दीगृह में बन्द कर दिया गया। नेतृत्वहीन जनता ने क्रोध होकर आन्दोलन आरम्भ कर दिया। सरकार ने बड़ी कठोरता का व्यवहार किया। परिणामस्वरूप

आन्दोलन उग्र हो उठा। सरकार यह चाहती ही थी। उसको अपनी पैशाचिक वृत्तियों का परिचय देने का अवसर मिला। गाँव के गाँव जला डाले गये, लोगों पर लाठी-चार्ज हुआ। कहीं-कहीं उनको उल्टा पेड़ से लटकया गया। महिलाओं का सतीत्व अपहरण किया गया। मनुष्यों पर अवर्णनीय अमानुषिक अत्याचार ढाये गये और प्रेस का मुख बन्द कर दिया गया जिससे इन कुकृत्यों का समाचार कहीं पहुँच न जाय। इस भयंकर दमन तथा अमानुषिक व्यवहार के कारण आन्दोलन दब गया और इस आन्दोलन का उत्तरदायित्व कांग्रेस के मध्ये मढ़ा गया। जब इस भयंकर दमन का समाचार महात्माजी के पास बन्दीगृह में पहुँचा, तो उन्होंने वाइसराय लार्ड लिनलिथगो को लिखा कि इसका उत्तरदायित्व सरकार पर है और उसको यह अन्याय बन्द कर देना चाहिए। यदि सरकार ऐसा नहीं करती है तो वे १० फरवरी १९४३ से २१ दिन का उपवास आरम्भ कर देंगे। लिनलिथगो की सरकार के कानों पर जूँ तक न रेंगी। महात्माजी ने अपनी घोषणा के अनुसार व्रत आरम्भ कर दिया। देशभर में सनसनी फैल गई। चारों ओर से तार खटकने लगे, परन्तु ब्रिटिश सरकार ने लेशमात्र भी पर्वान्व नहीं की। ७३ वर्ष के वृद्ध महात्मा ने २१ दिन का व्रत सकुशल समाप्त किया।

वैवल योजना :— अगस्त १९४४ में लार्ड लिनलिथगो के स्थान पर लार्ड वैवल गवर्नर जनरल नियुक्त होकर आये। वह क्रिप्स-वार्ता के समय कमाण्डर-इन-चीफ था। मार्च १९४५ में वह भारत के राजनीतिक गतिरोध के अन्त करने के प्रश्न पर परामर्श करने इंग्लैंड गये और लौटकर १४ जून को अपनी योजना की रेडियो पर घोषणा की। उनके प्रस्ताव की मुख्य २ बातें इस प्रकार थीं—“कार्यकारिणी में देश के मुख्य सम्प्रदायों के प्रतिनिधियों के साथ २ सर्वार्थ हिन्दुओं और मुसलमानों का समान प्रतिनिधित्व रहेगा। इस नई कार्यकारिणी में वाइसराय और कमाण्डर इन-चीफ को छोड़ कर सभी सदस्य भारतीय होंगे। वैदेशिक विभाग जो अभी तक वाइसराय के हाथ में था, भारतीय सदस्य के हाथ में होगा, परन्तु केवल उसी हद तक जहाँ तक ब्रिटिश भारत के हितों का सम्बन्ध हो। जिस प्रकार ब्रिटिश हितों की रक्षा के लिए डोमिनियनों में ब्रिटिश हाई कमिश्नर नियुक्त किये जाते हैं, वैसे ही भारतवर्ष में एक हाई कमिश्नर

नियुक्त किया जायेगा। यह कार्य-कारिणी वर्तमान विधान की सीमाओं के भीतर ही काम करेगी और गवर्नर जनरल की वैधानिक शक्तियों के प्रयोग न करने का कोई प्रश्न नहीं उठेगा, हाँ उनका कोई अनुचित प्रयोग नहीं होगा। इस योजना का अन्तिम वैधानिक समझौते पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। इस नई कार्यकारिणी के मुख्य काम निम्नलिखित होंगे—“(१) जापान के विरुद्ध युद्ध का पूरी शक्ति से संचालन करना, (२) नये शासन विधान के बनने और काम में आने तक ब्रिटिश भारत का शासन संचालन करना और उसके साथ ही युद्धोपरान्त की जाने वाली उन्नति की अनेकों समस्याओं पर विचार करना और कार्य करना, (३) भावी सर्वसम्मत शासन विधान बनाने में साधनों पर विचार करना।” वाइसराय ने यह भी बतलाया कि प्रान्तों के गवर्नर भी राजनैतिक नेताओं की सम्मति से गवर्नर जनरल द्वारा पसन्द किये जायेंगे, यद्यपि उनको नियुक्ति सम्राट की स्वीकृति से ही होगी। १५ जून १९४५ को कांग्रेस वर्किंग कमेटी के सदस्यों को मुक्त कर दिया गया। कांग्रेस के सम्मेलन में भाग लेने का निश्चय किया और शिमला में २१ नेताओं का सम्मेलन हुआ जिसमें सब दल तथा वर्गों के प्रतिनिधि थे। महात्मा जी भी सम्मिलित थे। कांग्रेस मुस्लिम लीग को सन्तुष्ट करने के लिये १४ सदस्यों की कार्यकारिणी में केवल ५ हिन्दुओं को रखने पर तैयार थी परन्तु मुस्लिम लीग से समझौता न हो सका, क्योंकि जिन्ना का कहना था कि मुसलमान सदस्य मुस्लिम लीग को ओर से ही आ सकते हैं। सब टांय-टांय फिस रहा। समालोचकों ने कदाचित् ठीक ही कहा कि यह शिमला नाटक विदेशियों को दिखाने के लिये ही किया गया था।

केबिनेट मिशन योजना :—केबिनेट मिशन ने मुस्लिम लीग को पाकिस्तान की माँग को देश के आर्थिक, राजनैतिक तथा शासन-सम्बन्धी दृष्टिकोणों से घातक ठहराया और देश की एकता बनाये रखने पर जोर दिया। परन्तु जिन्ना अपना हठ छोड़ देते तो उसे जिन्ना कौन कहता। स्वयं निर्णय के आधार पर, जिस पर पाकिस्तान की माँग की जा रही थी, पंजाब, बंगाल मुस्लिम बहुमत प्रांतों के भीतर सिक्ख-स्थान तथा हिन्दुस्तान बनते। देश की रक्षा, सेना, नौसेना, रेल, तार, डाक आदि अनेक समस्याएँ ऐसी थीं, जिनका विभाजन देश के हितों के लिये घातक था, परन्तु मुस्लिम

३६४

लीग टस से मस न हुई। पाकिस्तान की माँग को हृदय से स्वीकार न करते हुए केबिनेट मिशन ने अन्तरिम सरकार बनाने का निर्णय किया और निम्नलिखित योजना बनाई :

(१) ब्रिटिश भारत और देशी राज्यों को मिलाकर भारत की एक यूनियन बनाई जाय। देश की सुरक्षा, वैदेशिक सम्बन्ध तथा यातायात-विभागों पर उसका अधिकार रहेगा और आवश्यक धन प्राप्त करने का भी अधिकार होगा।

(२) यूनियन के लिये एक कार्यकारिणी और एक धारा-सभा बनाई जाय जिसमें ब्रिटिश भारत और देशीय राज्यों के प्रतिनिधि हों। धारासभा में बड़े साम्प्रदायिक प्रश्न के निर्णय के लिये यह आवश्यक होगा कि दोनों सम्प्रदायों के उपस्थित और वोट देने वाले सदस्यों का पृथक् २ बहुमत प्राप्त हो और साथ ही सम्पूर्ण सभा के उपस्थित तथा वोट देने वाले सदस्यों का बहुमत भी प्राप्त हो।

(३) यूनियन के विषयों को छोड़कर अन्य सब विषय और समस्त अवशिष्ट अधिकार प्रांतों के पास रहेंगे।

(४) प्रांतों की स्वतन्त्रता होगी कि आपस में मिलकर अपना संघ बना लें और उसके लिये एक धारासभा और कार्यकारिणी का निर्माण कर लें। प्रत्येक संघ को यह निर्णय करने का अधिकार होगा कि कौन २ से प्रांतीय विषय समान व्यवस्था के लिये उसके पास रहेंगे।

(५) यूनियन और इस प्रकार के संघों के शासन-विधान में ऐसी व्यवस्था होनी चाहिये जिसके अनुसार कोई भी प्रांत अपनी धारासभा में बहुमत से निर्णय करके शासन-विधान के बनने के प्रथम १० वर्ष पश्चात् और फिर प्रत्येक वर्ष पश्चात् शासन-विधान की धाराओं के पुनर्विचार की माँग कर सके।

(६) विधान-परिषद के निर्माण के लिये मिशन ने निम्नलिखित नियम रक्खे :

क—प्रत्येक प्रांत की धारासभा अपनी जनसंख्या के प्रति १० लाख के लिए एक सदस्य चुने।

ख—ये सदस्य प्रत्येक प्रांत में मुख्य सम्प्रदायों (जनरल, मुस्लिम और सिख) के बीच उनकी जनसंख्या के अनुपात में विभक्त किये जाय

और धारासभा में प्रत्येक सम्प्रदाय के सदस्य अपने प्रतिनिधियों को पृथक् २ एक परिवर्तनीय वोट वाली आनुपातिक निर्वाचन-प्रणाली के अनुसार चुनें।

ग—चीफ कमिशनरों के प्रांतों के लिये भी आनुपातिक संख्या में प्रतिनिधि चुने जायं।

घ—देशीय राज्यों के कुल प्रतिनिधियों की संख्या १३ निश्चित की गई। इनके निर्वाचन का ढंग पारस्परिक विचार-विनिमय द्वारा निश्चित किया जाने को था। रियासतों के सम्बन्ध में परामर्श करने के लिये एक विचार-विनिमय कमेटी बनाई जाय और गई। कमेटी प्रारम्भ में राज्यों का प्रतिनिधित्व करेगी।

१ दिसम्बर १९४६ को बड़े उत्साह के साथ विधान परिषद का उद्घाटन हुआ, परन्तु लीग ने भाग नहीं लिया। पंडित नेहरू ने वैवल को लिखा कि या तो लीग विधान परिषद में भाग ले या फिर अन्तरिम सरकार से भी पृथक् हो जाय। वैवल ने यह पत्र लियाकत अजोखों को दे दिया जिसके उत्तर में उसने कहा कि १६ मई को योजना को स्वीकार न करके जिस प्रकार कांग्रेस को अन्तरिम सरकार में रहने का अधिकार है, उसी प्रकार लीग का भी है। ये दोनों पत्र वैवल ने ब्रिटिश केबिनेट के पास भेज दिये। इन पर तो कोई निर्णय नहीं किया गया परन्तु प्रधान मन्त्री एटली ने २० फरवरी को एक महत्वपूर्ण घोषणा यह की कि “सम्राट् की सरकार यह बात स्पष्ट कर देना चाहती है कि उसका जून १९४८ तक उत्तरदायी भारतीय हाथों में सत्ता सौंपने के लिए आवश्यक कार्यवाही करने का निश्चित इरादा है। इसके साथ यह भी कहा गया कि यदि जब तक विधान न बन सका तो ब्रिटिश सरकार सोचेगी कि केन्द्रीय सत्ता किसी केन्द्रीय सरकार या कुछ विभागों में वर्तमान प्रान्तीय सरकारों या अन्य और किसी प्रकार सत्ता हस्तान्तरित की जाय। साथ ही साथ लार्ड वैवल के स्थान पर लार्ड माउण्टबेटन के वाइसराय बनाये जाने को भी घोषणा की गई। ब्रिटिश केबिनेट का विचार था कि इस घोषणा के अभाव के वास्तविक स्थिति को समझ कर शीघ्र कोई समझौता हो जायगा परन्तु लीग कोई समझौता करने को तैयार नहीं थी। अब उसने अधिक से अधिक प्रान्तों के शासन पर अधिकार करने का प्रयत्न किया। पंजाब में लीग का पञ्चपाती गवर्नर था उसने इस धन का यूनियनिस्ट मन्त्रिमण्डल से त्यागपत्र दे दिलवा दिया।

परन्तु लीग अन्य मत होने के कारण फिर भी अपना मन्त्रिमण्डल न बना सकी और गवर्नर अपने विशेषाधिकारों से स्वयं शासन करने लगा ।

लार्ड माउण्ट बैटन ने भारत आकर २२ मार्च को अपने पद का भार संभाला । जब उसने देखा कि मिशन-योजना को लीग स्वीकार नहीं करेगी तो देश के बँटवारे का प्रश्न सामने आया और ३ जून को नये तथा अन्तिम वाइसराय ने यह ऐतिहासिक घोषणा की कि देश को दो भागों—भारतवर्ष तथा पाकिस्तान में विभक्त किया जायगा । दोनों की पृथक् २ विधान परिषद होगी । बंगाल और पंजाब के दो भाग किये जायेंगे । उत्तरी-पश्चिमी सीमा प्रान्त में इस विषय पर जनमत लिया जायगा कि जनता वर्तमान विधान सभा में भाग लेना चाहती है या नई बनने वाली सभा में । आसाम के सिलहर जिले में भी इस बात पर जनमत लिया जायगा कि वहाँ के निवासी आसाम में रहना चाहेंगे या बंगाल में सम्मिलित होंगे । इस घोषणा में यह भी बतलाया गया कि ब्रिटिश सरकार जून १९४८ से पहले ही सत्ता हस्तान्तरित करने को तैयार है ।

४ अगस्त १९४७ को भारत की स्वतन्त्रता का बिल ब्रिटिश पार्लियामेंट में पेश किया गया जो शीघ्र ही पास हो गया । इसमें १५ अगस्त को भारत और पाकिस्तान दो डोमिनियनों का जन्म करने की व्यवस्था की गई अन्य डोमिनियनों की भाँति इनमें भी पृथक् २ सम्राट् के प्रतिनिधि गवर्नर जनरल की व्यवस्था की गई । दोनों की व्यवस्थापिका सभाओं पर से सब नियन्त्रण हटा कर उनको सब प्रकार के साधारण एवं वैधानिक कानून बनाने का अधिकार दे दिया गया । अब किसी बिल को सम्राट् की इच्छा जाननेके लिए स्थगित करने या किसी अवधि तक रोकने की आवश्यकता नहीं रही । सम्राट् की ओर से गवर्नर जनरल को व्यवस्थापिका सभा द्वारा बनाये हुए कानूनों पर स्वीकृति देने का अधिकार मिल गया । रियासतें स्वतन्त्र हो गईं । उनके साथ सम्राट् का सब सम्बन्ध टूट गया और उनके साथ जितनी सन्धियाँ या इकरारनामे थे सब रद्द हो गये । १५ अगस्त १९४७ को यह एकट्ठा लागू हो गया भारत और पाकिस्तान दो स्वतन्त्र डोमिनियन घोषित कर दिये गये । लगभग दो सौ वर्षों की दास्ता के पश्चात् देश की स्वतन्त्रता मिली परन्तु लीग की हठधर्मी और घृणित प्रचार के कारण देश की अखण्डता का मूल्य चुका कर ।

हैदराबाद में मुसलमानों की एक संस्था इत्तिहादुल मुसलमीन ने अपनी शक्ति को इतना बढ़ा लिया था कि अन्त में नवाब पर भी उसका अधिकार हो गया। ये लोग वहाँ से हिन्दुओं को निकाल बाहर करना चाहते थे और इसलिए उनके साथ नाना प्रकार के अत्याचार किये जाने लगे। यहाँ भी लीगी डङ्ग का प्रचार किया गया। कासिम रिज़वी रज़ाकारों के नेता ने आसफजाही पताका लालकिले पर फहराने की धमकी दी और चुपके चुपके युद्ध की पूरी तैयारी कर ली गई। जब समझाने से किसी प्रकार काम न चला तो भारत सरकार ने १३ सितम्बर १९४८ को अपनी सेना पुलिस कार्यवाही के लिये रियासत में प्रविष्ट की। रज़ाकारों और हैदराबाद की सेना ने ४ दिन तक सामना किया परन्तु १७ सितम्बर को नवाब ने आत्म-समर्पण कर दिया। पाकिस्तान ने हैदराबाद की समस्या को लेकर राष्ट्र-संघ में बड़ी हायवैला मचाई। हैदराबाद की स्थिति पर अधिकार करने और वहाँ का प्रबन्ध ठीक करने के लिए फौजी गवर्नर का शासन स्थापित कर दिया गया।

काश्मीर की समस्या हैदराबाद से पहले गंभीर हो चुकी थी। महाराज काश्मीर का अभी यह निर्णय नहीं हो पाया था कि उसका राज्य भारत में या पाकिस्तान में सम्मिलित हो कि पश्चिमी पाकिस्तान ने कबाइलियों को भड़का कर काश्मीर पर आक्रमण करा दिया जिसमें चोरी २ पाकिस्तानी सेना ने भी सहायता की। काश्मीर सेवा से कुछ मुसलमान सिपाही भी आक्रान्ताओं से आ मिले। सम्पूर्ण राज्य में हाहाकार मच गया। इस स्थिति में महाराज काश्मीर ने नेशनल कान्फ्रेंस के नेता शेख अब्दुल्ला को अपना प्रधान मन्त्री बनाकर शासन का भार उसके सुपुर्द कर दिया। जिसने २७ अक्टूबर १९४७ को महाराज से भारत सरकार से काश्मीर को सम्मिलित करने और रक्षार्थ सेना भेजने के लिए प्रार्थना कराई। भारत सरकार ने प्रार्थना स्वीकार कर, तुरन्त सेना भेजी। भारत सरकार ने करोड़ों रुपया व्यय करके काश्मीर की निरपराध जनता की रक्षा की और बहुत भागों से आक्रान्ताओं को निकाल बाहर किया। परन्तु क्योंकि पाकिस्तानी सेना भी आक्रमणकारियों की सहायता कर रही थी, और उनको तब तक पराजित नहीं किया जा सकता था जब तक पाकिस्तान के भीतर उनके अड्डों पर सफल आक्रमण न किये जाते, और इसका अर्थ पाकिस्तान के साथ खुलम-खुल्ला युद्ध करना

था, जिसको भारत सरकार करना नहीं चाहती थी। इसलिए ३० दिसम्बर १९४७ को काश्मीर प्रश्न भारत सरकार ने यू. एन. ओ. की सुरक्षा कौंसिल के समक्ष रक्खा। इस प्रश्न पर व्यर्थ ही एक वर्ष तक वाद-विवाद होता रहा। परन्तु १ जनवरी १९४८ को अस्थायी शान्ति स्थापित होकर युद्ध बन्द हो गया। अभी तक (नवम्बर १९४९) प्रश्न यू. एन. ओ. के सामने है और समस्या का निर्णय नहीं हो सका है। भारत सरकार काश्मीर की जनता का जनमत लेने को तैयार है, परन्तु काश्मीर से सब शत्रु-सेना का निकल जाना और रियासत से बाहर गये हुए आदिमियों का वापिस आकर बस जाना नितान्त आवश्यक है। इसके लिए पाकिस्तान तैयार नहीं है, और वह अस्थायी संधि की शर्तों को भी भंग करता आ रहा है। इंग्लैंड का एक दल विशेष काश्मीर के विभाजन के पक्ष में है। परन्तु भारत सरकार इसको स्वीकृति करने के पक्ष में नहीं है। काश्मीर की जनता भारत में सम्मिलित होना चाहती है।

९ दिसम्बर १९४६ से भारत की विधान परिषद भारत के लिए नया शासन विधान बनाने का कार्य कर रही है। भारत एक सार्वभौम स्वतन्त्र प्रजातन्त्र होगा। देश में संघीय शासन की व्यवस्था की जायगी। राज्य का अध्यक्ष एक प्रेजिडेंट होगा और उसकी सहायता के लिए एक वाइस प्रेजिडेंट भी होगा। मन्त्रिमण्डल धारा-सभा के सामने उत्तरदायी होगा। शासन-विधान के निर्माण का कार्य लगभग समाप्त हो चुका है और २६ जनवरी १९५० से लागू हो जायगा।

भारत को सत्ता हस्तान्तरित करते समय ब्रिटिश सरकार ने रियासतों को स्वतन्त्र घोषित करके अपनी धूर्ततापूर्ण कूटनीति का अन्तिम परिचय दिया था; परन्तु भारत सरकार ने सरदार पटेल उप-प्रधानमन्त्री के अथक परिश्रम एवं श्रेयस्कर कार्य ने रियासत समस्या को अच्छी तरह सुलझा दिया। उड़ीसा, मध्यप्रान्त, बिहार, मद्रास, बम्बई तथा पूर्वी पंजाब और युक्तप्रान्त की छोटी-छोटी रियासतें इन्हीं प्रान्तों में विलीन कर दी गई हैं। पूर्वी पंजाब की २१ पहाड़ी रियासतों को हिमाचल प्रदेश संघ में सम्मिलित करके केन्द्रीय शासन ने अपने हाथ में ले लिया है और इसी प्रकार कच्छ का शासन भी केन्द्रीय सरकार के हाथ में है। काठियावाड़ की रियासतों को मध्यभारत, बुन्देलखण्ड की रियासतों को मध्यसंघ में सम्मिलित कर दिया।

गया है। जोधपुर, जैपुर, बीकानेर और जैसलमेर के अतिरिक्त राजपूताने की सब रियासतें राजस्थान संघ में मिला दी गई थीं। अब ये राज्य भी मिला कर यहाँ राजस्थान की स्थापना की गई है। भूपाल राज्य को भी १ जून १९४६ को सरकार ने अपने हाथ में ले लिया था। इस प्रकार सैकड़ों छोटी-बड़ी स्वतन्त्र रियासतों को, जिनसे देश की व्यवस्था में गड़बड़ होने का भय था, बड़ी योग्यता तथा सुन्दरता से भारत यूनियन में सम्मिलित कर लिया गया है। यह कार्य अत्यन्त महत्वपूर्ण है और नेहरू-पटेल सरकार को इसका श्रेय प्राप्त है।

भारत को ब्रिटिश कामनवेल्थ का सदस्य बनाये रखने के लिये इंग्लैंड बड़ा उत्सुक था और इसके लिये अक्टूबर १९४८ तथा अप्रैल १९४९ में दो बार लन्दन में कामनवेल्थ के प्रधान मन्त्रियों का सम्मेलन हुआ। भारत ने कामनवेल्थ में रहना स्वीकार कर लिया है, परन्तु इसका नाम ब्रिटिश कामनवेल्थ के स्थान पर 'कामनवेल्थ ऑफ नेशन्स' हो गया है। इंग्लैंड की दासता का अन्तिम चिन्ह प्रिवी कौंसिल में भारत के हाईकोर्टों की अपील का जाना भी १० अक्टूबर १९४९ से समाप्त कर दिया गया है। अब भारत पूर्णतया स्वतन्त्र है। संसार के सभी प्रमुख देश उसकी मित्रता प्राप्त करने के लिये हाथ बढ़ा रहे हैं। प्रधान मन्त्री पंडित जवाहरलाल नेहरू ने, जो परराष्ट्र-विभाग के अध्यक्ष भी हैं, भारत की वैदेशिक नीति की घोषणा अनेकों बार स्पष्ट शब्दों में इस प्रकार की है कि "भारत आधुनिक किसी गुट में सम्मिलित नहीं होगा। 'बापू' द्वारा प्रशस्त सत्य, अहिंसा तथा नैतिकता के पथ पर चलकर वह सबके साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करना चाहता है।"

इति

